परमपूज्य-व्याख्यानवाचस्पति-आचार्यदेवेश-
श्रीमद्विजय-यतीन्द्रसूरीश्वरेण संदृब्धम्

चरित्रसप्तकम्

संपादक : मुनि श्री जयानन्दविजयादि मुनि मण्डलः

।। श्री-गोडी-पार्श्वनाथाय नमः ।।

।। प्रभु-श्रीमद्विजय-श्रीराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।

परमपूज्य-व्याख्यानवाचस्पति-आचार्यदेवेश
श्रीमद्विजय-यतीन्द्रसूरीश्वरेण संदृब्धम्

चरित्रसप्तकम्

.. दिव्याशिष ..

श्रीविद्याचन्द्रसूरीश्वराः • श्रीरामचन्द्रविजयाः

.. संपादक ..

मुनिराजश्री-जयानन्द-विजयादिमुनि-मण्डलः

.. प्रकाशिका ..

गुरुश्री रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, (राज.)

.. मुख्य संरक्षक ..

(१) श्री संभवनाथ राजेन्द्र सूरि ट्रस्ट, विजयवाडा A.P.

(२) मुनिराज श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में
वि. २०६५ में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार, मेंगलवा

(३) एक सद्गृहस्थ, भीनमाल

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.

(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरू ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा मोंघीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अट्ठाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी वीजुबेन चीमनलाल डायालाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो वोरा परिवार, थराद-मुंबई.

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं.,तिरुचिरापली.

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में गुडामें चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश,

केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट नेल्लूर-५२४००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान् 'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२

(१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्टूर A.P.

(१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)

(१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.

(१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी

(१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

(१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो.नं.-१०८, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी

आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा.लि.-५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

(२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेष, दीक्षिल, प्रीष कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मेंगलवा, फर्म : **Fybros Kundan Group**, ३५ पेरुमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-१. **Mengalwa, Chennai, Delhi, Mumbai.**

(२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.

(२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.

(३०) एक सद्गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी

की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट) मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली.

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, ह्रितिक, आहोर। कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना-२.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार-आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.

(४०) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.

(४१) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दाँसपा, मुंबई.

(४२) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स - २०, सम्बीयार स्ट्रीट, चेन्नई-६०००७९.

(४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.) - फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१

(४५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.

(४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.

(४७) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं.१-२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई-४.

(४८) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतीभाई.

(४९) शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहील, पक्षाल बेटा पोता-परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.) जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापली-५३१ ००१.

(५०) बंदा मुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेश, मितेश, बेटा पोता मेघराजजी फुसाजी ४३, आइदाप्पा नायकन स्ट्रीट, साहुकार पेट, धाणसा हाल चेन्नई-७९.

(५१) श्रीमती बदामीदेवी दीपचंदजी गेनाजी मांडवला चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते. हस्ते परिवार.

(५२) श्री आहोर से आबू-देलवाडा तीर्थ का छरि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र

महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव, बेटा पोता सुगालचंदजी लालचंदजी लूंकड परिवार आहोर. मैसुर पेपर सप्लायर्स, ५, श्रीनाथ बिल्डींग, सुल्तान पेट सर्कल, बेग्लोर-५३.

(५३) एक सद्गृहस्थ बाकरा (राज.)

सह संरक्षक

(१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(२) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.

(३) श्रीमती फेन्सीबेन सुखराजजी चमनाजी कबदी धाणसा, गोल्डन कलेक्शन, नं-५ चांदी गली, ३रा भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२.

(४) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज्, सुन्दर फर्नीचर, ७९४ सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)

(५) सुबोधभाई उत्तमलाल महेता धानेरा निवासी, कलकत्ता.

(६) पू. पिताजी ओटमलजी मातुश्री अतीयाबाई प. पवनीदेवी के आत्मश्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु) अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, दोशी चौपड़ा परिवार आहोर, राजेन्द्र स्टील हाउस, ब्राडी पेठ, गुन्टुर (A.P.)

(७) पू. पिताजी शा प्रेमचंदजी छोगाजी की पुण्यस्मृति में मातुश्री पुष्पादेवी. सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा रेवतडा, (राज.) चेन्नई. श्री राजेन्द्र टॉवर नं.१३, समुद्र मुद्दाली स्ट्रीट, चेन्नई.

प्रस्तावना

साहित्ये कथानां स्वविशिष्टस्थानमस्ति। आबालगोपालमन-आह्लादिका अमू: कथाः। कथामाध्यमेनाऽपि केषाञ्चिज्जीवनानि परिवर्तितानि। कथा मनोरञ्जनेन सह प्रेरणादायिन्योऽपि भवन्ति। महापुरुषाणां जीवन-चरित्राणि पठित्वात्मनि वीर्यबलोत्साहस्य संचारो भवति।

पूज्यपाद-श्रीमद्-विजय-यतीन्द्रसूरीश्वरेण विरिचिताः कथाः सन्मार्ग-प्रकाशिकाः। एताः सप्तकथा रोचकसुबोधात्मानन्ददायिकाः। पूज्यपादेन साधुजनेभ्य इमा लिखित्वा महानुपकारः कृतः। भाषा-शैली सरसा सौष्ठवी च।

पूर्वप्रकाशितस्यास्य ग्रन्थस्य पुनरुद्धारस्यावश्यकतासीत्। गुरुदेवस्य संपूर्ण-संस्कृत-साहित्य-संग्रहस्यैकत्र प्रकाशनभावनाया अयं प्रयासः। संस्कृताध्ययनशीलवर्गोऽनेन लाभान्वितो भवत्विति हार्दिका भावना।

मुद्रणालयदोषेण प्रमत्तभावेन मतिमान्द्य वा यत्काचित् त्रुटिः स्यात् क्षम्या सा विज्ञजनैः

शुभं भवतु सर्वेषाम्

भिन्नमालनगरे
बाफनावाडी
चैत्रशुक्ल पूर्णिमा

मुनिजयानन्दविजयः

द्रव्य सहायक

श्री भूपेन्द्रसूरीश्वरजी जैन साहित्य संचालक समिति

आहोर

संचालक

श्री गौडी पार्श्वनाथ जैन पेढ़ी

आहोर (जालोर)

(राज.) - ३०७ ०२९.

जगत्पूज्यगुरुदेवगुणगर्भिताष्टके –

गुरोः पादपद्मद्वये सम्प्रलग्नं,
मिलिन्दायमानं मदीयं मनः स्यात् ।
विशुद्धाऽऽत्मनः श्रीलराजेन्द्रसूरे-
र्विचित्रं पवित्रं चरित्रं तनोमि ॥१॥

प्रशान्तस्वरूपं सदा ध्यानमग्नं,
जगज्जीवजीवातुभूताऽऽगमाऽऽढ्यम् ।
तपःकर्मनिष्ठं मनोज्ञप्रतिष्ठं,
गुरुं पूज्यराजेन्द्रसूरिं नमामि ॥२॥

चिरोलापुरस्थाञ् चिराद् जातिबाह्यान्,
स्वकीयप्रभावाञ्जनानुद्दधार ।
जिनेशप्रतिष्ठां पुराऽऽहोरपुर्यां,
महासङ्घसम्भारतोऽचीकरद् यः ॥३॥

तथा त्रिस्तुतिं हारिभद्रीययुक्त्या,
समक्षं बुधानां स्फुटं व्याकरोद् यः ।
जिनाऽऽज्ञाविहीनं मतं लुम्पकानां,
निरास्थज्जिनाऽऽदर्शसंस्थापनेन ॥४॥

भवस्थान् जनान् दुःषमारप्रसूतानमन्दा-
ज्ञताध्वान्तनष्टाञ्जिरीक्ष्य ।
निधानं समस्ताऽऽगमानामकार्षीत्,
तदुद्धारहेतुं च राजेन्द्रकोशम् ॥५॥

भवाब्धिं व्यथौर्वाग्निना सम्परीतं,
विना संयमं न क्षमो निस्तरीतुम् ।
सकर्णा जना देशनां मे शृणुध्वं,
द्रुतं यूयमित्थं निदेशप्रशस्तम् ॥६॥

सदा श्रावकाणां यथाऽऽलोचनाभि-
र्मुनीनां तथा सारणावारणाभिः ।
द्रुतं दूरमापादयन् दोषमार्गान्,
स्वमाचार्ययोग्यं व्यनक्ति स्म लोके ॥७॥
समस्ताऽऽगमानां गृहीत्वा तु सारं,
जनानां मुदं देशनाभिर्दिशन् यः ।
निजोत्कृष्टचारित्रसम्पालनार्थं,
मरौ मालवे गुर्जरे च व्यहार्षीत् ॥८॥
मुनिश्रीयतीन्द्रेण श्रीमच्चरित्रं,
भुजङ्गप्रयातेन वृत्तेन बद्धम् ।
पठेत्कोऽपि भक्त्या *पवित्रान्तराऽऽत्मा*,
सुखं तस्य सर्वं भवेद् भावशुद्धेः ॥९॥

हरिगीतछन्दसि

चारित्र्यचारु-विचित्रचित्र-चरित्रचित्रितचेतसः,
मतिमत्तमत्त-सुत्यक्तमत्सर-दूरभूत-भवैनसः ।
लालित्यलक्षण-लक्षितारिवल-लोककीर्त्त्य-सुकीर्त्तयः,
निजकर्मनाश-सुधीरवीर-सुध्यानवन्दितमूर्त्तयः ॥१॥

यद्दुष्कलङ्ककलङ्कशङ्काशङ्कितार्द्धकुलिङ्गिनः,
तत्कीर्त्तिभित्तिविभीतिभीरुजनास्सुजातास्सङ्गिनः ।
करुणारुणारुणितेन्द्रियप्रथितप्रकीर्त्तिसुसज्जनः,
वैराग्यधीरसुवीरवन्दनसङ्गदीकृतमज्जनः ॥२॥
जगतीतले जनिमाप्य जन्मवतां बतार्त्तिसुदायकं,

दीनातिदीनसुशर्महीनसुदुःखलीनसुदायकम् ।
जनरञ्जनं भवभञ्जनं शुभकर्म चासीद्यस्य हि,
कुमतिं ह्रियात्सुमतिं श्रियादेनांसि हन्यादस्य हि ॥३॥

यद्दीप्रद्युत्यतिद्योतिता ≍ कुजना ≍ प्रजाताः पेचकाः,
यद्धर्मकर्म विलोक्य तेऽभूवन् द्विषो मुखमेचकाः ।
जैनातिजैनविपक्षिणो जगृहुर्यदीयं सन्मतं,
आचारचारुविचारवान् कुर्यात् स शं मम सन्ततम्॥४॥

स्वकस्वच्छगच्छसुसाधुसाध्वी श्रावका अथ श्राविकाः,
गायन्ति यद्गुणगीतिकां निजभर्तृमानितमानिकाः ।
निजज्ञानध्यानविधानशीतसमीरनीरसमूहतः,
मदक्रोधलोभकुमोहमिथ्यातापवह्निर्नाशितः ॥५॥

प्रतिप्राज्ञपूरुषपूतिपूजितपूज्यपादं शर्मदं,
शश्वत्प्रशस्ययशस्य श्रीशिष्यादिभञ्जितभ्वापदम् ।
तं तारकं भवदुःखतो विस्तारकं भवशर्मणां,
राजेन्द्रसूरिंगुरुं सदा भज भञ्जकं भवकर्मणाम् ॥६॥

रात्रिन्दिवं मम मस्तकं प्रणमेत्करो मे चार्चयेत्,
रसना मदीया तद्गुणान् प्रवदेत् पदब्जे हृत् स्मरेत्।
पश्येदजसं चक्षुरेतन्मोहदं भवमौर्ख्यदं,
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिंगुरुं सदा शिवसौख्यदम् ॥७॥

इह ध्येयमूर्त्तिसुगेयगीतिसुकीर्त्यकीर्त्तिसुसन्मतेः,
बहुमानमानितमानितक्रोधान्धकारसुदुर्मतेः।
श्रीश्यामसुन्दर-वर्णितां हरिंगीतिकां सुमनोहरां,
राजेन्द्रसूरिंगुरोर्मुदं पठतां प्रदद्याद् दुःखहाम् ॥८॥

व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-

श्रीमद्यतीन्द्रविजयमुनिप्रवराणां प्रशस्तिपत्रम्

जिनमतजननातिजातमानः, यमनियमादिगुणैर्विराजमानः ।
मुनिजनमनसि सुधासमानः जयतु यतीन्द्र-"यतीन्द्र" वन्द्यमानः ॥१॥

गुणिगणगणनाग्रगण्यमानः, शिवपदवीपदवीं प्रवर्त्तमानः।
भविभवभवभीतिभज्यमानः, जयतु यतीन्द्र-यतीन्द्र वन्द्यमानः ॥२॥

अविरतसुतपस्तपस्यमानः, शमदमशीलगुणैश्च शोभमानः ।
जगति जडजनान् विबोध्यमानः, जयतु यतीन्द्र-यतीन्द्र वन्द्यमानः ॥३॥

अनुपमतनुदीप्तिदीप्यमानः, जिनततिशासितशासने सुमानः ।
कविरिव कविसङ्घसेव्यमानः, जयतु यतीन्द्र-यतीन्द्र वन्द्यमानः ॥४॥

जनजननमृतिविदार्यमाणः, सततसुदुर्धरवीर्यधार्यमाणः ।
मतिमदतिनतो गताभिमानः, जयतु यतीन्द्र-यतीन्द्र वन्द्यमानः ॥५॥

जगति जलधिजीवतार्यमाणः, सकलसदागम मर्मपार्यमाणः ।
मदगदरहितः प्रथीप्रधानः, जयतु यतीन्द्र-यतीन्द्र वन्द्यमानः ॥६॥

तपन इव विभा वितप्यमानः जनकमलौघमुदा विकास्यमानः ।
अखिलखलखलत्वहापयानः । जयतु यतीन्द्र-यतीन्द्र वन्द्यमानः ॥७॥

कलिमलिनमलं बलादलं यः, दलतितरां मुनिमण्डलाख्यमानः ।
अपरपरनरे सदा समानः, जयतु यतीन्द्र-यतीन्द्र वन्द्यमानः ॥८॥

स्तुतिरिह रचिता सुपुष्पिताग्रा, पदरुचिरा च यतीन्द्रवाचकानाम् ।
भवतु सुफलदा सदा तदेषा, द्युतरुलतेव फला सुपुष्पिताग्रा ॥९॥

श्लोकानां नवकं रम्यं, शब्दार्थालङ्कृतिश्रितम् ।
व्याख्यानवाक्पतिश्रीमद्यतीन्द्रविजयस्य वै ॥१०॥

रचितं वाचकप्रीत्यै *शिवशङ्कर*शास्त्रिणा ।
शाब्दे शास्त्रे च साहित्ये, आचार्यपदधारिणा ॥११॥

।। श्री धर्मनाथजिनेन्द्राय नमः ।।

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय स्वच्छाम्बरविहारिसुविहितसूरि-कुलतिलकसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-शासन-सम्राट-परमयोगिराज जङ्गमयुगप्रधानजगत्पूज्य गुरुदेव श्री श्री १००८ श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरचरणार-विन्द-सेवा-हेवाक-व्याख्यानवाचस्प-त्युपाध्याय-श्रीयतीन्द्रविजय-(श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी) संदृब्धा

।। रत्नसारकुमार-चरित्रम् ।।

।। श्री धर्मनाथजिनेन्द्राय नमः ।।

।। विश्वपूज्य - जैनाचार्य - श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरेभ्यो नमः।।

श्री रत्नसारकुमार-चरित्रम्

धम्मंधरो धीरधरो धरेसो, धम्मोवएसो सुणई सईसो ।
धन्ना हि तं जे धरई सयाहं, वंदे जिणंदं पुण धम्मनाहं॥

राजेन्द्रसूरीश्वरसद्गुरूणां, पादारविन्दं युगलं प्रणम्य ।
तद्रत्नसारस्य चरित्रमेतत्, कुर्वे सुगद्यैः सरलैः सुरम्यम् ॥१॥

इह भरतक्षेत्रे रत्नविशालाभिधाना महीयसी नगरी वर्तते। तत्र समरसिंहनामा राजा महीमशेषां शास्ति, तत्रैव महापुरे वसुसारनामा श्रेष्ठी निवसति, अस्य रत्नसारनामा पुत्रोऽस्ति। स चैकदा मित्रेण सह वनमागात्। तत्र वने महान्तं भास्वन्तमिव महसा ज्वलन्तं विनयधराभिधानमाचार्यमालोक्य समित्रो रत्नसार-कुमारस्तत्रागत्य परया भक्त्या यथाविधि नमस्कृत्य त्रिःप्रदक्षिणां विधाय च तदभिमुखमुपाविशत्। अथ कृताञ्जलिः स तमेव-मप्राक्षीत्। हे भगवन्! केनोपायेन जीवोऽसौ सुखमुपैति? सकलानि दुःखानि च विजहाति?, गुरव ऊचुः - हे भद्र! एष जीव इहलोके परलोके च केवलमेकेन संतोषेण परमं सुखमाप्नोति। स च द्विधास्ति, दैशिकः सर्वत्यागात्मकश्च। तत्राद्यः श्रावकाणां जायते। अन्तिमस्तु साधूनां भवति। सकलसुखसम्पादको दैशिकः संतोषः परिग्रहपरिमाणतयोच्यते। तदुक्तम् -

असन्तोषवतः सौख्यं, न शक्रस्य न चक्रिणः ।
जन्तोः सन्तोषभाजो, यद् भव्यस्यैव हि जायते ॥१॥

व्याख्या - संतोषहीनस्य सुरेन्द्रस्य चक्रवर्त्तिनो वा सौख्यं तथा न जायते, यथा भव्यजीवस्य सन्तुष्टमनसो जायते । अतो वच्मि हे भव्यात्मन् ! सुखं वाञ्छसि चेत्तर्हि धनादीनां परिमाणं क्रियताम्! अथेदृशं गुरोर्वचनमाकर्ण्य तदैव सम्यक्त्वसहितं परिग्रहपरिमाणं स व्यधात्। तथाहि -

हे स्वामिन्! मम लक्षपरिमितानि रत्नानि, दशलक्षं दीनाराः मुक्तावैडूर्ययोरष्टाष्टमूढकम् । अष्ट कोटयः कोशे रौप्यकाणि, षड्गोकुलानि, एकैकस्मिन् दशसहस्रगवां स्थितिः । पञ्चशतानि गृहाणि, शतानि वाहनानि। अश्वानां सहस्रम्। दन्तिनः शतानि, एतान्येव मया गृहे सदा स्थेयानि इतोऽधिकानि हेयान्येव। तथा पञ्चाऽतिचारविशुद्धं पञ्चममणुव्रतं गृह्णामि, इत्थं परिग्रहपरिमाणं कृत्वा सम्यग्धर्मं परिपालयन् गार्हस्थ्यं सुखं भुञ्जानः सुखेन रत्नसारकुमारस्तस्थौ।

अथान्यदा रत्नसारकुमारः सह मित्रेण वनं ययौ। तत्रेतस्ततः पर्यटन्नेकं किन्नरयुगलमद्राक्षीत्। तस्य शरीरं मनुष्यस्य, मुखं तुरगस्येवासीत्, केनापि पुरा ईदृशमदृष्टपूर्वमश्रुतं च रूपं विलोक्य विस्मितः कुमारो मित्रं जजल्प। भो मित्र! पश्यैनम्, यद्यसौ मनुष्यस्तर्हि तुरगस्येव मुखं कथं दृश्यते, इति नायं मनुष्यः, न वा देवः, नूनमसौ द्वीपान्तरीयस्तिर्यक् प्रतिभाति, अथवा कस्य-चिद्देवस्य वाहनेन भवितव्यम्, इति रत्नसारकुमारस्य वचनं श्रुत्वा किन्नर उवाच। हे रत्नसार! ईदृशालीकं कुतर्कं मयि मा कृथाः। यथा मामवगच्छसि, अहं तथा नास्मि, किन्तु विलासी स्वैरविहारी व्यन्तरोऽस्मि। भो रत्नसार! मया तु त्वमेव तिर्यक्तुल्यो दृश्यसे। यतः पित्रा प्रतारितोऽसि। कुमारोऽवक् - कथमहं पित्रा वञ्चितो-ऽस्मि, अहं नैव जानामि, त्वं जानासि चेत्कथय? सोऽवदत् श्रूयताम्-तव पित्रा द्वीपान्तरादेकस्तुरग आनीतः - स च

ईदृशोऽस्ति-

निर्मांसं मुखमण्डले परिमितं, मध्ये लघुः कर्णयोः,
स्कन्धे बन्धुरमप्रमाणमुरसि स्निग्धं च रोमोद्गमे ।
पीनं पश्चिमपार्श्वयोः पृथुतरं पृष्ठं प्रधानं जवे,
राजा वाजिनमारुरोह सकलैर्युक्तं प्रशस्तैर्गुणैः ॥१॥

व्याख्या - मुखमण्डले यस्य कृशता, मध्ये-कुक्षिप्रदेशे परिमितम् - अल्पता, कर्णौ च यस्य लघू स्तः, स्कन्धे बन्धुरम्-यस्य स्कन्धो बन्धुरो रम्यो दीर्घो मांसलश्च, उरसि-वक्षसि अप्रमाणम् बहुदीर्घता, पुना रोमोद्गमे-यस्य केशाः स्निग्धा-मृदवः, पुनः पश्चिमपार्श्वयोः-पश्चाद्भागयोः पीनम्-पुष्टता, पृष्ठं च यस्य पृथुतरमतिविशालं, जवे-वेगे प्रधानम्-श्रेष्ठम्, प्रशस्तैः-उत्तमैः शास्त्रोक्तैः समस्तैर्गुणैर्युक्तमश्वं यदि राजा आरुरोह-उपविशेत्तर्हि स तुरगस्तं नृपमेकाहेन योजनानां शतं नयेत्, वायुरिव वेगवान् ससाहेन सकलां पृथ्वीं परिभ्रम्य स्वस्थानमायाति।

भो मुग्ध-रत्नसार! ईदृशमश्वरत्नं गृहे स्थितमपि त्वां नाद-र्शयत् कदापि तव पिता। किमेतन्न जानासि? गृहगतममूल्यं पित्रा गोपितं तमश्वमजानन् मयि मुधा किं कुतर्कयसि। त्वयि वीरतां धीरतां च तदैव ज्ञास्यामि, यदा तत्रारुह्य स्वैरं पर्यटिष्यसि सर्वत्र, इत्युदीर्य किन्नरो गगनवर्त्मनान्यत्र चचाल।

तदाकर्ण्य मनसि भृशं खिद्यमाना रत्नसारकुमारः स्वसदन-मागत्य कपाटं पिधाय पल्यङ्के शिश्ये। अथैनमनागतं विलोक्य बहुधा मार्गितेऽपि तमपश्यता तत्रागत्य पित्रैवं भणितः। हे वत्स! कथमकाले सुप्तोऽसि, किमस्ति कश्चित्तव व्याधिराधिर्वा? किं वा केनाप्यवज्ञातोऽसि? यद् भवेत्तद् ब्रूहि, अज्ञातदुःखस्य प्रतिकारं कथं कुर्यामित्यादि पित्रोक्तं श्रुत्वा कपाटमुद्घाट्य बहिराययौ कुमारः।

मानसक्लेशकारणं पितरं व्याजहार। पितोवाच-वत्स! मया त्वं छलितोऽसि न, किन्तु मनसि ममेयं शङ्कोदियाय, यदीदृशाश्वे दर्शिते सदैव तमारुह्य स्वैरं सर्वत्र परिभ्रमिष्यसि, तथा सति तव वियोगो मां बाढं बाधिष्यते। इति धियैवाद्यावधिस्त्वां तमश्वं नादर्शयम्। यदि तेन त्वं रुष्टोऽसि तर्हि तुभ्यमद्यैव तं ददामि। तमारुह्य मनो विनोदय इत्युक्त्वा कुमाराय तुरगं दत्तवान्। तदनु प्रमोदभरमानसः कुमारो द्वित्रिमित्रसंयुतस्तमश्वमारुह्य बहिरगात्। तत्रागतास्ते सर्वे स्वस्ववाहं वेगेन धावयितुं लग्नाः रत्नसारस्तु यथा यथा वल्गामाक्रष्टुं लग्नस्तथा तथा तदश्वः प्रधावितुमैहिष्ट।

तत्रावसरे वसुसारश्रेष्ठिनं सदनस्थः कीरो जजल्प-स्वामिन्! रत्नसारस्तुरगारूढो महीयसा वेगेन याति। अतो मामनुगन्तु-माज्ञापय येन तदनुगतोऽहं तदीयशुद्धिं कुर्याम्, विषमदेश-मापन्नस्यासहायस्य तस्याहं साहाय्यं करिष्यामि। कीरोदितमाकर्ण्य हृष्टचेता वसुसारस्तमवादीत्-शुक! त्वं सम्यक् कथयसि, शीघ्रं याहि, तत्सहायी भव। इति वसुसारश्रेष्ठिन आज्ञां समवाप्य स्वात्मानं धन्यं मन्यमानः कीरस्तूर्णं पिञ्जराद्बहिर्भूय महता जवेन तदन्वगात्। अचिरादेव सोऽपि तेन कुमारेणामिलत्। तमागतं शुकं लघुबान्धवमिव प्रगाढस्नेहेन कुमारः स्वाङ्के समुपावेशयत्।

अन्ये च मित्राणि रत्नसारमतिदूरङ्गतमपश्यन्तः पश्चाद् वलिताः स्वस्वसदनमागुः। इतश्च कीरेण सह रत्नसार एकस्यामरण्या[1]न्यामाययौ। तत्रैकस्मिन् वृक्षे महादोलायामुपविष्टोऽसीमा-नन्दमनुभवन् देवकुमाराकारः कश्चिदेकस्तापसस्तेन दृष्टः। तत्रावसरे स कुमारस्तमात्मीयमित्रमिव सस्नेहं द्रष्टुं लग्नः। सोऽपि मदनमूर्त्तिमिव मनोहरं रत्नसारं सादरमवलोकयन् दध्यौ-अहो! कोऽयमद्यप्राघूर्णिकोऽत्रागत इत्यवधार्य दोलातोऽवतीर्य कुमारा-

1. अरण्यानी (स्त्री) स.ए. ।

न्तिकमेत्य तमेवमवादीत् सः। भोः कुमार! कस्ते जनपदः? कस्मिन्नगरे निवससि?, कस्मिंश्च वंशे त्वमुत्पन्नोऽसि?, का ते जातिः?, माता पित्रोरभिधानं किमस्ति?, कस्ते कुटुम्बः?, का च ते शुभाभिधा? कथमत्रैकाकी समागतोऽसि?, इतस्ततः परिभ्रमन् किं शोधयसि?, इत्थं सप्रेमातिमधुरं तापसोदितं निशम्य कुमारो नितरां जहर्ष। रत्नसारस्तत्कालमेव यावत् प्रत्युत्तरं दातुं चिकीर्षति, तावन्निसर्गचपलः शुकस्तापसमवोचत-भोस्तापस! तवेदानी-मेतदीयकुलवंशादिज्ञानेन किं प्रयोजनम्?, किमत्र कस्यचित्पाणि-पीडनं चिकीर्षसि?, त्वमधुना कामपि पृच्छां विनैवाऽऽतिथ्यं विधेहि। यतोऽतिथिः साधूनामपि पूजनीयो भवति। उक्तञ्चान्यमते-

गुरुरग्निर्द्विजातीनां, वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां, सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥१॥

शुकोदितादीदृशवचनाच्चमत्कृतस्तापसो नितरां प्रससाद। तत एकां पुष्पमालां कीरशिरसि समर्पितवान्। तत्पश्चादेवमगादीत्-भोः कुमार! त्वं श्लाघ्योऽसि, यदीदृशः पटुतरः शुकस्ते सुहृत्तमोऽस्ति। अये कुमार! मम प्राघूर्णिको भव। यद्यपि मादृशां तापसानां भवादृशातिथियोग्या कापि सामग्री नास्ति। तथापि यथा लब्धोपचारेणार्चनं करोमि, तदवश्यमेवाङ्गीकार्यं भवादृशेन सुहृत्तमेन। इत्थं मिष्टवाक्येन रत्नसारं सन्तोषयन्, रम्यं वनं दर्शयन्, फलपुष्पादिभिर्मनोहराणां नानाजातीयानां लतानां तरूणां च नामानि कथयन्, स तापसोऽवोचत-भो महाभाग्य! एतस्मिं-स्तटाके स्नाहि। ततो रत्नसारः स्नातानुलिप्तः कृतनित्यक्रियो यावदासीत्तावन् नानाविधानि परिपक्वानि सुस्वादुफलानि समानीय रत्नसारस्य पुरः समर्पयत्तापसः। अमृतस्वादुभरां भूयसीं परिपक्वां द्राक्षाम्, रसालान् मिष्टतरान्, कदलीफलानि परिपक्वानि, पक्वान् पनसान्, नारिकेर-खर्जूर-जम्बु-बीजपूर-दाडिमप्रमुखान् तापस-

प्रदत्तान् शुकेन सह कुमारो यथारुचि बुभुजे। ततस्तस्मै मुखवासाय लवङ्गैलाकर्पूरजयपत्रिकादिसुरभिद्रव्याणि नागवल्लीं च ददौ। घोटकमपि तदुचितभक्ष्यमभोजयत्। सर्वे पानाशनादिना तोषिता-स्तेन। ततः सुखोपविष्टास्त्रयः परस्परमालपितुं प्रवृत्ताः। अत्रान्तरे कुमारकृतसङ्केतः कीरस्तमवादीत्-भोस्तापस! त्वयाऽनवसरे यौवनावस्थायामतिदुर्वहतापसत्वं कथं जगृहे? तावकं वपुरतिसुन्दरं दृश्यते, ईदृशेन वपुषा तपश्चरणं न घटते, नूनमीदृक् शरीरेण शमी[1]लताच्छेदनमिव तपष्करणं मन्ये, महाभाग! त्वदीयमिदं सौजन्यं, चातुर्यकला च वने मालतीव मुधा जायते। तवेदं वपुर्दिव्याम्बरेण रत्नाभरणेन च शोभां धातुमर्हति। अति-स्निग्धा मृदवो भ्रमरवच्छ्यामलास्तेऽमी केशा जटाकलापेन शोभां नो दधते। तारुण्यलावण्यसम्पन्नो भवान् सांसारिकामन्दानन्द-मेवानुभवितुमर्हतीदानीं, किमिदं वैराग्यतो दैवयोगतः कस्य-चिद्विषयविमुखस्य तापसस्य वशतो वा भवताऽधारि?

अथेदृशानि कीरगदितानि वचनानि श्रुत्वा वारिपूर्णलोचन-स्तापसः सगद्गदं जगाद्-भोः शुकराज! त्वादृशोऽपरः कोऽपि जगति नैवास्ति, यतो मां पश्यतोर्भवतोरीदृशी करुणा प्रादुरभूत्। इह लोके स्वकीयदुःखेन दुःखिनस्तु सर्वे भवन्त्येव, परन्तु परेषां दुःखानि पश्यन्तः कियन्त एव लसन्ति सन्तः सदुःखाः। यदुक्तं नयविदा -

शूराः सन्ति सहस्रशः प्रतिपदं विद्याविदोऽनेकशः,
सन्ति श्रीपतयोऽप्यपास्तधनदास्तेऽपि क्षितौ भूरिशः ।
किन्त्वाकर्ण्य निरीक्ष्य चान्यमनुजं दुःखार्दितं
यन्मनस्तार्द्र्यं प्रतिपद्यते जगति ते सत्पुरुषाः पञ्चषाः ॥१॥

1. वृक्षविशेषः, यस्मिन् गर्भेऽग्निरस्ति ।

व्याख्या - प्रतिपदं-पदे पदे सहस्रशः-सहस्राणि शूराः-शौर्यवन्तः पुमांसः सन्ति-वर्त्तन्ते, तथा अनेकशः-अनेके विद्याविदः-विद्यां विदन्ति जानन्तीति विद्याविदः पण्डिताः। एवं अपास्तधनदाः-अपास्तो विजितो धनदः कुबेरो यैस्ते कुबेरतोऽप्यधिकधनवन्तः श्रीपतयः-लक्ष्मीस्वामिनः पुरुषा अपि क्षितौ-पृथ्व्यां भूरिशः-बहवः सन्ति, किन्तु दुःखार्दितम्-दुःखैः पीडितम्, अन्यमनुष्यम्, आकर्ण्य-श्रुत्वा निरीक्ष्य-अवलोक्य यन्मनः-येषां मनश्चेतः तादृप्यम्-तदाकारताम् प्रतिपद्यते-प्राप्नोति ते तादृशाः सत्पुरुषाः-सज्जनाः-परोपकारिणः जगति-लोके पञ्चषाः-पञ्च षडेव सन्तीति भावः।

मित्र! यथाजातमात्मचरित्रमशेषं त्वां वक्ष्यामि। त्वादृशमहापुरुषाणामग्रे किमपि गोप्यं नैवास्ति, एवं मिथ आलपत्सु कुमारतापसकीरेषु-यदभूदाश्चर्यकारिवृत्तं तदाकर्ण्यताम्। तत्रैवावसरे गर्जन्ती, परितो रजांसि समुच्छलयन्ती, सर्वमन्धकारमयं कुर्वती, काचिदेका, महावात्या समुत्तस्थे। सा च पश्यतोरेव तयो रत्नसारकीरयोस्तापसमपहृतवती। ह्रियमाणस्तापस उच्चैरेवं पूच्चक्रे-भो रत्नसार! मामनाथं रक्ष रक्ष, विलम्बं मा कृथाः। अथैतदाकर्णयन् कुमार आह-रे दुष्ट! पापिष्ठ! प्राणादपि प्रियतरमेनं मित्रमपहृत्य क्व व्रजसि?, तिष्ठ तिष्ठ। मित्ररत्नमिदं चोरयित्वा क्व यासीत्यादि क्रुधा जल्पन् तत्पृष्ठमधावत्। कियद् दूरं गतो रत्नसारस्तापसमपश्यन् कीरेण भणितः-भो रत्नसार! क्वापि स तापसस्तदपहर्त्ता वा न दृश्यते। को जानाति सा वात्या तं तापसं कियद्दूरं नीतवतीति। इयता कालेन वेगवान् वायुस्तं योजनानां लक्षं निनायेति तर्कयामि। अत इदानीं पश्चाद्वलितव्यमेव श्रेयस्करं प्रतिभाति। शुकोक्तं तथ्यं वचः श्रुत्वा स कुमारः पश्चाद् वलन् मार्गे भृशं शुशोच। अत्रावसरे कीरस्तमेवं कथयितुं लग्नः-अये

कुमार! स तापसः पुमान्नास्ति, किन्तु केनापि प्रतिकूलेन पुंसा विद्याबलेन कापि कामिनी पुरुषीकृतास्ति। मधुरालापेन मुखाकृत्या मन्दगत्यादिना च तां काञ्चिदबलामवेहि। देवदानवविद्याधराणा-मन्यतमः कोऽपि तां मृद्वङ्गीमतिरूपलावण्यवतीं कामपि कुमारीं वशीकर्त्तुमेवं विडम्बयति। यदि सा तस्य दुष्टपुंसः कराच्छुटिष्यति, तर्हि त्वामेव वरिष्यति। अत्र किमपि संशयं मा कृथाः। इत्थं मधुरालापमाकर्ण्य स्वेष्टदेवमिव तापसकुमारं स्मरन् रत्नसारः कीरेण साकं जवेनाग्रे चचाल। अथ कियद् दूरं गतः कुमारः एकस्मिन् मनोरमे वने नानातरुलतादिना सुमण्डिते अत्युच्चैस्तो-रणध्वजादिभिः सुशोभितं श्रीमदादिनाथभगवतो मन्दिरमद्राक्षीत्। तत्रागत्य कुमारस्तुरगान्नीचैरवातरत्। फलपुष्पादिकं करे निधाय सकीरः कुमारो मन्दिरान्तः प्रविश्य भगवतः पूजां परया भक्त्या विधाय स्तोतुं लग्नः।

सिरिनाभिनामकुलगरकुलकमलुल्लासणेगदिवसवई!
भवदुहलक्खविहंडण! जयमण्डण णाह! तुज्झ णमो ।

व्याख्या - श्रीनाभिनामा कुलकरभूपस्तस्य कुलकमलोल्लासने सूर्यसमान!, भवदुःखलक्षविखण्डन-सांसारिकलक्षक्लेशप्रणा-शक!, जगद्मण्डन! हे नाथ! तुभ्यं नमोऽस्तु।

इत्याद्यनेकविधस्तवेन प्रभुमादिनाथमभिष्टूय रत्नसारो मन्दिरस्याद्भुततमां शोभां सर्वतो विलोक्य क्वचिदेकत्र बहिःप्रदेशे समुपाविशत्। तत्राह-शुकं प्रति। हे शुकराज! इयता कालेनापि तापसकुमारस्य समाचारो न लभ्यते, को जानाति क्व नीतवान् दुष्टः स इति। इत्थं विलापं कुर्वन्तं रत्नसारमाह कीरः। भोः कुमार! मनसि धैर्यमाधेहि, खेदं मा कुरु। अद्यैव ते सोऽवश्यं मिलिष्यतीति। इत्थं शुकेन साकं यावदालपति-कुमारस्तावद्

दिव्याङ्गना, लोकोत्तरया निजासीमसौन्दर्यलक्ष्म्या देवाङ्गनामपि त्रपयन्ती, सर्वाभरणतनुतरवसनधारणेन महतीं सुषमामधिगच्छन्ती, मयूरारूढा तत्रागात्। मलयगिरिजातसुरभिशीतलचन्दनकुसुमाक्षतादिसकलपूजोपकरणमादाय जिनवरेन्द्रं परया भक्त्या पूजयामास। यथामति संस्तुत्य प्रभोरग्रे नर्त्तितुं लग्ना। तस्यातीवसुन्दरतमं संगीतमयं नृत्यं समवलोक्य सकीरः कुमारश्चेतसि भूयसीं चमत्कृतिं प्राप्तवान्। सा कन्यापि मूर्त्तिमन्तं मदनमिव कुमारं सादरं चिरं प्रेक्षाञ्चक्रे। तत्रावसरे रत्नसारस्तामपृच्छत्। यदि तव मनसि रोषो नोत्पद्येत । तर्हि त्वां किमपि पृच्छेयम्। तयोक्तम्-सुखेन पृच्छतु भवान्। कुमार आह-

अयि सुन्दरि! त्वं कासि?, कुत आगतासि?, कस्य कुले जातासि? इत्यादि भवत्या आमूलमुदन्तं श्रोतुमिच्छा वर्त्तते। ततः कन्यकोवाच-भोः कुमार! यत्पृष्टं तत्कथयामि सर्वमात्मवृत्तं सावधानमनसा निशम्यताम्। तथाहि-

कनकपुरे वरनगरे कनकध्वजो नाम नीतिपूर्णकुशलो राजाऽस्ति। तस्य कुसुमश्रीराज्ञी सुशीलत्वादिसर्वगुणसम्पन्नास्ति। अथैकस्यां रजन्यां सुखेन सुप्ता राज्ञी निजोत्सङ्गे पतन्त्यौ द्वे कुसुममालेऽपश्यत्स्वप्ने, स्वप्नमालोक्य सा जागृताऽभूत्। प्रभाते नृपान्तिके समागत्य निशिदृष्टस्य स्वप्नस्य फलमप्राक्षीत्। राजोवाच-प्रिये! ईदृशस्वप्नेन त्वमेकदा पुत्रीयुगलं प्रसविष्यसे। तच्छ्रुत्वा मनस्यहृष्यत्सा, तदनु धृतगर्भा राज्ञी नवमासेषु गतेषु सहैव कन्यकायुगलमजीजनत्[1]। महता महेन द्वादशेऽहनि प्रथमाया अशोकमञ्जरी, द्वितीयस्यास्तिलकमञ्जरीति पित्रा नाम चक्रे।

1. जन् (प्रेरक अद्यतनी उ.पु.ए.) ।

ततः पंचधात्रीभिर्लालिते पालिते ते कन्ये क्रमेण ववृधाते। लघु-वयस्येव ते सर्वासु विद्यासु चतुष्षष्टिकलासु च निपुणे बभूवतुः। क्रमशः सञ्जाततारुण्ये ते सौभाग्येन, लावण्येन, वपुःसौन्दर्येण, सकलशास्त्रनैपुण्येन च युवकजनानां चित्ते चमत्कृतिं तेनाते। तयोः परस्परं महान् स्नेह आसीत्। एकस्या वियोगमपरा क्षणमपि न सहते, सर्वं कार्यं सहैव कुर्वाते। तदाह -

सह जग्गिएण सह सोविएण, सह हरिससोअवंताणं ।
नयनाणं व थङ्काणं, आजम्ममकित्तिमं पिम्मं ॥१॥

व्याख्या - सह जागरणशीलानां, सह स्वापिनां, सह हर्षशोकवतां धन्यानां पुण्यवतां जीवानां नयनानामिवाऽऽजन्म-यावज्जीवम्, अकृत्रिमं-नैसर्गिकम् प्रेम-स्नेहो जायते।

तयोरीदृशीं प्रीतिमालोक्य राजा मनसि दध्यौ-अहो! कीदृशी प्रीतिरेतयोः। यत्कदापि क्षणमपि परस्परं विरहं सोढुं नैव शक्नुवाते। यद्येक एवैतयोर्भर्त्ता भवेत्तर्हि वरं स्यात्। अन्यथा मिथो विश्लेष-मसहमाने द्वेऽपि नूनं मरिष्यतः। एतयोर्मनोऽनुकूलः सकल-सद्गुणशाली सुकृतमाली कोऽपि कुलवान् धन्यः परमभाग्यशाली पुमानेव वरो भवितव्यो नान्य इत्यादि चिन्तयन्नासीत्क्षोणीपालः उक्तं च -

जातेति पूर्वं महतीति चिन्ता, कस्मै प्रदेयेति ततः प्रवृद्धा ।
दत्ता सुखं यास्यति वा नवेति, कन्या-पितृत्वं किल हन्त कष्टम् ॥१॥

व्याख्या - पूर्वम्-आदौ मम कन्या जाता-समुत्पन्ना इत्येवं महती चिन्ता पितुर्जायते। ततः-तदनन्तरं प्रवृद्धा-वर्द्धितायां तस्यां कस्मै-वराय योग्याय प्रदेया कन्येयमिति। अर्थात् सद्योग्यपति शुद्ध्यर्थं महती चिन्तोत्पद्यते। पुनः कस्मैचित् योग्यपुंसे दत्तापि

कन्या सुखं यास्यति न वेति तृतीया चिन्ता जायते। इतीत्थं लोके हन्तेति खेदे किलेति निश्चयेन कन्या-पितृत्वं कष्टम्-कष्टकारीति भावः।

अथैकदा वसन्तर्त्तौ ते द्वे भगिन्यौ क्रीडितुमाराममाजग्मतुः। तत्रैकस्य महतस्तरोः शाखायां सुदृढां डोरिकां बद्ध्वाऽऽन्दोलनं कर्त्तुं प्रवृत्ताऽशोकमञ्जरी तथा विदधतीं तां तिलकमञ्जरीं महता जवेन झूलयामास। तयोस्तदद्भुतं क्रीडनं द्रष्टुं पौरा भूयांसस्तत्राययुः। तत्रैवावसरे कश्चिद् विधाधरो लोकैरलक्षितस्तामुत्पाट्य हृतवान्। अथ साऽशोकमञ्जरी महता स्वरेण रुदती भो भो लोकाः! धावत धावत, मामपहृत्य कोऽप्यसौ यातीति चुक्रोश। ततः सर्वे लोकास्तत्पृष्ठमधावन्त। परमेतेषां पश्यतामेव स विद्याधरस्तां कुत्र नीतवानिति केऽपि न जज्ञिरे। अतिप्रीतिपात्रपुत्रीहरणश्रवणतोऽतिदुःखितो भूजानिस्तत्कालमेव कियतोऽश्ववारान् सुभटांस्तस्याः शुद्ध्यै प्रेषितवान्। केनापि क्वापि सर्वत्र गिरिकन्दरादौ बहुधा मार्गणे कृतेऽपि शुद्धिर्न लेभे। इतश्च तिलकमञ्जरी प्राणतोऽपि वल्लभाया भगिन्या हरणेन तत्कालमेव मूर्च्छामाप, ततो भूमौ पपात। सचन्दनातिशीतलजलसेकादिना प्राप्तचैतन्या सा भृशं विलपन्तु लग्ना। तथाहि-

अयि भगिनि! त्वामपश्यन्ती कथं जीविष्यामि। हा देव! कथमकाल एव प्राणप्रियभगिनीवियोगोऽकारि। इत्थं भृशं शोचन्ती तिलकमञ्जरी संध्यासमये गृहमागतवती। अन्येऽपि पौरा नरा नार्यश्च स्वस्वसदनमापेदिरे। ततस्तामेव शोचन्तः पितृमातृतिलकमञ्जरीप्रभृतयः सर्वे शिश्यिरे। अथ निशायाः पश्चिमे यामे समुत्थाय चक्रेश्वर्या मन्दिरमागत्य विविधोपचारैस्तामाभ्यर्च्य सा तिलकमञ्जरीति प्रार्थितवती-हे मातः! चक्रेश्वरि! हृताया भगिन्याः शुद्धिं कथय?, अचिरादेव तया सह सङ्गमय। नो चेदिह भवे तावदहं

न खादेयं न पिबेयमित्यादिनियमं तवाग्रे करोमि।

अथ तस्याः सद्भक्तिभावपूजया सुप्रसन्ना चक्रेश्वरी प्रत्यक्षीभूय तामेवमवादीत्-भो वत्से! तव भगिन्याः कुशलं वर्त्तते। तदर्थं मा शोचीः। अद्यारभ्य मासान्तिमे दिवसे भगिन्याः समाचारस्तव मिलिष्यति, दैवबलेन तदैव साक्षात्कारोऽपि भविष्यति। अत्र सन्देहो नास्ति किञ्चिदपि । त्वं सुखेन भुङ्क्ष्व, पिब। सर्वं भव्यं भविष्यतीति। पुनः सा देवीमपृच्छत्-हे शरणागतवत्सले! मातः! मासस्यान्तिमे दिने कुत्र केन रूपेण भगिनीदर्शनं भवितेति स्पष्टं मयि कृपां विधाय सूचय। देव्यूचे-एतन्नगरस्य पश्चिमे प्रदेशेऽतिदूरे महारण्यमस्ति, यत्र महता कष्टेनापि लोका गन्तुं न शक्नुवन्ति। मणिरत्नमयमादिनाथप्रभोर्मन्दिरं भासुरं भासते। तत्र महार्हरत्नजटिता सौवर्णमयी मूर्त्तिः श्रीऋषभदेवस्य वर्त्तते। तामेव मूर्त्तिं प्रत्यहं भक्त्या समभ्यर्चय। तत्रैव भगिनीं द्रक्ष्यसि। अन्यदपि सकलं समीहितमेष्यसि। एष मम सेवकश्चन्द्रचूडनामा देवो मयूरीभूय प्रत्यहं त्वां तत्र नयिष्यतीति निगद्य देवी यावत्तूष्णीं तस्थौ तावत्तत्रैको मयूरो गगनमण्डलादाययौ।

तिलकमञ्जरी रत्नसारं निगदति-भोः कुमार! देव्याः प्रसादेन मयूरोपरि समुपविश्य प्रतिदिनमादिनाथप्रभुं प्रत्यक्षफलप्रदमभ्यर्चितुं यत्र वने सा समागच्छति, तदेवेदं वनं तदेव मन्दिरमिदम्। सा कन्याप्यहमेवास्मि स एवायं मयूरः। इति मामकं सर्वं चरित्रमवेहि। किं च चक्रेश्वर्या वचनेन श्रीआदिनाथप्रभुपूजाया अद्यैव त्रिंशत्तमं दिनं याति, परमिदानीं पर्यन्तं भगिन्याः शुद्धिर्मेलनं वा मया न लेभे। अतः पृच्छामि-हे कुमार! त्वमनेकदेशान् भ्रान्त्वा भ्रान्त्वात्रागतोऽसि। कुत्रापि काचिदधिकरूपलावण्यवती कन्या दृष्टा किं वा श्रुता। तत्रावसरे कुमार ऊचे-अयि सुन्दरि! अशेषमहीमण्डले परिभ्रमता मया भवादृशी त्रिभुवनविनिर्जितकामिनी नैव कुत्रा-

प्यदर्शि, किन्तु शबरसेनाख्ये महावने कश्चिदेकस्तापसकुमारो दृष्टः। तस्यासीमरूपलावण्यतारुण्यं भवत्याः समानमेवासीत्। अत्रान्तरे कीरोऽवदत्-हे सुन्दरि! नूनं तवाद्य भगिनी मिलिष्यति। सा प्रत्यूचे-शुकराज! यदि सत्यं भविष्यति त्वदुक्तम्, अहं भगिनीं विलोकिष्ये तर्हि त्वामर्चिष्यामि। इत्थं यावद्रत्नसारकीरतिलकमञ्जर्य आलपन्ति, तावदकस्मादेका हंसी गगनादागत्य कुमाराङ्के पपात। सा भयभीतिमावेदयन्ती भृशं कम्पमाना मुहुः कुमारमुखमवलोकमाना मनुष्यभाषया न्यगदत्। यथा-हे सत्पुरुष! शरणागतपरिपालक! मामनाथामशरणमतीवदीनां शरणागतां पाहि पाहि। लोके धीरपुरुषाः शरणमागतं कृतापराधमपि कारुण्येनावन्त्येव कदापि नोपेक्षन्ते। यदाह-

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु, लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने, ममत्वमुच्चैःशिरसां सदैव ॥१॥

व्याख्या - यो हिमाचलः गुहासु-कन्दरासु लीनं-संस्थितं दिवाभीतं-दिवाकराद् भीतिमापन्नमन्धकारं रक्षति-परित्रायते। यतः शरणं प्रपन्ने-शरणार्थिनि क्षुद्रेऽपि-अयोग्येऽपि जने उच्चैःशिरसां-महात्मनां सदैव ममत्वं जायते।

इति हंस्या भाषितमाकर्ण्य करुणाकरो रत्नसारस्तदङ्गानि मृदुकरेण स्पृशन्नवक्-हे हंसि! मा भैषीः, इह ही वीतराग-जिनेन्द्रप्रभोः सन्निधौ मनागपि कुतोऽपि कस्यापि भीतिर्नोत्पद्यते। अवश्य-मेतद्विद्धि। यन्मम क्रोडे स्थितां त्वां नरेन्द्रो विद्याधरेन्द्रो देवेन्द्रो वा पराभवितुं नार्हति। ततस्तटाकतोऽतिमिष्टं पयः समानीय कुमारस्तामपाययत्। पुनस्तामपृच्छत्-हंसि! त्वं कासि? कुतस्ते भयमस्ति? कुत आयासि? मनुष्यवाचं कथङ्कारं[1] निगदसि? सर्वं

1. अत्रानर्थकः कृ धातुः, कथङ्कारं = कथम्, ५-४-५० सिद्धहेम० ।

मे कथय।

अथैवं स्नेहपरं कुमारोक्तं श्रुत्वा सा हंसी यावदात्मवृत्तं वक्तुमैहिष्ट, तावदुच्चैर्गर्जन्ती महती विद्याधरसेना व्योम्नस्त-त्रावातरत्। तामवलोक्य मनसि जातशङ्कः कीरो मन्दिराद्बहिरागत्य द्वारोपरि समुपाविशत्। तदा तीर्थमहिम्नः कुमारस्य सौभाग्यतया वा विकृतातिभीषणतनुः पर्वताकारः कीरः क्रुधा भ्रुवौ वक्रीकृत्य तां चमूमित्थमाह-अरे रे विद्याधराः! कस्यानुपदं धावत? कुत्रेदानीं व्रजथ?, अग्रे देवासुरानपि तृणाय मन्यमानो रत्नसारस्त्रिभुवन-महाभटजिष्णुस्तिष्ठति। तं किमिति नो वेत्थ, तस्मिन् क्रुद्धे सति यूयं नूनमेव कान्दिशीका भविष्यथ। अतोऽहं हितं वच्मि, यदि जीवितुमिच्छथ, तर्हि शीघ्रमेवेतः पलायध्वम्। ईदृशं भीषणं शुकभाषितं श्रुत्वा संत्रस्ता सा चमूर्विस्मिता सत्येवमचिन्तयत्-अहो! नूनमेष कीररूपधारी कोऽपि देवो दानवो वा विद्यते। अन्यथा कथमेवं नस्तिरस्कुर्यात्। अहो विद्याधराणां नः सिंहनादो जगज्जिष्णुर्भूत्वापि कीरस्यास्य हुङ्कारनादेनापि त्रस्यति, महदाश्चर्यमेतत्। धिग् धिगीदृशान् कातरान् नः यस्य महावीरस्य [रत्नसारस्य] कीर एव विद्याधरान् क्षोभयति।

स कुमारः कीदृशः कियांश्च बलवान् भविष्यतीति को वेत्ति। बलमविज्ञाय कोऽपि केनापि युद्धाय नैव सज्जते। इति निश्चितवन्तस्ते भटाः पश्चाद्बलित्वा स्वस्वामिनोऽग्रे यथाजातमशेषं वृत्तमूचुः। तदाकर्ण्य स विद्याधरेशो मेघ इव गर्जन् हस्तौ पृथ्व्यां पातयन् भ्रकुटिमाकृषन् केसरीव महता निनादेन तानवोचत्-अरे कातराः! रङ्का इव कथं कीरवचसा कान्दिशीका भवन्तः परावर्त्तन्त। धिगस्तु भवतो गेहेशूरान्[1]। अरे! कोऽस्ति कुमारः, को वा तदीयः शुकः। ममाग्रे कोऽपि नैव प्रभवितुमर्हति। भवन्तः केवलं कीरवचनेन

1. अलुप् समासः ।

वञ्चिता मुधैव भीतिमापुः। अधुनैव पश्यत पश्यत मदीयपौरुषम् इत्युदीर्य दशशिरांसि, कराणां विंशतिं, विकृत्यैकस्मिन् पाणौ खड्गं, द्वितीये खेटकं, तृतीये गदां, चतुर्थे धनुरित्थं तत्तत्करेषु तानि तानि दिव्यानि शस्त्राणि बिभ्रदतिभीषणं प्रकुपितान्तकोपमं[1] रूपं दधद् वीरचेतांसि भीषयन् सिंहनादं मुहुशोऽत्युच्चैः कुर्वन् स विद्याधरराजस्तत्रागतवान्। आगतं तमालोक्य त्रस्तः शुकः कुमारसन्निधावाययौ। यतो धीमान् पुमान् भयङ्करे स्थानके चिरं न तिष्ठति। अथ स विद्याधरनाथः उच्चैर्हुङ्कुर्वन्नुवाच-अरे रङ्क! झटिति दूरमपसर, नो चेदचिरादेव मरिष्यसि। मामकीमिमां प्राणकल्पां[2] हंसीं निजोत्सङ्गे धृत्वा किमिति सुखेनोपविष्टोऽसि? अरे निर्लज्ज! निर्भीक! त्वं चोरवन्मदमूल्यमेतदपहृत्य मम स्वमुखं किं दर्शयसि। एतत्कालं मयि पुरस्तिष्ठति सति कथं न पलायसे? त्वमधुना कालग्रस्त इव मत्तो मृत्युं कथं कामयसे?, अत्रावसरे कीरमयूरतिलकमञ्जरीहंस्यः, कृतान्तमिव पुरःस्थितं तं पश्यन्त्यः क्वचिदेकत्र प्रदेशेऽतिविस्मितास्त्रस्ता अतिष्ठन्।

अथ रत्नसार आह-रे मूढ! विद्याधराधम! केवलं धान्यपलालमिवासारः प्रतिभासि। यदेवं प्रलपसि, त्वदीयवाङ्मात्रेण शिशव एव त्रस्यन्ति, न जातु शौर्यवन्तः। यदि शौर्यं धत्से, तर्हि पराक्रमेण हंसीं गृहाण। त्वमिव यो हि गृहशूरो भवति, स एवं प्रलपति। क्रियां तु नैव कुरुते, अशक्तत्वात् तदुक्तम् -

गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षासु निस्वनो मेघः ।
नीचो वदति न कुरुते, न वदति कुरुते च सज्जनो लोकः ॥१॥

व्याख्या - यथा मेघः शरत्काले गर्जत्येव, न कदाचिदपि वर्षति। वर्षासु-वर्षाकाले तु गर्जति न, किन्तु वर्षत्येव। तथा

1. यमः । 2. प्राणसमानां ।

नीचस्त्वादृशः कातरः पुमान् वदति भृशम्, प्रतिकारं न करोति। सज्जनस्तु स्वगौरवं नाख्याति, किन्तु क्रियामेव करोति।

अतो निगदामि यदि शूरोऽसि, तर्हि शौर्यं प्रकटय, किमीदृशा-ऽसदालापेन। किञ्च हस्ततालिकया अपरिचिताः पक्षिण एव पलायन्ते। गृहपारावतास्तु पटहाऽऽरवादपि मनागपि नैव बिभ्यति। मम शरणागतामिमां हंसीं भोगीशफणातो[1] मणिमिव किं कामयसे? एतज्जिघृक्षां[2] त्यज, ममाग्रतो दूरं वज्र जीविताशां बिभर्षि चेत्, सत्वरमितः पलायनं विधेहि, नो चेत् तावकानि यान्येतानि दश मस्तकानि तान्यधुनैव दिग्पालेभ्यो बलिं ददिष्ये[3]। अस्मिन्नवसरे रत्नसारसाहाय्याय देवरूपं विकृत्य मयूररूपं विहाय विविधास्त्रशस्त्रं दधच्चन्द्रचूडो देवस्तत्रागत्य इत्यवक्-भोः कुमार! भयं मा कृथाः यथेष्टमनेन सह युध्यस्व। अहं ते सहायतां दास्यामि, शस्त्रास्त्राणि नानाविधानि ददिष्ये, भवतः सर्वान् शत्रून् हनिष्यामि, किमधिकं निगदामि-यथा त्वं विजेष्यसे[4] प्रबलानप्येतान् विपक्षपक्षांस्तथाहं विधास्यामि। इति देवोक्तमाकर्ण्य स कुमारः प्रवृद्धोत्साहस्तदैव योद्धुं सज्जितोऽभूत्। अथ तां हंसीं तिलकमञ्जर्यै समर्प्य रत्नसार-स्तुरगमारुरोह। ततश्चन्द्रचूडार्पितं धनुरानम्य तदीयटङ्कारनादेन सकलामपि विद्याधरचमूं भीषयामास। ततः प्रावर्त्तत विद्याधरगणेन सह तुमुलं युद्धम्। यथा मेघो वारिधारां वर्षति, तथा द्वयोः पक्षयोः परस्परं शराणां वृष्टिर्भवितुमलगत्। रत्नसारविजिगीषया विद्याधरा विद्याबलेनातिभीषणं योद्धुं लग्नाः। एवं विद्याधरं-विजेतुमिच्छया रत्नसारोऽपि देवबलेन वीरपुंसामपि विस्मयकरं युद्धं कर्त्तुमलगत्। प्रान्ते विद्याधरचमूः सकलापि कुमारभयेन छिन्नभिन्नाङ्गी ननाश। नष्टां निजां चमूमालोक्य चमत्कृतो भृशं

1. नागेश । 2. ग्रहीतुमिच्छा । 3. दद् १ ग. आ० । 4. वि+जि (आत्मने.)।

प्रकुपितः स्वयमेव दशमुखधारी विद्याधरस्वामी योद्धुमुत्तस्थौ। पुरासौ कराणां विंशत्या युयुधे। ततो विद्याबलेन हस्तानां सहस्रं दधानो महाभीषणं शस्त्रास्त्रैरयुध्यत। रत्नसारोऽपि क्षुरप्रेण शरेण विद्याधरेन्द्रसत्कानि[1] शस्त्राण्यस्त्राणि चाऽच्छैत्सीत्। तथैकेन बाणेन धनुश्चिच्छेद। एवमपरेण शरेण तस्य हृदयं विव्याध। ततो विद्धवक्षसस्तस्य भूयसी रुधिरधारा निरगच्छत्। ततो मूर्च्छितः स भूमौ पपात। अथ लब्धचेतनः सञ्जातसमरोत्साहः स विद्याबलेन लक्षरूपं धृतवान्। तदानीं तावद्भिस्तद्रूपैरखिलेयं मही व्याप्ताभूत्। सर्वत्र तद्रूपमेवापश्यत्स रत्नसारः, तथापि कुमारो मनागपि न बिभ्ये। यतः कल्पान्तेऽपि धीरपुरुषाः कातरतां नाङ्गीकुर्वते। यदाह-

भयस्य हेतौ समुपस्थिते हि, वीरोद्भटप्राणनिराकरिष्णौ ।
न जातु चित्ते भयमेति नूनं, स एव धीरो भुवि वीरमाढ्यः ॥१॥

व्याख्या - वीराणामुद्भटाय = श्रेष्ठाय प्राणानाम् निराकरिष्णौ =नाशके भयस्य कारणे आगते, यदि किञ्चिदपि न मनसि भयमाप्नोति, तदा स एव धैर्यावलम्बी च वीरेषु समादरणीयश्च धरातले । यथा वर्धमानो बाल्ये देवेनोपसर्गेषु कृतेषु न मनागपि संक्षुब्धः । ततो देवैर्दत्तं नाम ''महावीर'' इति ।

अथैवं कुमारं स विद्याधराधीशः कल्पितैरशेषैरप्यात्मरूपैर्हन्तुं लग्नस्तथापि कुमारो धीरतयैव युयुधान आसीत्कातरतां नापत्। परं संकटे पतितं कुमारमालोक्य चन्द्रचूडो देवः स्वयं मुद्गरं लात्वा तं विद्याधरेन्द्रं हन्तुमुत्तस्थौ। अतिभीमं मुद्गरेण निघ्नन्तं कल्पान्तकालोपमं तत्र समरे तिष्ठन्तं देवमुदीक्ष्य विद्याधरस्वामी तत्रास। तथापि धैर्यमाश्रित्य तेन देवेन सह चिरं शस्त्रास्त्रैरयुध्यत। परन्तु मूर्खाणां हृदये सदुपदेश इव वन्ध्यायाः पुत्रचिकित्सेव

1. समीपानि ।

विद्याधरराजकृतः शस्त्रास्त्रप्रहारः कुमारविषये स्वीयसुकृतयोगतो देवमाहात्म्यतश्च विफल एवाभूत्। धर्मपुञ्जप्रभावात्सदैव प्राणिनः सुखमधिगच्छन्त्येव। यतः -

पुण्यप्रभावादरयः प्रयान्ति, भवन्ति देवाः समरे सहायाः।
हालाहलो याति सुधामयत्वं, नह्यस्ति पुण्यादपरो विशिष्टः ॥१॥

व्याख्या - पुण्यस्य प्रतापात् शत्रवो विना युद्धेनैव पलायन्ति- यथा माण्डलिकनृपैः सह चण्डप्रद्योतनृपोऽभयकुमारस्य पुण्या- दनश्यत्। देवा युद्धे सहायं कुर्वन्ति - यथा चक्रवर्ति-वासुदेवादि- पुरुषोत्तमानाम् रणे देवाः सहायं कुर्वन्ति। तत्काल प्राणनाशको विषोऽप्यमृतत्वं भजति यथा श्रेष्ठिना प्रेषिते लेखे 'विषं देहि' स्थाने 'विषां देहि' मात्राधिक्यं जातं दैवात्। पुण्यात् श्रेष्ठं वस्तु नास्त्यन्यदिह। अतो यावन्मोक्षं न भवेत्, तावत् पुण्यानुबन्धिपुण्यं संचयार्थं यत्नो विधेयः।

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि ॥२॥

व्याख्या - वने, संग्रामे, शत्रुमध्ये, जलमध्ये, वह्निमध्ये- ऽपारसमुद्रे, पर्वतशृङ्गे वा, सुसं, प्रमत्तं, विषमस्थितं वा जीवं पूर्वकृतः पुण्यसमूहो रक्षति। वन-विषये कलावती-दृष्टान्तो ज्ञेयः, संग्रामे-कोणिक-ज्ञातं प्रसिद्धं यस्य सहायकौ पुरन्दरौ बभूवतुः, शत्रुमध्ये तु पद्मरथेन रुद्धनगरो वज्रजङ्घो मोचितो लक्ष्मणेन, जले-मदिरया मत्तपतिं नद्यां चिक्षेप भार्या तथापि स रक्षितः पूर्वकर्मभिः, अपार-समुद्रे-श्रीपाल-वृत्तान्त आबालगोपाल- विदितः, पर्वत-मस्तके-मुनिना बोधित आत्मानं हन्तुं प्रारब्धो नन्दिषेणः।

अथैवं शस्त्रास्त्राणि प्रहरन्तं विद्याधरेन्द्रमिन्द्रोऽसिना भूधरमिव,

स देवो मुद्गरेण ताडितवान्। तेन स महतीं पीडामाप, केवलं पीडैव नाभवत्, अपि तु बहुरूपकरी विद्यापि तत्क्षणमेव तमुज्झितवती। तदा स दध्यौ-अहो महाद्भुतं जातम्, सर्वा सेना नष्टा, विद्यापि मे गता, मयेदानीं किं विधेयम्? एष कुमारः स्वभावादेव दुर्जयः प्रतीयते। अधुना तु देवतासहायतां नीतो विशेषतोऽस्ति दुर्धर्षः। अतः प्राणत्राणमेव श्रेयस्करमिदानी-मित्यवधार्य द्रुतमेव स ततः पलायाञ्चक्रे। नष्टे स्वामिनि समस्ता चमूरप्यनश्यत्। इत्थं यदसौ रत्नसारः प्रबलमप्येनं विद्याधरेन्द्र-मजैषीत् तत्सकलं *पूर्वकृतसद्धर्मस्यैव महिमास्ति*। यो हि धर्मनिष्ठो भवति, तस्य सदैव विजयो जायते। तदाह-

'धर्मेण हन्यते व्याधिर्ग्रहो धर्म्मेण हन्यते ।
धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः ।'

इत्थं दुर्जयं प्रचण्डदोर्दण्डं विपक्षं विजित्य रत्नसारस्तेन चन्द्रचूडाख्यदेवेन सह श्रीमदादिनाथभगवतो मन्दिरमगात्। अथेदृशमद्भुतं कुमारस्य चरित्रं निरीक्ष्य चमत्कृता, पुलकिताङ्गी, तिलकमञ्जरी, मनस्येवमचिन्तयत्। अहो! कोऽप्यसौ युवा पुरुषरत्नं प्रतीयते। यद्यसावेव मे भर्त्ता स्याद् भगिनी च मे मिलेदत्रैव तर्हि भाग्यं फलितं मंस्ये, जीवनं च साफल्यं व्रजेत्। अथ तिलकमञ्जर्याः पार्श्वतस्तां हंसीं लात्वा कुमार एवमपृच्छत्! अये हंसि! कासि?, कथं वा विद्याधरस्त्वामगृह्णात्? मनुष्यभाषां कथं ब्रवीषि? एतत्सर्वं कथय। हंसी जल्पति-नाथ! तव पुरुषरत्नस्याग्रेऽशेषमात्मवृत्तं निगदामि-वैताढ्यपर्वते रथनूपुरं नाम नगरमस्ति। तत्र तरुणी-मृगाङ्कनामा विद्याधरराजो राज्यं कुरुते। स चैकदा कनकपुर-नगरोपरिष्टाद् गच्छन् कुत्रचिदुपवन आन्दोलनक्रीडनं विदधती-मतिरूपवतीमशोकमञ्जरीं कन्यामपश्यत्। तस्या लोकोत्तर-

मनोहररूपेण तारुण्यलावण्येन मोहितः स तत्कालमेव तामपहृत्य शबरसेनानामकेऽरण्ये निनाय। तत्र च भृशं रुदतीमतिभीतां राजपुत्रीमवोचत्-सुन्दरि! मा भैषीः, मा रोदीः, मत्तस्त्रस्यसि कथं? किमर्थं गात्रं कम्पयसि? मां चौरं पररमणीलम्पटं हिंसकं वा मा वेदीः, किन्तु विद्याधराणां पतिं जानीहि। साम्प्रतं तावकाद्भुत-लावण्यतारुण्यादिना वशंवदीभूय त्वामिदमेवाभ्यर्थये। यन्मां दासं विधाय सकलविद्याधरीणां स्वामिनी भवेति। तदाकर्ण्य सा राजपुत्री मनसि दध्यौ-धिग् धिक्कामान्धं पुमांसम्। यतः कामकिङ्करा नरा धीरा अपि विवेकविकला जायन्ते, जातिकुलादि-सर्वमपि विस्मरन्ति। इत्थं विचिन्त्य सा मौनमालम्ब्य तस्थौ। तदा स एवमवेदीत्-यदधुना मातापित्रोर्विरहाकुला न भाषते, पश्चान्म-य्यनुरागं विधास्यतीति निश्चित्य विद्याबलेन तां राजपुत्रीं तापसकुमारं कृतवान्, पुनः स्नेहमयेन वचसा प्रीणयन् भृशं सत्कुर्वन् ताम-लोभयत्। परन्तु क्षारभूमौ बीजवाप इव तस्यां विद्याधरनृपस्य प्रयासो वैफल्यमेव ययौ। तथापि तस्य तस्यां जातोऽनुरागो मनागपि नैव न्यवर्तत। यतः कामकिङ्करीभूतो नरः कदाग्रहं न जहाति। तदाह -

कदाग्रहग्रस्ततरो नरो वै, करोत्यकार्यं सहसा सदैव ।
विवेकरत्नं परिहाय नूनं, भवाम्बुधौ मज्जति कर्मबद्धः॥१॥

व्याख्या - कदाग्रहग्रस्तो नरः सारमसारं च विवेक्तुं न समर्थो भवति परिणामतोऽविचार्य प्रायः कुफलदं कार्यं करोति। ततो विवेकरत्नं विमुच्याशुभकर्माणि समुपार्जन् भवसमुद्रे दीर्घकालं ब्रुडति । ब्रुडन्तं पारावारे विवेक एव सन्मित्र उद्धारकश्च। यथा मन्त्रिणाराधिता कुलदेवताऽकथयत्, पुत्रं त्वं वाञ्छसि, किन्तु दुराचारी भविष्यति । तदा मन्त्रिणा कथितं तथास्तु किन्त्वेको

विवेकगुणो भवतु। तद्विवेकबलेन स पुत्रः कुलदीपकः सुगतिभाक् चाभूत्।

अथैकदा स तापसकुमारं तत्रैव मुक्त्वा स्वनगरमियाय। तदनु कुतश्चित्तत्रागतस्य तवाग्रे यावदात्मचरितं निगदितुं प्रावर्त्तत तापसकुमारस्तावत्तत्रागतो विद्याधरेन्द्रो महावात्या रूपेण तापसकुमारं ततोऽप्यपहृत्य स्वपुरमानीतवान्। तत्र च स्वर्णमन्दिरे संस्थाप्य सुमधुरगिरा भृशमित्थं प्रार्थयितुं लग्नस्तथाहि-अयि सुन्दरि! मां स्वदासं विधेहि, कदाग्रहं त्यज, अन्येन सह भाषसे, मया किमपराद्धं येन न ब्रूषे। मौनमेव श्रयसे किम्? यदि न भाषिष्यसे तर्हि नूनमनेनैव खड्गेन त्वां हनिष्यामि। एवं वज्रोपमं तद्वचः संश्रुत्य साऽशोकमञ्जरी धैर्यं मनसि धृत्वा तमब्रवीत्-पुरुषाधम! बलात्कस्मैचित्केनापि प्रेम दातुं नो शक्यते, राज्यादिकं तु बलादपि दीयते, परं मिथोऽनुरक्तयोरेव पुंसो रागः श्रेयान् भवति। यो हि मारकिङ्करीभूतो[1] नरोऽकामयमानां कामिनीं प्रार्थयते, तं पुरुषं धिगस्तु। एतच्छ्रुत्वा स विद्याधरेन्द्रोऽत्यन्तमकुप्यत्। कोशाच्चासिमाकृष्य तामेवमवदत्-अरे रण्डे! पापिष्ठे! ममाग्र एव मामकीं निन्दां जल्पसि। तत्फलमिदानीमेव दर्शयामि, सद्य एव ते शिरश्छेत्स्यामि। साऽवक्-रे पुरुषाधम! यदि मां हातुं नेच्छसि तर्हि मामवश्यमेव मारय। विचारान्तरं विलम्बं वा मा कृथाः, एतदकृत्याचरणान्मरणमेव मे श्रेयस्करं प्रतिभातीति। अशोकमञ्जर्याः सुकृतनिचयोदयात्स मनस्येवमचिन्तयत्-अहो! मयैतदनुचितं विदधे, यदस्या ईदृशं भाषितम्। सर्वत्रैव सरल-सादरवचसैव प्रीतिरुत्पद्यते। हठेन तु स्त्रीणां जातोऽपि रागो गच्छत्येव। अतो मया कदापि कोपो न दर्शनीयः। मिष्टतर-सादरसस्नेहवचसैव कामिनी सुरागिणी भवितुमर्हतीति निश्चित्य

1. मदन ।

खड्गं कोशे न्यधत्त। विद्याबलेन तां हंसीं कृत्वा स्वर्णपिञ्जरेऽस्थापयत्। अनुक्षणं सादरं प्रियवचनैस्तोषयन्नासीत्। ततोऽन्यदा विद्याधरराजस्य पत्नी कमलमाला तां हंसीं प्रार्थयन्तं स्वपतिं दृष्ट्वा मनसि जातशङ्काऽचिन्तयत्-किमेतत्? यदसौ मत्तोऽप्यधिकमेनां हंसीमभ्यर्थयते। ततः सा निशि स्वेष्टदेवतामाराध्यैतदपृच्छत्। सा विद्या प्रत्यक्षमवादीत्-सर्वमेतद्वृत्तान्तम्।

ततः सा कमलमाला सपत्नीद्वेषात्तां हंसीं पिञ्जराद्बहिः कृतवती। पिञ्जरान्निर्गता सातिभीता शबरसेनाख्यकाननदिशि गच्छन्ती मार्गे श्रान्ता सती त्वदङ्केऽपतत्। भोः कुमार! सैवाहं हंसी, स एवासौ विद्याधरराजः, यस्त्वया पराजितः पलायनमकृत। एतदाकर्ण्य तिलकमञ्जरी विलपति अयि भगिनि! त्वमेकाकिनी तापसीभूय निर्जने वने कथमासीः?, कथं वा तिर्यग्योनौ पक्षिणीभूय नानाक्लेशं सहमानाऽधुना वर्त्तसे? एतेनानुमिनोमि[1], यद् भवान्तरे नूनं महान्ति पापानि चिकयिथ। हन्त! कथमिदानीं तिर्यक्त्वं ते प्रणश्यति। इत्थं विलपन्ती तिलकमञ्जरी यावदासीत्, तावच्चन्द्रचूडदेवः स्वशक्त्या तां हंसीं कन्यामकार्षीत्। तदा ते द्वे भगिन्यौ चिरान् मिलित्वा परस्परं मुमुदाते। अस्मिन्नवसरे रत्नसार आह-तिलकमञ्जरी! त्वमिदानीं भगिन्या दर्शनजन्यमसीममानन्दमनुभवसि। मह्यं किं वर्धापनं दित्ससि[2]? धर्मार्थोचितदाने विलम्बो न विधेयः। तदुक्तम् -

लग्नौचित्यादिदानर्ण-हुड्डासूक्तभृतीगृहे ।
धर्मे रोगे रिपुच्छेदे, कालक्षेपो न शस्यते ॥१॥

व्याख्या - लग्नस्य-अस्मिन्कार्ये तवैतावद्दास्यामीति पुराङ्गीकृतस्य करणे, तथोचितादि पञ्चधा दानकर्मणि, ऋणशोधनकरणे,

1. अनु+मि - ५.ग. पर० । 2. दातुमिच्छसि ।

तथा होडकरणे, भृत्यादेर्वेतनदाने, गृहकरणे, धर्मकृत्ये, रोगस्य शत्रोश्च मूलोच्छेदनकरणे कालक्षेपः-कालस्य-समयस्य क्षेपो विलम्बो न शस्यते प्रशस्तो न भवतीत्यर्थः। तर्हि कालक्षेपः क्व प्रशस्यते?, इत्याह -

क्रोधावेशे नदीपूरप्रवेशे, पापकर्मणि ।
अजीर्णभुक्तौ भीस्थाने कालक्षेपः प्रशस्यते ॥२॥

व्याख्या - क्रोधस्य कोपस्याऽऽवेशे वेगे, नद्या पूरे प्रवेश-करणे, पापाचरणे, सत्यजीर्णे भोजने, भयस्थाने गन्तुं कालक्षेपः कर्त्तव्यः सर्वैरिति भावः।

तदनु सा तिलकमञ्जरी आह- भोः पुरुषसिंह! त्वादृशे पुरुषोत्तमे महोपकारके नरेऽदेयं किमपि नास्ति। यद्यपि सर्वस्व-दानेऽपि त्वदुपकृतेः प्रतिक्रियां विधातुमहं नार्हामि, तथापि यदस्ति तद्ददामीत्युक्त्वा कुमारकण्ठे मौक्तिकीं मालां परिधापितवती, सोऽपि सहर्षं सादरं तां स्रजं पर्यधत्त। पुनरेकां कमलस्रजं तस्य कीरस्याधिग्रीवं[1] न्यधत्त। तदा चन्द्रचूडो देवो जगाद-भोः कुमार! पुरा तुभ्यमिमे कन्ये दैवेन दत्ते, साम्प्रतमहमपि ते ददामीति। ततो देवता तयोः कन्ययोः पाणिग्रहणं रत्नसारेण सहाऽचीकरत्। पश्चात् स चन्द्रचूडदेवो रूपान्तरं कृत्वा चक्रेश्वरीपार्श्वमागत्य सकलमुदन्तमुवाच। तच्छ्रुत्वा चक्रेश्वरी देवी सपरिवारा विमान-मारुह्य तत्रागतवती। रत्नसारो वधूभ्यां सह तां प्रणनाम। सापि झटिति कुलं ते वर्धतामित्याशिषं तस्मा अदात्। तदनु सा देवी विवाहोपयोगिनीं सर्वां सामग्रीं विरचय्य[2] महामहेन ते राजकुमार्यौ समुदवाहयत्। ततश्चक्रेश्वरी सप्तभौमं दिव्यं सौधं निर्माय निवासाय कुमाराय ददौ। तत्र सौधे रत्नसारस्ताभ्यां स्त्रीभ्यां सह निरुपमं

1. ग्रीवायामिति (अव्यय-समास) । 2. वि+रच्+णिग्+यप्

सुखमनुभवन् न्यवात्सीत्।

अथ चक्रेश्वर्या आदेशेन चन्द्रचूडो देवः कनकपुरे गत्वा कनकध्वजं नृपं पुत्र्योः कुमारेण सह महामहेन सम्पादितविवाह-वर्धापनं व्यजिज्ञपत्। तच्छ्रुत्वा हृष्टो नृपो मन्त्रिसामन्तसाधुकार-प्रमुखाऽपरिमितपरिवारयुतस्तत्रागतः। तमागतं क्षितिपतिमुभे पुत्र्यौ सकीरो रत्नसारश्च नृपाभिमुखमागत्य विधिवत्प्राणमत्। कुमार-रूपमालोक्य स राजा नितरामतुष्यत्। ततो देव्याः प्रभावेण कुमारः सपरिवारं श्वशुरं तत्रागतमभोजयत्। नानाविधदिव्याशनपानमिष्ट-वचनैस्सुप्रसन्नः क्षोणिपालः कुमारमेवमाख्याति स्म महाभाग्य-शालिन्! भवान् जामातास्ति, सकलपौरजनः श्रीमन्तं भवन्तं दिदृक्षति[1]। अतो मदीयनगरमागत्य पुनीहि। अथ भूपानुरोधवशतः कुमारस्तेन सहैव कनकपुरनगरमागतः। महामहेन जामातरं पुरं प्रावेशयद्राजा। ततः सुसज्जिते सुन्दरतरे महासौधे वधूभ्यां सह रत्नसारस्तस्थिवान्। शुकोऽपि स्वर्णपिञ्जरे तिष्ठन् सुखमनुभव-न्नासीत्। इत्थं पुण्यप्रभावतः कुमारो नानाविधमनुपमं सुखं भुञ्जानः सुखेन दिनानि गमयन्नासीत्। उक्तं च -

स्वा[2] राज्यसौख्यमतुलं नयते नराणां,
राज्यं ददाति विमलं यश आतनोति ।
शत्रुप्रचण्डभुजदण्डबलं क्षिणोति,
किं किं न साधयति कल्पलतेव धर्मः ॥१॥

व्याख्या - नराणां धर्मः कल्पलतेव-कल्पतरुमिव किं किं न साधयति-जनयति-ददातीति, तदेव समर्थयते-अतुलं-निरुपमं स्वाराज्यसौख्यं=स्वर्गीयसुखं नयते-प्रापयति, प्रान्ते। इह लोके तु राज्यं ददाति, निर्मलं यशः-सुकीर्त्तिं च आतनोति-विस्तारयति,

1. द्रष्टुमिच्छति । 2. स्वर् (अ) स्वर्ग ।

तथा शत्रूणां प्रचण्डा ये भुजदण्डास्तेषां बलं-पराक्रमं क्षिणोति-नाशयति। इत्थं धर्म एव सर्वेषां सर्वार्थसाधनमिति स एव सञ्चेतव्यः।

अथैकस्यां रजन्यां सुखेन शयान आसीत्कुमारः। सर्वाणि द्वाराणि पिहितान्यासन्। तथापि कश्चिद् दिव्याकृतिको दिव्यवासाः सर्वाभरणमण्डितगात्रः खड्गपाणिश्चौर्यकुशलः कोपादरुणलोचनः पुमान् गुप्त्या तद्गृहान्तराययौ। तावत्कुमारो जजागार। यतो महीयांसोऽचिरमेव स्वपन्ति जाग्रति च। ततः स चिन्तयति-अहो सत्यपि सकलद्वाराऽऽपिधाने कथमेष महाचौर इव समायातो दृश्यते। इत्यादि यावन्निश्चिनोति कुमारस्तावत्स वक्ति-कुमार! यदि वीरोऽसि तर्हि सज्जीभूय मया सह युध्यस्व। वणिग्जातीयस्य तव कियदस्ति बलमित्यहं ज्ञास्यामि। अतिधूर्त्तस्य शृगालस्य शौर्यं मृगपतिरिव तव बलमहं कियन्तं कालं सहेय। इत्थं जल्पन्नेव स तत्कालमेव कुमारोऽपि कोशादसिमाकृष्य तत्पृष्ठमधावत्। अग्रे पुमान् तत्पृष्ठे कुमार इत्थं तावुभौ मिथः पश्यन्तौ कियद् दूरं जग्मतुः। चौरस्यानुपदं तं, जिघृक्षुः पुमान् यथा याति तथा कुमारस्तत्पृष्ठं गतः। अत्रान्तरे स पुमान् कीरमादाय यदा व्योम्नि समुदडीयत, तदाऽऽकाशे तं पुंमासं कियद्दूरं व्रजन्तमद्राक्षीत् कुमारः। अदृश्ये च तस्मिन् मनसि विस्मयं दधत्कुमार एवम-चिन्तयत्-नूनमनेन केनापि देवेन विद्याधरेण दानवेन भूतेन महीयसा मद्वैरिणा वा भाव्यम्। योऽस्तु सोऽस्तु, परन्तु मदीयराज-कीरमपहृत्य गत इति महदाश्चर्यमभूत्। अये प्राणप्रिये! कीर! तव किमभूत्? मां विहाय क्व गतोऽसि? त्वां विना मम का गतिर्भविष्यति, इति विलपन् रत्नसारः पश्चादेवं दध्यौ-अरे चित्त! खेदं मा गाः, अलमिदानीं शोकेन। शोकेन गतं वस्तु कस्यापि न मिलति। अतो धैर्यमालम्ब्य स्थलान्तरे तदन्वेषणं विधातव्यम्।

कदाचित्प्राप्ते काले मिलिष्यत्येव सः। तमधिगत्यैव परावर्त्तिष्ये[1], नो चेत्कदाचिदपि पश्चान्नैव परावर्त्तितव्यं मयेति निर्धार्य कुमार इतस्ततः परिभ्राम्यन् बहुधा कीरमन्वेषयामास। परन्तु कुत्रापि तच्छुद्धिं नासवान्[2]। यतः आकाशे यद्वस्तु गतं तद्भूमौ मार्गितेऽपि कथमासादयेत्तथापि कुत्रापि स मिलिष्यतीत्याशया रत्नसारः सकलं दिनं सर्वत्र बभ्राम। सन्ध्या काले समागते तेन कुमारेण वप्रतोरणध्वजादिसुमण्डिता मणिमयसौधचयशोभायमाना नगर्येका ददृशे। तस्या अद्भुतां शोभां विलोक्य चमत्कृतचेताः कुमारो नगरीसमीपमागतः। तत्र च दूरत एवापूर्वां तच्छोभां पश्यन् नितरां स तुतोष। अथ मुख्यद्वारे समागत्य स यावदन्तः प्रविशति तावत्तत्रोपविष्टा काचिदेका सारिका तमेवमभाषत। भोः कुमार! अन्तर्मा गाः, इत एव पश्चाद् याहि। कुमारोऽवदत्-अयि सुन्दरि! सारिके! मामन्तर्यान्तं कथं निषेधयसि? तदा पुनरूचे सा-हे सुपुरुष! मद्वचस्यवज्ञां मा कृथाः अहं ते कल्याणमिच्छामि, अतस्तत्र प्रवेष्टुं वारयामि। यदि तत्कारणं शुश्रूषसि, तर्हि श्रूयताम्।

इदं हि रत्नपुरं नाम नगरमस्ति। अत्र पुरन्दर इव पुरन्दराभिधानः प्रजापाल आसीत्। न्यायनिष्ठे प्रजाः शासति सति तस्मिन् कोऽप्येको महाचौरो नानावेषधारी समागतः प्रतिरात्रं चोरयन्नासीत्। ततोऽचिरादेव समृद्धिशालिनोऽपि लोका निर्धना अभूवन्, ततः पौरप्रधानजना मिलित्वा नृपमेतदाचचक्षिरे। तच्छ्रुत्वा कुपितः क्षितिपतिः कोट्टपालमाकार्य सरोषमाह-रे रक्षकाः! यूयं रात्रौ क्व तिष्ठथ? कथं वा युष्मासु रक्षकेषु सत्स्वपि धनिनां गृहेषु चौर्यं जातं जायते च?, तत्कारणं निगदत। नो चेदधुना सर्वेषां वः प्राणदण्डं दास्यामि। रक्षका ऊचुः-नाथ! वयं सदैव सावधाना रक्षामः। तस्य निग्रहणाय सर्वे उपायाः कृताः। परं समस्तोऽपि

1. शोधयित्वा । 2. पुन र्गमिष्यामि ।

प्रयत्नो वैफल्यमेव व्रजति। सर्वथासौ तस्करो महारोग इव दुर्ग्रहः प्रतीयते। अतोऽहं तं ग्रहीतुं न शक्नोमि। ततो नृपालः स्वयमेव खड्गपाणिस्तस्य चौरस्य ग्रहणाय निरगच्छत्। अथैकस्यां रजन्यां कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे खात्रं कृत्वा प्रचुराणि सारभूतानि धनानि लात्वा यान्तं तं स्तेनशिरोमणिं राजाऽपश्यत्। ततस्तत्पृष्ठे राजाऽधावत्। अग्रे चौरस्तत्पृष्ठे राजा, इत्थं कियद्दूरं तावुभौ चेलतुः। स चौरः क्षितिपतेर्दृशं वञ्चयित्वा कस्यचित्तत्र सुप्तस्य तापसस्य समीपे सर्वाणि धनानि मुक्त्वा स्वयमुद्याने प्राविशत्। तदनु तत्रागतो नृपश्चोरितानि द्रव्याणि दृष्ट्वा तं सुप्तं तापसमेव चौरममन्यत। नूनमेष तापसः स्तेनोऽस्ति। अयमेव मम नगर्याः सर्वस्वमचूचुरत्[1]। अधुनात्र कपटनिद्रया निद्राति। इत्यवधार्य नृपस्तमेवमवोचत्-रे दुष्ट पापिष्ठ? तापसीभूय मम नगरीं लुण्टयसि, त्वमेव प्रतिरात्रं खात्रं विधाय सर्वेषां धनान्यपहरसि। इदानीं साधुवेषेण सुप्तोऽसि, अत इदानीमेव त्वां दीर्घनिद्रायां स्वापयामि। पश्य पश्य स्तेनस्य फलं कीदृशं भवतीति। अथात्म-सुभटेन निर्दोषमेव तं तापसं स्वस्थानमानेय्य[2] प्रभाते तस्य हननाय कोट्टपालमादिशत्। ततो नृपादिष्टः स तापसं मुण्डयित्वा गर्दभोपरि संस्थाप्य सर्वत्र नगरे चतुष्पथादौ भ्रामयित्वा शूलिकायामारोपितवान् स एव मृत्वा राक्षसोऽभवत्। ततः प्राग्वैरमनुसन्धाय[3] प्रकुपितो राक्षसः प्रथमं राजानं जघान। लोकांश्च सर्वान् नगरान्निष्काशितवान्। राजा प्रमादवशात्तथा कृतवान्। तेनैव दोषेण समस्ताः प्रजाः खिद्यन्ते। अद्यापि यः कोऽपि पुमानन्तः प्रविशति तं स घातयति। यतः-अन्तःपुरमागतं पुरुषं कोऽपि नैव सहते। भोः कुमार! अतस्त्वामन्तःपुरे गन्तुं निवारयामि। यदि कदाचित्स त्वामपि हन्यात्तदाहं तद् द्रष्टुं न शक्नुयाम्। इति सारिकावचन-

1. सर्वेषां स्व=धनं । 2. आ+नी+णिग्+यप् (प्रेरक सं.भू) । 3. स्मृत्वा ।

माकर्ण्य सञ्जातविस्मयः कुमार आख्यत्-सारिके! त्वयोक्तं सर्वं पथ्यं तथ्यं च मन्ये, परन्तु मनागपि ततो राक्षसान्नाहं बिभेमि, इत्युक्त्वा राक्षसस्य बलपरीक्षार्थी कुमारस्तत्र नगरे रणक्षेत्र इव प्राविशत्, अकुतोभय इव स तत्र नगरे परिभ्रमन् कुत्राप्यापणे चन्दनतरूणां राशिमपश्यत्। क्वापि स्वर्णराशिना भृतमापणम्, तथा परस्मिन्नापणे कर्पूराणां, क्वचित्पूगीफलानां, क्वचिच्च नारिकेरफलानां निचयं, क्वचिच्च सुगन्धिद्रव्यैः परिपूर्णानि गान्धिकानामापणान्यद्राक्षीत्। कानिचिच्च दिव्यादिव्यविविध-जातीयवस्त्राणामन्नादीनामापणानि ददर्श। परन्तु क्रयविक्रयौ कुर्वन्तमेकमपि जनं स नापश्यत्कुत्रापि। अथैवमनुक्रमेण राजपथेन गच्छन् नगरीशोभां वीक्षमाणः स राजसदने समायातः। तत्रैकः ससभौमः[1] सौधः प्रैक्षि तेन। तत्र ससमं भौमं गत्वा नानाजातीय-सद्रत्नरचितामपूर्वामेकां शय्यामालोकत। तस्यां च निर्भीः[2] कुमारः सुखेन स्वकीयामिव सुष्वाप। अथ मानुषपदसञ्चारादिनाऽऽगतं जनं विदित्वाऽतिक्रुद्धः स राक्षसस्तत्रागात्। तत्र सुखेन सुसं रत्नसारमालोक्य स दध्यौ। अहो अत्याश्चर्यमेतत्, यत्र केऽपीतरे लोका मनसापि गन्तुं नेहन्ते। तत्र दुर्गमे स्थाने समागतोऽसौ पुमान् धृष्ट इव निर्भीकः कथं सुसोऽद्य दृश्यते। नूनमेष मे महान् विरोधी लक्ष्यते। एनमहं केन प्रकारेण हन्याम्, किमहं तालफलमिव मस्तकमस्य त्रोटयेयम्, अथवा नखैरेव विदारयेयम्, किमु गदयानया सञ्चूर्णयेयम्, किमु महत्या क्षुरिकया खण्डशः कृन्तानि[3], किमु प्रज्वलिताग्नौ प्रक्षिपाणि, किमाकाशे समुत्क्षिपाणि, किमब्धौ मज्जयानि, किमजगर इवैनमधुनैव गिलानि[4], किंवा ममाऽऽलये

1. प्र + ईक्ष् (कर्म-अद्य- उ.पु.ए.) । 2. निर्गता भीः यस्य सः । 3. कृत् ६.पर. काटना (आज्ञार्थ प्र.पु.ए) मुचादिषु 'न्' आगम ।
4. गृ ६. गण. पर. गिर् र् नो ल आदेश विकलवे २.३.१०२ (सिद्ध.)

समायातमतिथिमिव प्रसुसं नो हिनसानि। यतो हि गृहागतं रिपुमेव नैव हन्यादित्यादि नीतिवाक्यानि शिक्षयन्ति। तदाह-

आगतस्य निजगेहमप्यरेर्गौरवं विदधते महाधियः ।
मानमात्मसदनमुपेयुषे, भार्गवाय गुरुरुच्चतां ददौ॥१॥

व्याख्या - महाधियः महती धीर्बुद्धिर्येषां ते, मतिमन्तः पुमांसो निजालयमागतस्य, अरेः-शत्रोरपि गौरवं-सत्कारमेव विदधते-कुर्वते। तथाहि-आत्मसदनं-मीनाख्यराशिम् उपेयुषे-प्राप्तवते समागताय भार्गवाय-शुक्राय गुरुः-बृहस्पतिः, मानं-सत्कारम् मानार्हमिति यावत् उच्चतां-महत्त्वं ददौ-दत्तवान्। अयमाशयः-मीनराशिर्गुरोरस्ति तत्रागतं नैसर्गिकं वैरमपि, गुरुरुच्चत्वमेव नयति। तथा स्वसदनसमागतः शत्रुरपि सत्कार्य एवास्ति महतामिति।

यावदसौ स्वेच्छया जागृतो न भवेत्तावदस्य किमपि न कर्त्तव्यम्, पश्चादस्य यथायोग्यं भविष्यति, तथा विधास्यामि, इति निश्चित्य स राक्षसः स्वस्थानमागात्। पुनः कियत्कालानन्तरं प्रभूतभूतादिगणैः सह स तत्रागत्य पूर्ववत्सुप्तमेव कुमारमैक्षत। अत्रावसरे स जगाद-अरे निर्भीक! निर्लज्ज! यदि जिजीविषसि, तर्हि सत्वरमेवेतः पलायस्व, नो चेन्मया सह युध्यताम्। इति राक्षसवच आकर्ण्य जागृतः कुमार आह-राक्षसराज! मम निद्राभङ्गं कथमकार्षीः? सुखसुप्तस्य निद्राभङ्गकरणे कियान् दोषो लगति। तन्न जानासि किम्? उक्तं च -

धर्मनिन्दी पङ्क्ति-भेदी, निद्राच्छेदी निरर्थकम् ।
कथाभङ्गी वृथापापी पञ्चैतेऽत्यन्तपापिनः ॥१॥

व्याख्या - यो हि धर्मं निन्दति, यश्च पङ्क्ति भिनत्ति, अर्थादेकत्र पङ्क्तौ भुञ्जानानामेकस्मै ददाति, परस्मै न ददाति,

सः। तथा हेतुं विना परस्य सुखेन सुप्तस्य निद्रां छिनत्ति। एवं यः कथामुच्छेदयति, प्रयोजनं विनैव यः पापानि कुरुते, एते पञ्च महापापिन उच्यन्ते।

भवानपि मदीयनिद्राभङ्गकरणान्महापापी जातः। अतस्तत्पापापनोदाय[1] सद्योजातघृतमिश्रितशीतलवारिणा तावन्मे पादौ मर्दय, यावन्मे निद्राऽऽगच्छेत्। इति कुमारोक्तं निशम्य स विचारयति स्म-अहो कोऽप्यसौ महाश्चर्यकारी पुमान् प्रतीयते। यत्केनापि न कारितं तच्चिकीर्षति मत्तः[2]। अत्याश्चर्यमेतत्। यन्मृगारातेः शृगाल इवासौ मत्तः पादयोस्तलं विमर्दयितुं कामयते। एष कीदृशः साहसिकः, कीदृशी चास्य धृष्टता वर्त्तते, कियती चास्य गम्भीरता विद्यते। यन्मामपि भृत्यकृत्यमुपदिशति, आस्तां तावदेषः। एतस्यैक आदेशस्तावत्कर्त्तव्यो मया। इति विचिन्त्य स राक्षसेश्वरः सुरभिघृतमिश्रितशीतलजलेन कुमारस्य पादौ मर्दितुमलगत्। अहो कीदृशो धर्मस्य महिमा वर्त्तते, यल्लोके कुत्रापि केनापि न श्रुतं न वा दृष्टम्, यल्लोके दुर्लभमस्ति तदपि धर्मप्रभावेण लोकैराप्यते।

अथ निजभृत्यमिव पादौ मर्दयन्तं राक्षसराजमालोक्य समुत्थाय कुमारस्तमेवं व्याजहार-भो राक्षसेन्द्र! मया मनुष्येण यदादिष्टं तत्कृपामानीय क्षमस्व। तवानया भक्त्याधिकं प्रसन्नोऽस्मि, किञ्च यदीप्सितं भवेत्तन्मत्तः प्रार्थय। भवदर्थे दुष्करमपि सुखेन कर्त्तुं शक्नोमि। दुर्लभमपि वस्तु तुभ्यं दातुं समर्थोऽहम्। इति कुमारभाषितं श्रुत्वा स स्वचेतस्येवमचिन्तयत्-सम्प्रति विपरीतं जातं यदसौ मानुषीभूय मयि देवेऽपि निजप्रसादं दर्शयति। इतोऽप्यद्भुतमिदं दृश्यते, देवतयापि यन्न प्राप्यते, वा यन्न कर्त्तुं शक्यते, तदप्यसौ मे दातुं वाञ्छति। एतत्तथा प्रतिभाति यथा कल्पवृक्षः सेवकात् किमप्यभीष्टं याचेत। एष मानवो मम देवस्य

1. दूरीकरणाय । 2. अस्मद् पं.ए. ।

किं दद्यात्। अथवा मनुष्यतः प्रार्थनीयं देवानां किमपि नैवास्ति, तथापि प्रसन्नमेनं नरमहं किमपि याचेय इत्यवधार्य मधुरस्वरेण स कुमारमित्याख्यत्-भोः! इह संसारे यः पुमान् परस्मै वाञ्छितमर्थं प्रयच्छेत्स त्रिलोक्यामपि[1] विरल एवास्ति, किञ्च याचनात्सर्वे सद्गुणा नरस्य प्रणश्यन्ति। अत उक्तम् -

लघुर्धूली तृणं तस्यास्तृणात्तूलं ततोऽनिलः ।
ततोऽपि याचकस्तस्मादपि याचकवञ्चकः ॥१॥

व्याख्या - लोके सर्वतो लघीयसी धूली-रजोऽस्ति तस्मादपि लघु तृणमस्ति, अस्मादपि लघु तूलमर्कतूलं भवति। इतोऽपि लघुरनिलो-वायुरस्ति, तस्मादपि लघुः कनिष्ठो याचकः-अर्थी भवति, याचकादपि लघुर्याचकानां वञ्चकः-प्रतारको भवति। अन्यदप्याह-

परपत्थणापवन्नं[2] मा जणणि, जणेसु एरिसं पुत्तं ।
मा उअरे वि धरञ्ज, सुपत्थियभङ्गो[3] कओ जेण ॥१॥

व्याख्या - मातः! यः परमन्यं याचेत, ईदृशं पुत्रं मा जनिष्ठाः। तथा यो हि परप्रार्थनं विफलीकुर्यात्, तादृशं पुत्रं तूदरे गर्भे मा धृथाः नैव धारय।

अतो ब्रवीमि कुमार! यदि याचनां नो भङ्ग्यास्तर्हि त्वां किमपि याचेय। कुमारोऽवदत्-भो देव! मत्साध्यं कार्यमाज्ञापय। राक्षसेश्वर आह-यदेवमस्ति तर्हि श्रूयताम्। अस्या नगर्या राजा भव, अहं ते राज्यं ददामि। एतद्राज्यमासाद्य यथेच्छं सुखं भुङ्क्ष्व, अहं किल तव दिव्यां समृद्धिमर्पयिष्यामि दासवत्सदा त्वां सेविष्ये च। अन्येऽपि सकलाः क्षितीशास्ते वशंवदा[4]ः स्थास्यन्ति। अतो

1. लोकानां त्रयाणां समा. इति त्रिलोकी तस्यां (द्विगु.) । 2. आपन्नं । 3. सुप्रार्थित । 4. वशं वदति [ख] ५-१-१०७ सिद्ध. ।

मयार्पितमेकच्छत्रमिदं राज्यमकण्टकं गृहाण। रत्नसारो मनसि चिन्तयति-असौ राक्षसपतिर्मे राज्यमर्पयति। यदिह लोके सकल-सौख्यप्रदमतिदुरापमस्ति[1] यच्च सदैव महता सुकृतपुञ्जेनाप्यते। भाग्यहीनैः पापिभिः स्वप्नेऽपि नैव लभ्यते। परमेतत्पुरा मम परित्यक्तमस्ति पुराऽहं सद्गुरोः सन्निधौ परिग्रहपरिमाणं व्रतमङ्गी-कृतवांस्तदा राज्यं न ग्रहीष्यामीत्यपि प्रतिज्ञातम्। तदधुना कथं त्यजामि, व्रतभङ्गकारिणां महान् दोषो लगतीति शास्त्रे निरुक्तमस्ति। अधुना मया किं कर्त्तव्यम्? महासङ्कटो मे पतितः। अहो उभयतः पाशरज्जुरिवैतद्द्वयमुपस्थितं लक्ष्यते। यदि राज्यमिदं गृह्णामि, तर्हि महापापीयान् भवामि, पुरागृहीतव्रतभङ्गात्। अनङ्गीकारेऽपि स एव दोषः, एतदीयप्रार्थितस्य भङ्गात्। हा दैव! किं जातम्। किंकर्त्तव्यतामूढतामुपगतोऽस्म्यहं। प्रान्ते कुमार एवमुवाच-भो देव! अतोऽन्यत्प्रार्थय[2]? एतत् कर्त्तुं नार्हामि। यतोऽहं गुरुसन्निधौ तदत्यजम्, पुरा त्यक्तस्य राज्यस्याङ्गीकारे व्रतलोपो भविष्यति। ततश्चाधर्मो मां नरकं नेष्यति। यत्स्वर्णाभरणं कर्णावेव त्रोटयेत, तेन किं प्रयोजनम्? येन कृत्येन मम धर्मो न लुप्येत, तदेव स्वार्थं परार्थं वा मया कर्त्तुं शक्यते इति निश्चयं जानीहि।

राक्षसोऽवदत्-रत्नसार! शरीरेऽस्मिन् लोभलज्जादाक्षिण्य-गाम्भीर्यादयः सर्वेऽपि तिष्ठन्ति! यः पुमानुत्तमोऽस्ति स तु प्राणान् सुखेन जहाति, परन्तु दत्तं वचनं नैव परावर्त्तयति, यद्वदति तत्करोत्येव। तत्र दोषादोषौ नैव विचारयति! कुमारोऽवदत्-देव! त्वया साधूक्तं, परन्तु मया पूर्वं गुरुसन्निधौ नियमोऽकारि, यदहं पापानां निलयमधर्मस्य च हेतुं राज्यं कदापि न ग्रहीष्यामीति। यो हि नियमं लात्वा परित्यजति, तस्य नियमविराधनान्महान् दोषो लगति, पश्चात्तापश्च जायते। महाभाग! इति हेतोर्दुष्करम-

1. अति दुःखेनाप्यते यद् । 2. अमुष्मात् ।

प्यन्यद्वरय। यदहं सुखेन कुर्याम्, नियमोऽपि मे नैव हीयेत। राक्षस उवाच-अरे! प्रथमं यत्प्रार्थितं मया तदपूरयित्वा पुनरन्य-न्मार्गयितुं किं ब्रूषे?, अनेन वचसा त्वं स्वस्मिन्नेव कुपितो हतभाग्यो वा लक्ष्यसे। यदधुना दुरापमिदं राज्यं त्यजसि। अरे मूढ! यो हि क्रोधादिना जीवान् हिनस्ति युध्यते वा, तत्रैव पापं जायते। देवार्पितस्य राज्यस्य स्वीकारे तव पापं कथं लगिष्यति?, यदिदं राज्यं मया दीयते तत्सोत्साहं कथं नाङ्गीकुरुषे? सुरभिघृतं पातुं बु बु इति शब्दं कथं कुरुषे? प्रथमं त्वया मम मन्दिरमागत्य मदीयशय्यायां सुखेन चिरं सुप्तम्। त्वत्पादतले च मया मर्दिते! ईदृशमकृत्यं ते मयाकारि। त्वं तु मदुक्तं हितमपि न करोषि, तर्हि तत्फलं पश्यतु भवान्। इदानीमेव दर्शयामीत्युक्त्वा क्षणादेव स कुमारं करौ गृहीत्वा गगने निरस्यत्! तदनु समुद्रमध्ये कुमारं प्राक्षिपत्। ततस्तमादाय बहिरानीय राक्षसोऽवदत्-रत्नसार! स्वकीयं कदाग्रहं कथं न जहासि? अहं तु राज्यं समर्पयामि, किमप्यनिष्टं वस्तु न ददामि, तत्सहर्षं किमिति न गृह्णासि? अतः राज्यं गृहाण, आग्रहं मुञ्च, नोचेद्रजको वसनमिव त्वामस्याः शिलाया उपरि निपात्य निपात्य हनिष्यामि! इति ब्रुवता तेन रत्नसारो गृहीत्वा शिलान्तिकं नीतः, अभाणि च-मदुक्तं कुरुष्व, मम हस्तान्मुधा मा म्रियस्वेति। कुमारोऽप्येवमुवाच-राक्षस! यद्रोचते, यच्च चिकीर्षसि, तत्सत्वरमेव क्रियताम् मरणान्तेऽप्यहं गृहीतव्रतं न त्यक्ष्यामि। ईदृशं कुमारोक्तं श्रुत्वा सोऽधिकं प्रससाद, तदैव राक्षसरूपं त्यक्त्वा देवतारूपं व्यधात् ततः स्थलजैर्वारिजैश्च रम्यैः सुरभिकुसुमैः कुमारमानर्च। अर्थात्कुमारोपरि सुकुसुमानां वृष्टिमकृत। जयजयारावं कुर्वन् स राक्षसः कुमारसमीपमाग-त्यैवमाचख्यौ। भोः कुमार! त्वं धन्योऽसि, मान्योऽसि, श्लाघ्योऽसि, किञ्च त्वादृशेन पुरुषरत्नेनैवेयं पृथ्वी रत्नगर्भेत्युच्यते। तवेदृशी

धर्मे दृढतास्ति, यादृशी क्वाप्यन्यत्र नैवास्ति मया ते भूयानुपसर्गः कृतस्तत्क्षम्यताम्।

पुरा ममाग्रे देवेन्द्रसेनापतिर्हरिनैगमैषी समस्तामरैर्मण्डितायामिन्द्रसभायां त्वां प्रशशंस, तच्छ्रुत्वा सर्वे देवा अतिविस्मिता अभूवन्। इतश्च सौधर्मदेवलोकेशानदेवलोकयोश्च नवाविन्द्रावुदपद्येताम्। तौ मिथो विमानस्यैकस्यार्थे युयुधाते, द्वात्रिंशल्लक्षाणि विमानानि सौधर्मदेवलोके वर्त्तन्ते, तथेशानदेवलोके विमानान्यष्टाविंशतिलक्षाणि विद्यन्ते। धिगस्तु यदेतावत्सु विमानेषु सत्स्वपि तावुभौ परस्परं मत्स्यौविव चिरमयुध्येताम्।

लोभो हि लोके बलवत्तरो हि, करोति सर्वं वशमात्मनो हि ।
जयेदमुं यो हि स एव लोके, धन्यः प्रशस्यो महतामपीह ॥१॥

व्याख्या - लोके-जगति लोभो महाबलवानस्ति, कमपि नोज्झति। सर्वं लोकोत्तरसमृद्धिमन्तमपि आत्मनः स्वस्य वशमाधीनं करोति, तर्हि निर्धनानां का वार्त्ता। अमुं-लोभं यो नरो जयेत्-त्यजेत्, स एव पुमान् लोके धन्यः कृतकृत्यः, महतामपि लोकानां प्रशस्यः-स्तुत्यो भवतीति भावः।

लोके युध्यमानमेकम्, अपरो वारयति। एवं देवं तथाभूतं देवो निवारयति। परन्तु यदा लोभाकृष्टचेतसाविन्द्रावेव मिथोऽश्वमहिषाविव युध्येतां तर्हि तौ कः शक्नुयाद्वारयितुम्। तयोरिन्द्रयोर्युध्यमानयोः कियान्कालो गतस्तत एकदा वृद्धदेवतयोक्तम् यन्माणवकस्तम्भे जिनेन्द्रदंष्ट्रा वर्त्तते, तस्या वारिणाऽभिषिक्तस्य तत्क्षणं महान्तो दोषाः प्रलीयन्ते। महीयानपि वैरः प्रलीयते। सकलाश्च रोगाः क्षणेन प्रणश्यन्ति। इत्थं विचिन्त्य काचिद् वृद्धदेवता जिनेन्द्रदंष्ट्राभिषेकजलेन परस्परं जिघांसन्तौ[1] तावुभावपीन्द्राव-

1. हन् + सन् - हन्तुमिच्छन्तौ ।

भिषिक्तवती। तत्प्रभावात्तत्कालमेव तावुभौ मिथो वैरत्वमत्यजताम्। तदनु वृद्धदेवतया तयोर्विमानविषये यथा निरणायि, तथा दर्शयति- दक्षिणस्यां दिशि यानि विमानानि सन्ति, तानि सर्वाणि सौधर्मेन्द्रस्य, उत्तरस्यां यानि विमानानि तेषां सर्वेषां स्वामीशानेन्द्रोऽस्ति। तथा पूर्वपश्चिमदिग्भागे यानि त्रयोदशगोलाकारविमानानि, तानि सौधर्मेन्द्रस्य। एवमेव प्राच्यानि प्रतीच्यानि यानि त्रिकोणानि चतुष्कोणानि च विमानानि सन्ति, तेष्वर्धं सौधर्मेन्द्रस्या- र्धमीशानेन्द्रस्य बोध्यानि। एष एव क्रमः सनत्कुमारमाहेन्द्रकुमार- देवलोकयोरप्यस्ति। इत्थं वृद्धदेवतया विभक्तं सर्वं श्रुत्वा तावुभाविन्द्रौ चिरजातमपि वैरं विहाय परस्परं प्रीतिभाजौ जातौ।

अथैकदा चन्द्रशेखरो देवो हरिनैगमैषिणं देवमपृच्छत्- हरिनैगमैषिन्! अस्ति कोऽपि जनः संसारे, यो हि वशीकृत- जगत्त्रयस्य लोभस्य वश्यतां नो धत्ते। देवेन्द्रौ भूत्वाप्यावां लोभग्रस्तचेतसौ परस्परं युध्यावहे, तर्हि मर्त्यानां का गणना?, हरिनैगमैषी न्यगदत्-भ्रातः! त्वं सत्यं जगदिथ, परं सर्वेषां मनांसि लोभाकृष्टानि न भवन्ति। अपरेषां वार्त्तां किं ब्रवीमि, साक्षादिन्द्रा- णीमप्यालोक्य यस्य चित्तं मनागपि न चलति, तादृश एको वसुसारश्रेष्ठिनः पुत्रो रत्नसारकुमारोऽस्ति, अयं सदैव निर्लोभो विद्यते, किमधिकमधुनापि देवार्पितमपि राज्यं पुराङ्गीकृत- व्रतभङ्गभिया न गृह्णाति। यद्राज्यं महान्तोऽपि जीवाः कामयन्ते परं रत्नसारस्तु तुच्छमेव गणयते।

रत्नसार! हरिनैगमैषिणोक्तमेतदाकर्ण्य चन्द्रशेखरो देवो नामन्यत, ततस्तव परीक्षायै सोऽत्रागत्य पुरा राक्षसीभूय निर्जनमेकं नगरं निर्ममौ सारिकां कृतवान्, आदावेवान्तःप्रविशन्तं त्वां न्यवारयत्। स एव तव राजकीयकीरं सपिञ्जरमपाहरत्। प्रान्ते समुद्र- पातादिनानोपसर्गस्ते विहितः। स एव चन्द्रशेखरदेवोऽस्मि।

महाभाग! मया तेऽतिगर्हितं कृतं तदधुना क्षमस्व, कृतागसि मयि प्रसीद, किमप्यभीष्टं वस्तु वरय। यतो देवदर्शनं सर्वस्य सफलमेव भवति, विफलं कस्यापि नैव जायते। रत्नसारोऽवादीत्-भो देव! ममार्हतशाश्वतधर्मप्रभावात्सर्वं विद्यते, कस्याप्यपेक्षा नास्ति, तथापि यदि त्वं किमपि दातुमीहसे, तर्हि मे नन्दीश्वरमहातीर्थयात्रां कारय? एतदेव त्वामभियाचे। ततश्चन्द्रशेखरदेवता तथास्तु, इति निगद्य सपिञ्जरं कीरं कुमाराय दत्तवान्। ततः पश्चात् नन्दीश्वरमहातीर्थयात्रां कारयित्वा सकीरं रत्नसारं कनकपुरं नगरमनैषीत्। तत्र च कनकध्वजनृपाग्रे रत्नसारमाहात्म्यं व्याख्याय सन्मान्य च मिष्ट-वचनादिना स देवः स्वस्थानमगात्।

अथ कन्कध्वजस्य राज्ञः श्वशुरस्याज्ञया सामन्तप्रधानादि-कतिपयोत्तमपरिवारयुतः पत्नीभ्यां सहितः कुमारः स्वनगरीं प्रति चचाल। मार्गे च प्रतिग्रामेषु राजभिः सत्कृतः कतिपयदिवसै रत्नसारो रत्नविशालां नगरीमाससाद। तत्रावसरे महत्या समृद्ध्या समागतं रत्नसारमवगत्य समरसिंहनरपतिवसुसारश्रेष्ठिप्रमुखाः सर्वे पौरास्तत्सम्मुखमागताः। महामहेन कुमारं पुरप्रवेशमकारयन्। ततः सुखेन समुपविष्टेषु पौरजनेषु नृपप्रमुखेषु सर्वं कुमारचरित्रं स कीरो व्याजहार। तदाकर्ण्य प्रमोदमापन्नाः सर्वे जनास्तुष्टुवुः। अथ पत्नीयुगलसंयुतो रत्नसारः शाश्वतमार्हतं धर्मं वर्धयन् सांसारिकमनुपमं भोगं भुञ्जानः कालं सुखेन गमयन्नासीत्।

अथैकदा तत्र नगरे रम्योद्याने चतुर्ज्ञानधरो धर्मपतिसूरीश्वर आययौ। तस्य वन्दनायै रत्नसारप्रमुखाः पौरजनास्तत्राजग्मुः। समरसिंहभूपोऽप्यागतः सपरिवारः। उपाविशंश्च सर्वे स्वोचितस्थाने। आचार्यवर्यश्च धर्मदेशनां प्राह -

धर्मार्थकाममोक्षाणां, यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव, तस्य जन्म निरर्थकम् ॥१॥

व्याख्या - यस्य पुरुषस्य धर्मार्थकाममोक्षाणामेषां चतुर्णां वर्गाणां पुरुषार्थानां मध्ये एकोऽपि न विद्यते-नास्ति, तस्य-पुरुषस्य जन्म अजागलस्तनस्येव निरर्थकं-निष्फलं भवति। भाषायामप्युक्तम्-

कंचन कामिनी कोय, काम नहिं आवे पछी ।
काल केरी फाल मांही, गयुं सहु जाणजे ॥

चटक दिवस चार, भटके मूढ गमार ।
अन्तर विचार यार, सार सौ संभालजे ॥

बादल घटानी जेम, परिवार विखराये ।
चांदनी दिवस चार, अंतर उतारजे ॥
आजकाल आश मांहिं, बीत गयो काल तारो ।
पाप करी मूढ पछी, अधोगति मानजे ॥१॥

जन्म्यो जग ते जन जे निज-
काम तजी परमारथ काज करे ।
जन्म्यो जग ते जन जे निज-
प्राण थकी पर प्राण अधिक धरे ।
जन्म्यो वलि ते जन जेह थकी-
शुभ धर्म सुकर्म सदा पसरे ।
मनमोहन तो जन्मे न मरे,
निज ध्यान सुधारसता समरे ॥२॥

साह्यबी सुखद होय मान तणो मद होय ।
खमा खमा खुद होय ते तो कशा कामनुं ।

जुवानी जोर होय एशनो अंकोर होय ।
दोलतनो दोर होय ए ते सुख नामनुं ॥

वनिता विलास होय प्रौढता प्रकाश होय-
दक्ष जेवा दास होय होय सुख धामनुं ।
वदे रायचंद एम सद्धर्मने धार्या विना जाणी लेजे,
सुख एतो बेएज बदामनुं ॥३॥

इत्यादि सुधारसप्रवर्षिणीं धर्मदेशनां श्रुत्वा सर्वे जनाः प्रमुदिताः। देशनान्ते च राजा रत्नसारविषये गुरूनपृच्छत्-भगवन्! एष रत्नसारो भवान्तरे कानि कानि सुकृतानि चक्रे येनेदृशीं कीर्तिं समृद्धिमप्यनुत्तरां सुखं चानुपममिह जन्मनि भुङ्क्ते, तदा गुरव ऊचिरे-राजन्! श्रूयतां कुमारस्य जन्मान्तरीयं चरितम्।

इहैव भरतक्षेत्रे राजपुर नामकं नगरमस्ति। तत्र जितशत्रुनामा क्षितिपतिरभूत्। तस्य श्रीसाराभिधानः कुमार आसीत्। तस्य च क्षत्रियपुत्रप्रधानपुत्रश्रेष्ठिपुत्रा मित्राण्यभूवन्। तेषु चतुर्षु मित्रेषु महान् स्नेह आसीत्, कोऽपि कस्यापि वियोगं क्षणमपि नाऽसहत।

अथैकस्यां रजन्यां राज्ञ्याः सौधे खात्रं दत्त्वा कश्चन महांस्तस्करो राज्ञ्याः सारतराणि भूयांसि धनाभरणानि चोरयामास। तदनु तानि चोरितानि धनाभरणानि लात्वा बहिर्गच्छन् कोट्टपालेन दृष्टस्ततस्तं गृहीत्वा दृढं बद्ध्वा च नृपान्तिकमनयत। तमालोक्य राजा तस्य कोट्टपालस्यैवमादिष्टवान्। भोः कोट्टपाल! एष शूलिकायामारोप्य हन्तव्यः। तदैव तेन स चौरः शिरो मुण्डयित्वा गर्दभोपरि निवेश्य नगरचतुष्पथादौ परिभ्राम्य शूलिकास्थाने नीयमानो मार्गे श्रीसारेण दैवाद् दृष्टः। तदा कुमारः कोट्टपालं तत्स्वरूपमप्राक्षीत्। तदा स यथाजातं चौरवृत्तं व्यजिज्ञपत्। तत्रावसरे दयासागरः श्रीसारो राजकुमारः कोट्टपालमित्याख्यत्-अरे! एनं मुञ्च, मम मातुर्धनमसौ चोरितवान्, अतः स्वयमेवाहमेतस्मै दण्डं समुचितं दास्यामीति। ततस्तं चौरं वधान्मोचयित्वा

नगराद्बहिरेकान्ते समानीय कुमारस्तस्येदृशीं शिक्षां ददौ-भो महानुभाव! तव राज्ञा वध आदिष्टः। परंतु अहं त्वाममोचयम्। अद्यप्रभृति चौर्यं मा कुरु, करिष्यसि चेत्तर्हि स एव दण्डो मिलिष्यति, इत्यादि शिक्षितश्चौरोऽपि तत्सन्निधौ चौर्यमद्यप्रभृति कदापि न करिष्यामीति शपथं-नियममकरोत्। ततः कुमारस्तं प्रच्छन्नतया विससर्ज। अहो महात्मनां माहात्म्यम्, यदपकारिजनेऽपि दयामेव कुर्वन्ति, परन्तु सर्वेषां पञ्च मित्राणि तावन्तो द्विषश्च भवन्तीति निसर्गः। तेन हेतुना कोऽपि कुमारविरोधी नृपकर्णे "कुमारेण शूलिकातश्चौरो मोचितः।" श्रीमता प्रभुणा निर्दिष्टस्य चौरवध-स्यान्यथाकरणेन कुमारस्य महानपराधो जात इति सूचयामास। तेन कुपितो नरपतिस्तदैव कुमारमाकार्य तदर्थमधिकं तिरस्कृतवान्। तथाहि-अरे! ममाज्ञाया अपि त्वया भङ्गः कृतः। नृपादेशभङ्गकरणे किं जायते? तन्न जानासि। इत्थं पित्रा तिरस्कृतः कुमारो मनसि खेदं वहन् कुत्राप्यन्यत्र ययौ। तदुक्तम् -

अरण्यं सारङ्गैर्गिरिकुहरगर्भाश्च हरिभिर्दिशो,
दिङ्मातङ्गैः सलिलमुषितं पङ्कजवनैः[1] ।
प्रियाचक्षुर्मध्यस्तनवदनसौन्दर्यविजितैः,
सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरगमनम् ॥१॥

व्याख्या - सतां-महतां पुंसां माने म्लाने-सत्यपमाने मरणं दूरगमनं-देशत्यागो वा श्रेयस्करं भवति। एतदेव स्पष्टीकरोति-प्रियायाः-कान्तायाश्चक्षुषा लोचनेन विजितैः-पराजितैः सारङ्गैर्मृगै ररण्यं-वनं सेवितम्। तथा प्रियाया मध्यभागेन विजितैर्हरिभिः सिंहैर्गिरिकुहरगर्भाः-पर्वतीयगुहान्तः सेवितम्। प्रियायाः स्तन-मण्डलेन विजितैर्दिग्गजैर्दिशः श्रिताः। वदनसौन्दर्येण विजितैः

1. सघन क्यारी में उगे हुए कमल ।

पङ्कजैःकमलैः सलिलमुषितम्, अर्थाज्जले निमज्जितम्। अन्यच्च-

आवृणोति यदि सा मृगीदृशी,
स्वाञ्चलेन कुचकाञ्चनाचलम् ।
भूय एव बहिरेति गौरवा-
दुन्नतो, न सहते तिरस्क्रियाम् ॥१॥

व्याख्या - उन्नतो महाजनः कस्यापि तिरस्क्रियामपमानं न सहते। एतदेव दृष्टान्तमुखेन दर्शयति। यथा-मृगीदृशी-मृगाक्षी काचिद् युवतिः स्वाञ्चलेन-वस्त्राग्रेण कुचकाञ्चनाचलं-स्तन-मण्डलात्मकं कनकगिरिं वारम्वारमावृणोति-आच्छादयति। परन्तु गौरवाद्धेतोः भूयः-पुनः पुनः बहिरेव एति-आयाति। अर्थात्-कामिन्या मुहुरावृतमपि कुचयुगलं पुनः पुनरनावृतं भवति। तत्र कारणमौन्नत्यमेव मन्तव्यम्। इत्थं मानिनां पुंसां प्राणहानितोऽपि मानहानिरतिदुःसहा भवति।

इतश्च श्रीसारकुमारे प्रयाते सति तस्य त्रयः सुहृदोऽपि सहैव चेलुः। कथितं च -

जानीयात्प्रेक्षणे भृत्यान्, बान्धवान् व्यसनागमे ।
मित्रमापदि काले च, भार्यां च विभवक्षये ॥१॥

व्याख्या - प्रेक्षणे-कार्यकाल उपस्थिते भृत्यान्-अनुचरान्, व्यसनागमे-कष्टे प्राप्ते समुपस्थिते बान्धवान्, आपदि काले-विपत्तावागतायां मित्रम्, विभवक्षये-क्षीणसम्पत्तौ भार्यां-स्त्रियं जानीयात्-परीक्षेत।

अथ सहैव ते चत्वारः सखायो[1] विदेशं गच्छन्तः क्रमेणैकत्र

1. इ नो ऐ आदेश (२-४-८३ सिद्ध.) ।

महारण्ये प्राप्ताः। तत्र च पथभ्रान्त्या सर्वेऽपि मिथो वियुक्ता भृशं क्लिश्यन्तो दिनत्रयं परिभ्रेमुः। चतुर्थे दिवसे सर्वे चैकत्र मिलिताः प्रमुदिता एकस्मिन्नगरे समायाताः। तत्र ते सर्वे कृतनित्यक्रिया विधिवत्खाद्यपेयादिसामग्रीं पक्त्वा यावद् भोक्तुमुपाविशन्, तावत्तत्र कश्चिदेको जिनकल्पी मुनिर्गोचर्यै समागत्य धर्मलाभमदत्त। तत्रावसरे शुभपरिणामी श्रीसारः शुभभावनया तस्मै साधवे निर्दोषाहारं ददौ। सत्पात्रदानात्तेन बहुभोग्यकर्माण्यर्जितानि। प्रधानपुत्रश्रेष्ठि-पुत्राभ्यां तद् दानमनुमोदितं, तेन ताभ्यामपि तथाविधं कर्म उपार्जितम्। किन्तु क्षत्रियपुत्रेण सुकृतहीनेनैवं प्रोक्तम्-अरे! मामधिकं बाधते क्षुधा अतो मदर्थं किञ्चिदवशेषणीयमिति। अनेन तु दानान्तरायकर्मबन्धनाद् भोगान्तरायकर्मैव बद्धम्।

तदनु तद्दुःखितो जितशत्रू राजा तं पश्चादाकार्य श्रीसारकुमाराय राज्यमदात्। प्रधानपुत्रं प्रधानपदे न्ययुङ्क्त। एवं श्रेष्ठिनः पुत्रं नगरश्रेष्ठिपदे क्षत्रियपुत्रं सेनाधिपतिपदे न्ययुङ्क्त। ततस्ते चत्वारोऽपि स्वस्वपदे तिष्ठन्तश्चिरं सुखमनुभूय मृत्वा स श्रीसारजीवः साम्प्रतं रत्नसारोऽभूत्। तौ प्रधानपुत्रश्रेष्ठिपुत्रौ मृत्वा रत्नसारस्य पत्न्यौ बभूवतुः। क्षत्रियपुत्रस्तु दानान्तरायकर्मयोगत इह जन्मनि कीरोऽभूत्। यश्चौरो जन्मान्तरे श्रीसारेण मोचितः स तापसव्रतं चिरं परिपाल्य प्रान्ते मृत्वा चन्द्रचूडनामा देवोऽभूत्। अतस्तेनात्र जन्मनि रत्नसारस्य साहाय्यं चक्रे।

इत्थं रत्नसारकुमारस्य जन्मान्तरीयं चरित्रमाकर्ण्य सर्वे नृपादयो लोका महताऽऽदरेण सत्पात्रदानं कर्तुं लग्नाः। जिनोदिते शाश्वते धर्मे च महतीं श्रद्धामदधत। रत्नसारोऽपि पुराकृतसुकृत-निचययोगात् पत्नीभ्यां सहितो नानाविधमनुपमं सुखं भुञ्जानो बहूनि धर्मकृत्यानि कृतवान्। तीर्थयात्रारथयात्रादिसद्धर्मकृत्यानि

बहुधाऽकरोत्। सौवर्णानि राजतानि जिनेश्वरबिम्बान्यनेकानि कारयित्वा विधिवत्प्रातिष्ठिपत्[1]। इत्थं महतीं जिनशासनस्य प्रभावनामकार्षीत्। तत्सङ्गत्या तदीये द्वे पत्न्यावपि धर्मकृत्यानि कर्त्तुमलगताम्, प्रान्ते पण्डितमरणेन मृत्वा रत्नसारकुमारोऽच्युते देवलोके देवोऽभूत्। ततश्च्युत्वा महाविदेहे समुत्पद्य जिनधर्म-माराध्य मोक्षं यास्यति।

भो भव्याः! इत्थं सम्यक्त्वसहितं परिग्रहपरिमाणव्रतं यथावद्ये समाचरिष्यन्ति, तेऽवश्यमिह संसारे रत्नसारकुमारवदनुपमां सर्वां सुखसमृद्धिमनुभूय प्रान्ते शिवश्रियमधिगमिष्यन्तीति परमार्थः।

शाकेऽब्दे नववेदभो[9 4 8] गिशशभृत्सङ्ख्यान्विते[1] माधवे,
शुक्ले शङ्करवह्निभातिथिबुधे श्रीरत्नसाराभिधम् ।
चक्रे पूर्णमिदं चरित्रमनघं गूडानगर्यां मरौ,
विद्वद्भूरिमुदे *यतीन्द्रविजयो* व्याख्यानवाचस्पतिः ॥१॥

शाक सं. १८४९ वैशाख शुक्ल ३ बुधवार

वि.सं. १९८३

1. प्र-स्था (प्रेरक अद्यतनी उ.पु.ए)

।। श्री धर्मनाथजिनेन्द्राय नमः ।।

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय स्वच्छाम्बरविहारिसुविहितसूरि-कुलतिलकसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-शासन-सम्राट-परमयोगिराज जङ्गमयुगप्रधानजगत्पूज्य-गुरुदेव-श्री-श्री १००८ श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरचरणार-विन्द-सेवा-हेवाक व्याख्यानवाचस्प-त्युपाध्याय श्री यतीन्द्रविजय (श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी) संदृब्धा

।। श्री अघटकुमार-चरित्रम् ।।

पुण्यफलदर्शकं –

श्री अघटकुमार-चरित्रम्

गुरुवरचरणसरोजं हृदये निधाय भवजलधिसुपोतम् ।
अघटकुमारचरित्रं रचयति सकलोपयोगकृते ॥१॥

अमुष्मिन् संसारे लौकिकसाहाय्यरहितानामपि पुण्यवतां प्राणिनामघटस्येव ध्रुवं विपदोऽपि सम्पद एव जायन्ते। तथाहि–

इहैव भरतक्षेत्रे सकलदेशशिरोरत्नायितोऽवन्तीनाम महीयान् देशो विचकास्ति। वरीवृत्त्यते चात्र सकलभुवनतलीयनगरवर-मण्डनी *विशाला*नाम्नी श्रीशालिनी नगरी। निवसति चाऽस्यां दासीकृता-ऽशेषविपक्षपक्षः *सुघटिता*ऽभिधानो भूजानिः। अस्य क्षितिभुजः सुरसुन्दरीव रूपलावण्यमञ्जरी *सुन्दरी* नाम्नी प्रेयसी विद्यते, यामालोकमाना दृढव्रता मुनयोऽपि क्षुभ्यन्ति। तयोश्चाऽतुल-बलपराक्रमी *विक्रमसिंह*नामा पुत्रो विभ्राजते। अस्ति चास्य *ज्ञानगर्भ*नामा नैमित्तिकः पुरोहितः। अथैकदा सभायामागत्य कोऽपि पुमान् कर्णाऽभ्याशे पुरोहितं किमपि न्यगादीत्। तच्छ्रुत्वा स नितरां विस्मयमापद्य तस्योत्तरं शिरःकम्पनेनाऽकरोत्। तत्रावसरे राजा सुविस्मितं पुरोधसमपृच्छत्, निमित्तज्ञ! विस्मयस्य कारणं मां कथय? सोऽवक् राजन्! एतत्कारणं मा प्राक्षीः। आकर्णिते चैतस्मिन् तव महान् खेदो भविष्यति। तदा पौनःपुन्येन तत्कारणं तस्मिन् पृच्छति सति स पुरोधा अपि तत्कारणं वक्तुमारभत। तथाहि–

स्वामिन्! ममालये काचिदेका दासी निवसति, तस्याः पुत्रो-ऽजायत। सपुत्रापि सा शूद्रा मामके कुटीरके तिष्ठति।

तदाकर्ण्य नृपोऽवदत्-भोः पुरोहित! सा दासी पुत्रमसविष्ट, तेन तवेदानीमियान् विस्मयाटोपः कथमजनिष्ट, मुधैव तवायं विषादः प्रतीयते।

तदा निमित्तज्ञः स राजानमित्याख्यत्-राजन्! मामवज्ञासीरेवं मद्वाक्ये, यदसौ शिशुः सकलक्षितिपतीनामखर्वदर्पहा[1] भूपतिर्भविष्यति।

पुनरूचे नरपतिः-भोः! यथाऽन्ये राजानो वर्तन्ते, तथाऽयमपि जायतां भूपतिः का ते हानिस्तेनापीति।

पुनरवोचद् नैमित्तिकः-क्षितिपते! स राज्यं करिष्यति, तेन मे मनागपि विस्मयः क्लेशो वा मानसे नोत्पद्यते। किन्तु त्वयि जीवति सति त्वदीयेऽस्मिन्नगर एव स नूनं भविष्यति सर्वेषां शासितेति विस्मयो मे महान् समुत्पद्यते। इदमेव विस्मयस्य कारणमवेहि। अनेन भवतां मनसि दुःखं सुखं वा समुत्पद्यतां नाम, परमेतस्मिन् व्यत्यासः[2] कर्हिचिदपि नैव भवितुमर्हति, शिलाक्षरवत्।

इत्याकलयन् कोपाटोपादन्तःकरीषाऽग्निरिव जाज्वल्यमानो नरपतिः क्षणमपि स्थातुमक्षमस्तदैव सभां विससर्ज। तदैव पुरोधसा सार्धं स नरपतिस्तत्र गत्वा समुदितं बालार्कमिव, कल्पतरोरङ्कुरमिव, द्वितीयायामभ्युदितं शशधरमिव, पुण्यानां निधानमिव, श्रीणां क्रीडोद्यानमिवाऽशेषराजलक्षणलक्षितं तं बालार्कमपश्यत्। तमद्भुतं विलोक्य राजाऽजल्पत्-विधे! त्वां धिगस्तु। यतस्ते सृष्टिरीदृशीयमजायत। येन च त्वयाऽविवेकिना नूनमिदं पुंमाणिक्यं दौष्कुल्येन कलङ्कितमकारि। सन्तश्च निर्धनाश्चक्रिरे। दुष्कुले च पुंरत्नमुदपादि। मूर्खा हि धनिनो विदधिरे। एतत्त्रयी तावकीनैव स्खलना प्रतीयते।

1. दर्पं हन्ति इति क्विप् दर्पहन् । 2. विपरीतः ।

इत्थं हर्षशोकौ मानसे विदधानो नरपतिः स्वसदनमागात्।

सायङ्काले पुनरेष मनस्येवमचिन्तयत्। हन्त, मत्पुत्रे मयि च जीवति सति कथमेष दासेयः शाशिष्यति मदीयाः प्रजाः। को जानीयात् विधेश्चेष्टितम्। अत इदानीमेव मया नखच्छेद्यतां नीतेऽ-मुष्मिन् नाऽऽयतौ कुठारच्छेद्यतामसौ जातुचिदपि नो व्रजिष्यतीति। अपि च-सुखेप्सुभिः प्रभुभिः समुत्थिताः कलहवह्नि-रोग-ऋणाऽरयो नोपेक्षितव्याः कदाचिदपि, यतोऽमी वर्धिताः सन्तो नितरां दुःखदा भवन्ति, अशक्याश्च प्रतीकर्तुं पश्चादिति निश्चित्य कृत्याऽकृत्यमगणयन्नेष नरराजस्तस्य शिशोर्विघाताय पदातिद्वय-माज्ञापयत्। अथ तावपि पुमांसौ तत्र गत्वा तां दासीं सुप्तामालोक्य तं बालकमुपादाय बहिः क्वापि निर्जनप्रदेशे समागाताम्।

तत्रैकः करुणया द्वितीयमेवमजल्पत्-भ्रातः! अमुष्य गर्भ-कल्पस्य सुलक्षणस्य शिशोर्मारणे मनसि मे महती घृणा समुत्पद्यते। अतस्त्वमेवैनं जहि, मुञ्च वा। तदाकर्ण्य द्वितीयोऽवदत्-हन्त! किमेवमाख्यासि, मत्पूर्वजा अपि भ्रमादपि बालहत्या-गर्भहत्यादि महापापं नैव चक्रिवांसः [चकृवांस], किञ्च को नाम प्राणी दीने वियुक्ते च मातापितृभ्यां शिशौ नानुकम्पां बिभर्ति, पश्य, विधुन्तुदोऽपि जात्वपि बालेन्दुं नो ग्रसति, एवं तर्हि मामेतमर्भकं हिंसितुं यदी-रयसि[1], तन्न शोभनं मन्ये। अतोऽयमर्भको मया नैव घानिष्यते, त्वयैवाऽयं करुणास्पदं हन्तव्यो मोक्तव्यो वा। इत्थं तस्य वधे विवदमानाभ्यामुभाभ्यामपि मनसि समुद्भूतप्रभू-तदयावद्भ्यां कुत्रापि जीर्णोपवने कूपोपकण्ठेऽत्याजि सोऽर्भको जीवन्नेव, समागत्य च तौ राजानमित्यजल्पताम्-स्वामिन्! इदानीमेव स कृतान्ताय बलीकृतः, तदानीं तयोः सुधोपमं तद्वचनमाकर्ण्य तत्कालमेव विशल्यतां मन्यमानः परमां निर्वृतिमापच्च।

1. ईरयसि कहना।

इतश्च महीयसः शिशोः प्रभावतः शुष्कमपि तदुपवनं समुद्भूतपल्लवकुसुमफलादिभिर्मनोरममभूत्। प्रातस्तत्रागत आरामिकः स्वोपवनं नवीनमद्भुतश्रियं विलोक्य निजवल्लभामभाषत-अयि प्रिये! विलोकय। दैवात्कीदृशी जाता वनशोभेति। अहो! किमिदं वनं नीरस्फारभारखिन्नो वारिदोऽसिञ्चत्, येन चिरशुष्कमपि पुनर्नवीभूतमवलोक्यते, किं वा स्वर्गान्नन्दनं वनं भूमावतीर्णम्। तदाऽत्याश्चर्यं पश्यन्ती तद्वधूरिति जल्पितवती-नाथ! नायमात्मीयः। स्वकीयो हि पुरा विशुष्कतरतरुलतादिक(कं) आसीत्। स ईदृशः क्षणादजायत, इति कदापि न सम्भवति। पुनरारामिकोऽवदत्-प्रियतमे! किमिति कथयसि। ममैवेदमुद्यानं, नान्यस्य कस्यापि, कथमात्मीयममुमाघाटं[1] विलोकमानापि भवती नात्मीयमिति जल्पति। ममैवेदमिति निश्चित्य प्रेयस्या सत्रा वनान्तरे पत्रैः कुसुमोद्गमैः प्रचुरफलैः शोभितां चेतोहरां तरुराजिं तथा सरित्तुल्या वहन्तीः कुल्याश्च पश्यन् मनसि भृशं तुष्यन् स तत्कूपाभ्याशमागात्।

तत्र स्थितमर्भकमवलोक्य मनस्यचिन्तयत्। अहो! क्रीडार्थमागतायाः कस्याश्चिदमरवध्वा विस्मृतापत्यमिवैष बालकः प्रतिभाति। तदनु स मालाकारः प्रोच्चैरघटोऽयमिति जल्पन् तमर्भकमादाय तदीय-सुकृतनिचयैः प्रोल्लसदाश्चर्यकारिमनोहारिशरीरत्विषां चयैश्च चित्रीयमाणो भवन् प्रेयसीं व्याजहार-सुन्दरि! एष शिशुः साधारणो नास्ति, कश्चन महाप्रभावो दिव्यात्मकोऽनुमीयते, यत्प्रभावात्तत्क्षणमेवाऽयमारामः पुनर्नवतामियाय। किं चैतत्प्रभावादेव कूपादुपर्यागत्य प्रणालीषु जलानि प्रसस्रुः। गृहीते चाऽमुष्मिन् पाणिभ्यां तानि पयांसि मनाग् न्यग्बभूवुः। किमेनं काचिन्मुग्धा सुरसुन्दरी-न्द्रनील-मणिं काचधियाऽजहात्। किमथवा शोणपा[2]-

1. सीमा। 2. रक्तवर्णः ।

षाणशङ्कया माणिक्यमौज्झत्। प्रियतमे! तव पुत्रो नास्ति, अतस्त्व-मेतमर्भकं महाद्भुतं गृहाण, तदनु सापि सहर्षं तं बालं समादाय स्वं(स्वां) पुत्रवतीममन्यत। पश्चात्सतनयां तां प्रेयसीं तत्रैव लतावेश्मनि स्थापयामास स मालाकारः। ततस्तदैवाऽप्रसूताया अपि तस्यास्तदनुभावतः स्तन्यमजायत। यद्वा-पुण्यशालिनां पुंसां क्षेत्रेऽपि खलं जायते।

अथ मालाकारः स्वकीयसमस्तज्ञातिवर्गे पुत्रजन्मव्याख्याय तदीयमहिमानं मलयोद्यानसम्पदा व्याचीकरच्च। महता महेन षष्टिजागरणादींश्च विधाय तदीयमनुगतार्थमघट इति नामधेयम-कार्षीत्। ततस्तेन निजावासे समानीतः सोऽर्भकस्ताभ्यां महीयस्या मुदा पालितो लालितश्च त्रिवर्षीयप्रायोऽभूत्। अथैकदा कृती स मालिकः पत्न्या उपरोधेन राज्ञः प्रीतिकृते काञ्चनात्यद्भुतां चेतोहरीं पुष्पमालां विरचितवान्। अत्युत्तमां तां च स्वप्रेयसीं तदैव मुदाऽदीदृशच्च। यतोऽमी मालिकनर्तकरजकप्रमुखाः कामिनी-प्रधाना एव प्रायशो जायन्ते। अथ प्रमोदभरं बिभ्रती मालिनी तद्दाम पुष्पकरण्डके निधाय दास्यै समर्प्य स्वयं च निजकट्यां सुतं समारोप्य नृपावासमागतवती। राजसभामागता ससुता सा मालिनी राजानं नमस्कृत्य दक्षिणहस्तेन तां स्रजं दधाना, देव! गृह्यतामिदं दामेति राजानं स्पष्टमाचष्ट सा, तत्रावसरे तां मालां महीशो मनस्तुरङ्गस्य सहसा नियन्त्रणां विधिरचितां वल्गामिव, कामचापस्य ज्यामिव, प्रमोदभरस्याऽश्रुलहरीमिव, ऋतुराजस्य श्रिया दोलामिव, मृग्या बन्धनाय जालमिव चिरमपश्यत्। कस्य कीदृशी दृष्टिरेतस्यां मालायामर्भके चामुष्मिन्निति बुभुत्सोर्महो-भर्तुस्तदानीं चपलतरादृष्टिः समस्तसभ्यजनोपरि पपात, यतः-राज्ञा भोगिनेवैक-दृष्टिना नैव भूयते। पश्यत्सु च सर्वेषु तां मालां तस्य पुरोधसो दृग् मनागपि मालोपरि नापतत्। किञ्च तत्र

दामनि भृङ्गीष्विव समेषां सभ्यानां दृष्टिषु निविष्टास्वपि गाढसंमर्दभीतेव पुरोहितस्य दृष्टिर्नाऽगात्। किन्तु तत्राऽर्भकोपर्येव नितरां पपात। तदालोकमानो राजा मनसि दध्यौ, अहो, सर्वे जना एतां मनोरमां स्रजमेव सहर्षं पश्यन्ति, एष पुनरमुं शिशुमेव ग्रैवेयकविभूषितं गाढं परिपश्यति निरपत्यवत्, कथमिति। तत्रावसरे स राजा तां मालामादाय सहर्षं पर्यधत्त, अदीदपच्च तस्यै मालिन्यै षोडशोत्तरसहस्रदीनारान् अतिप्रीत्या।

विसृष्टायां सभायां पुरोहितं जगौ-पुरोहित! सत्यं कथय। यत्ते दृष्टिर्मालां विहाय मालिनीतनये भूयसीं रतिं कथं कृतवतीति। सोऽजल्पत्-राजन्! स भूपालो भविष्यति, अतस्तदीय-सेवाहेवाकिनी मदीयादृष्टिरपरं सर्वं विसस्मार, केवलं तमेव सस्मार। इति नैमित्तिकवचः श्रवणान्मुखवातादादर्शे इव विच्छायतां प्रपन्नो महीजानिस्तत्कालमेव चिन्तासन्तापभागजायत। अहो! यस्य दासीतनयस्य पुरोहितोऽयं भाविराज्यमचीकथत्पुरा, सोऽर्भकस्तु मया प्रागेव मारितः, तदसौ कश्चिदपरः किमुत्थितः, स एव वा, स चेत् कथमनया तयोर्मातापित्रोः सकाशादलम्भि, इत्थमनेकशङ्काकुलीभूतो नरपतिस्तदैव तौ पुरुषौ रहस्याकार्यं पप्रच्छ।

भोः! तदा हन्तुमादिष्टौ युवां तमर्भकमवधिष्टाम्, अत्यजतां वा, अथवा कस्याश्चिद्योषितः करुणया समर्पितः किम्, एतत्सत्यमेव ब्रूताम्, यतो नेतार एकमपराधं चिरसेविनां क्षमन्ते, सेवन्ते च ते सकृदागसः पुरेव नेतारम्, इति मनागपि भीतिर्न कार्या, अहमस्मिन्नागसि वामभयं ददामि। इत्थं राज्ञो वचनं श्रुत्वा परस्परमुखावलोकनं विधाय विश्वस्तौ तौ यथार्थमेव तत्कथितवन्तौ। महाराज! भवदादेशाद्वधाय गृहीतोऽपि सोऽर्भकः कार्यान्तरे निर्घृणाभ्यामप्यावाभ्यां नाऽघानि, किन्तु तदानीमुद्भूत-प्रभूतकारुण्यात् पुर्या एतस्या दक्षिणभागे विशीर्णवृक्षस्याऽऽरामस्यान्तः कस्यचि-देकस्य

जीर्णतरस्य कूपस्य तटे जीवन्नेवाऽमोचि। परमेतत्सत्यं जानातु श्रीमान्, यत्तदैव सोऽर्भकः श्वापदादिसंयोगात्, कूपान्तः पतनेन वा कृतान्तस्याऽभूद्वैकालिकाऽशनमिति। तदाकर्ण्य क्षिति-पतिस्तौ पुमांसौ विससर्ज, यदेतत्कृत्यमकरुणजनसाध्यम्। तौ तु सकरुणौ। पुनस्तेनेदं तर्कितम्, यदेताभ्यामारामममध्ये समुज्झितः सोऽर्भको मालाकारेणाऽऽत्तोऽपरः कोऽपीति निश्चिकाय च निज-मनस्येवं स वसुधाधवः -

यत्खलूभयायत्तं भवति कार्यं, तदवश्यं विनश्यत्येव दुर्मन्त्रि-राजवत्। इत्यवधार्य क्षोणीपतिः कमप्येकं पत्तिमाकार्य समादिष्ट-वानिति, भोः! ममाऽद्य सभानिषण्णस्य या मालिनी पुष्पमाला-मर्पितवती, तस्याः सुतं निहत्य तदीयं ग्रैवेयकमानयतु भवान्। तत्पश्चान्नृपादिष्टः स पत्तिस्तदैव निर्घृणस्तुरगमारुह्य सायं तस्य मालिकस्य गृहाभ्याशमागात्। तत्रागत्य च यदकारि तेन तद्वर्ण्यते-देवराजकसामन्त! अयि माण्डलिककुमारक! हे तात! भो मज्जीवित! इत्यादि मनोल्लासनपुरस्सरं वलिं[1] तव करवाणि, अवतारणे च ते कोटिदीपोत्सवान् विधाय त्वज्जीवदुःखमादाय व्रजामि चाऽहम्। इत्थं हर्षातिशयेन वातूला सा मालिनी, कदाचित्करतालिकां दापयन्ती, कदाचिद्गायन्ती, कदाचिद्धासयन्ती, क्षणादात्मनः सुतं स्वेच्छया शिरस्यारोपयन्ती, क्षणं वक्षसि, क्षणं कटितटे, क्षणात्कर-कमलतले कुर्वती, तत्रागात्।

अत्रावसरे कण्ठाभरणभूषितं तमर्भकं तस्याः करादाच्छिद्य सहसैव स राजपुरुष आमिषं गृध्र इव गगने समुड्डीनवान्। अथाकाशे तमादाय क्राम्यतस्तस्य पुंसः शैशवात्सोऽर्भकः पौनःपुन्येन तात तातेति जल्पन् कूर्चं पितुरिवाऽकृषत्। सोऽप्यमुना बालकर्मणा

1. केशशोभाम्।

नितराममोमोदीत्। यतः *शिशूनां केलयः केषां प्रमोदाय नो जायन्ते,* अपि तु सर्वस्यापीति भावः। तदा मनसि दध्यौ च सः। यदयं बालो मामहितमपि पुनः पुनस्तात तातेति कर्णाऽमृतगिरा पितरममंस्त। अस्मात्कारणादमुष्मै द्रुह्यतो निर्दयस्य दुरात्मनो मम हृदयं किमिति न स्फुटिष्यति? कथं वाऽमुष्य हनने पाणिः प्रभवेज्जात्वपि। यत्कृत्वा जनः प्रेत्य महीयसीं भूयसीं च नारकीं यातनामसह्यां चिरं सहते। यच्च हिंसकोऽपि नोत्सहते कर्तुं तत्कथं कुर्याम्। धिग् राजसेवां या हि दुर्निवारव्यसनद्रुमवाटिकीभूय लोकान्महानरके पातयतितमाम्। किञ्च-यत्राऽग्नावभक्ष्यमिवाऽकृत्यं किमपि नास्ति। अथवा ततोऽधिका पापीयसी कापि राक्षसी नास्त्येव लोके। तदुक्तम् -

यद्वश्यतामुपगता जनता किलात्र,
घोरातिघोरमतिकिल्बिषकारिकर्म ।
चर्कर्ति मृत्युमधिगत्य हि बोभुजीति,
तद्धेहतां सुमतिमान्निह राजसेवाम् ॥१॥

व्याख्या - यस्या राजसेवाया वश्यतां=तदधीनतामुपगता-प्राप्ता जनता-जनसमूहः अत्र संसारे घोराऽतिघोरं=क्रूरतरं किल्बि-षकारि=पापकारि कर्म चर्कर्ति-अतिशयेन पौनःपुन्येन करोति। पुनः-मृत्युमधिगत्य-मृत्वेत्यर्थः तत्फलं यमीययातनादिकं बोभुजीति पुनः पुनर्भुङ्क्ते, तस्माद्धेतोः सुमतिमान् पुमान् इह लोके राजसेवां नेहताम् न कामयताम्।

हन्ताऽनेन घोरकर्मणा परत्र कां गतिं व्रजिष्यति नरपतिः। यदेनं क्षीरकण्ठमतिमुग्धधियं शिशुं जिघांसति पापीयानसौ लोभपिशाचग्रस्तः क्षितिपतिः। किमेष तदीयमवरोधं विदुद्राव, किमु कोषं वा मुमोष कुल्यो वा राज्यमादास्यमानः, शत्रुसुतो

वा, यो वा सोऽस्तुतमाम्। नूनमेतस्य वसुधाधिपस्य ग्रैवेयक-जिघृक्षयैव निनाशयिषा प्रादुरासीत्। अतोऽसौ पुण्यभारप्राप्यः शिशुजीवन्नेव मोक्तव्यः कुत्रापि, कण्ठाभरणमेव समादाय राज्ञे ढौकनीयमित्यवधार्य तदीयं ग्रैवेयं गृहीत्वा स पुमान् बहिर्देवकुले तमर्भकमजहात्। तदनु नृपान्तिकं गत्वा तद्ग्रैवेयकमर्पयामास। नृपोऽपि तदालोकमानो निष्कण्टकोऽहमभूवमिति मन्यमानोऽमो-मोदीत्तमाम्। इतश्च तत्र देवकुले दिदृक्षया गगनादवतीर्णं कञ्चनलेपयक्षं पुण्ययोगादघटः पर्यपश्यत्। स च निजतातमिव तं जानानः प्रमोदभरेण समालिङ्ग्य तदीयमुत्सङ्गमारुह्य तस्योच्चैस्तमं कूर्चमस्पृशत्। तत्रावसरे तात तातेति जल्पन्तं क्रीडन्तं निजाऽङ्कस्थममुं डिम्भं विलोकमानो नितराममोदत स यक्षोऽपि। असौ मधुरया गिरा मां पित्रीचक्रेऽतो मयाप्यसौ ध्रुवं पुत्रवत्पाल्यः। तदा तस्य शिशोः क्रीडाभिर्निशायास्त्रियामान् क्षणमिव स व्यतीयाय।

पश्चात्तत्रैवासन्नवनेऽपुत्रमश्वक्रयिकं देवधरनामधेयं वासित[1]-मवधिज्ञानेन विदित्वा स यक्षराट् तत्रागत्य शयनीये सुखसुप्तं तमुदलीलपत्-भव्य! निशावसानेऽधुना किं शेषे, इति मधुरया गिरा। सोऽपि तद्वाक्यमाकलय्य प्रबुद्धो भवन् मनसि कौतुकं विदधानः शयनादधोऽवतीर्य सुविस्मितस्तमूचिवान्-स्वामिन्! कोऽसि, किमादिशसि च, इत्थं तेन भणितो यक्षेश्वरोऽवादीत्। अहं यक्षेशोऽस्मि, वने च मदीये प्रत्यहं गमाऽऽगमं कुर्वाणो भवानत्र निवसति, कदापि किञ्चिदपि नोपद्रवयसे च, तेनाद्य त्वयि प्रसन्नीभूय तवान्तिकमागतोऽस्मि। किमपि रत्नादिकम-भीष्टं चेद्वरय, तदहं तुभ्यं दित्सामि, इत्थं यक्षराजेन प्रोक्तः स उवाच। भगवन्! भवदनुकम्पनेन सर्वमेतत्पर्याप्तमस्ति, केवलं पुत्रविरह एव नौ मनो नितरां विदुनोति, यदि प्रसन्नोऽसि तर्हि

1. प्रसिद्धम् ।

कुलश्रीवल्लीमण्डपं पुत्रं देहि। यतः-तं विना मनुष्यजन्माप्य-वकेशिवद्[1] विफलं प्रतिभाति। यदाह-'अपुत्रस्य गृहं शून्यमित्यादि' तच्छ्रुत्वा यक्षेशोऽजल्पत्। वत्स! विषादं मा गाः। कल्पवृक्षवन्मयि कामदे सुप्रसन्ने सति तव दुरापमपि सुलभमेवास्ति। प्रभाते च मन्दिरमागत्य मदङ्कस्थितोऽघटाभिधानो मत्पुत्रो गृहीतव्यस्त्वया, स हि निखिलराजलक्षणलक्षितो महाप्रभावशाली वसुधापतिर्भवितेति निगद्य स यक्षेशोऽदृश्यतामैत्।

तत्रावसरे स मनस्येवमचिन्तयत्-अहो! किमयं स्वप्नः, चित्तभ्रमो वा, काचिन्माया वा, यद्भावि, तद्भवत्येव जात्वपि नैव व्यत्येति, इति साश्चर्यः स प्रगे तस्य यक्षराजस्य मन्दिरमागात्। अथ यावदेषोऽन्तः प्रविशति तावत्क्वणच्चरणघुर्घुरोऽघटस्तातताते इति भाषमाणस्तदन्तिकमयासीत्। देवधरोऽपि वत्स! एह्येहीति ब्रुवंस्तमादाय मुदाऽऽलिलिङ्ग। तदनु यक्षपादौ नमस्कृत्य तमर्भकं निजसदनमनैषीत्। सर्वं नैशिकयक्षागमनादिवृत्तान्तं कथयित्वा निजभार्यायै तमद्भुतं बालमार्पयत्। सापि निर्धनो निधिमिव तमर्भकं गृहीत्वा जहर्षतमाम्। मत्पुत्रोऽयमिति कश्चिदपि मा कलहायिष्टेति लोकसमक्षं निगदन् देवधरस्तदैव द्राक् प्रयाणमकार्षीत्। अथ प्राक्तनाऽधिकतरसंस्कारवशाच्छैशव एव सर्वासु विद्यासु कलासु चाऽशेषासु नैपुण्यमासादयन् क्रमेण कलाकेलिकमनीयतमः सोऽघटः सौन्दर्यसारसदनं यौवनमलाप्सीत्। इतश्च प्रयातो देवधरोऽपि क्रमेणाऽङ्गवङ्गकलिङ्गतिलङ्गमगधादिनानादेशेषु पुनः पुनर्भ्रान्त्वा सकलनगरमौलिकमाणिक्यदामभूतायां विशालाऽभिधायां नगर्यां श्रीविशालायां पुनराययौ। तदैव च क्षोणीपतिं प्रणन्तुं सोऽचलत्। तस्मिन्नवसरे राजाऽवलोकनचिकीरघटोऽपि पित्रा सत्रा चचाल।

अथ पुत्रेण सह निर्गतो देवधरः पदे पदे समुल्लसदने-

1. फलहीन वृक्षवद्।

कविधक्रीडानाटकाऽवलोकनजान् कौतुकान् पुत्रं दर्शयन् नृपद्वार-मागच्छत्। तत्र गत्वा प्रतिहारिणमाख्यत्-भोः! राज्ञो मदागमनं निवेदय। प्रतिहारी तदैव सभामेत्य राजानं व्यजिज्ञपत्-स्वामिन्! कश्चिदश्वव्यापारी द्वारि तिष्ठति राजदर्शनार्थी। राजाह-सत्वर-मिहानय, ततस्तेन सह पुत्रादिपरिवारयुतः स राजसभामविक्षत्। ततः स कृती श्रेष्ठतरौ द्वावश्वौ नृपाय प्राभृतीकृत्य विधिवन्नमस्कृत्य यथास्थानमुपाविशत्। तदानीं पुनरपि पुरोधसो दृष्टिः पुरेव सुभङ्गं कामिनीव नवयौवनमघटं शिश्लेष। तदालोकमानः शङ्कमानश्च मनसि राजा तदैव तं देवधरं प्रसन्नमनाः सत्कृतवान्। सोऽपि नृपादिष्टमावासं मानसं मराल इव स्राग[1]गच्छत्। तस्मिन् गतेऽति-विस्मितो ज्ञानगर्भो राघवं वशिष्ठ इव तथ्यां वाचमुवाच-महाराज! योऽसौ नवयौवनः पुमान् देवधरं दक्षिणेन सदसि श्रीमताऽदर्शि, सोऽस्तेर्भूरिव त्वदीये स्थाने भविता, अत्रार्थे मनागपि संशयं मा कार्षीः, इति ज्ञानगर्भोदितं श्रुत्वा मन्दराचलेन प्रमथितः सरि-ताम्पतिरिव क्ष्मापतेर्मनश्चुक्षोभ। व्याहृतं च तेन राज्ञा-अहो! मयि स्वतन्त्रे सपुत्रे च राजनि जीवति सत्येव कथङ्कारमेतस्यां श्रीविशालायां नगर्यां राजान्तरो भवितेति। अत्याश्चर्यमेतत्। यत्सोऽपि कश्चिद्राजवंशीयो न, किन्तु दास्याः पुत्रः।

पुनश्चिन्तयति भूपः, किमेष स एव दासेरः किमपरो वा कश्चित्? नूनं तेनापि कण्ठाभरणमादाय कुत्रापि सोऽर्भको मुमुचे। अहो! भवान्तरे कीदृशं कार्यमनेन सुकृतं, बलवद्वास्य दैवं येन पुनः पुनर्हन्यमानोऽपि नैव हिंस्यते, सम्भाव्यते स एव बालः, नेतरः। कथमितरथाऽस्य नैमित्तिकस्य ज्ञानगर्भस्याऽऽस्यतः स एवाऽक्षरविन्यासः, सैव विस्मयपत्रिका च प्रादुर्भवतितमाम्। इत्थं चेतसि बहुधा चिन्त्यमानो राजाऽतिगूढं तस्य हननोपायमन्यदेव

1. स्राक् - शीघ्रम्।

पुनर्निरचिनोत्। तथाहि-नायमुपायान्तरेण कथमपि वध्यो भवितुमर्हति। अत एष देशादिदानेन वश्यो विश्वस्तश्च विधाय पश्चादनायासेनैव केनापि व्याजेन हन्तव्य इति।

अथ सायमायातं देवधरं सपरिच्छदं मुहुर्मुहुरघटं गाढदृशा पश्यन् राजाऽजल्पत्-भो महाभाग! अयं कोऽस्ति यस्त्वां निकषा, महाबाहुर्विक्रमेण सौन्दर्येण चाऽपरश्चक्रपाणिरिव दरीदृश्यते। पश्चात्सोऽप्यभाषिष्ट-स्वामिन्! एनमघटनामानं मामकं सुतं जानीहि। अमुष्य सर्वशास्त्रेषु कलासु च सर्वासु नैपुण्यमस्ति, अस्ति चायमशेषशस्त्राऽस्त्रयोधनपटीयान्। इत्थं तस्योदारगुणग्रामं शृण्वन्नवनीजानिर्भयोद्भूतैरपि रोमाञ्चैरानन्दित इव भवन्नित्यवोचत्। यद्येवमस्ति, तर्हि ते सुतो मामवलगतु तस्मै देशमेकं वितरामि। सोऽवक्-देव! मम कुले केनापि राजसेवा नाऽकारि, सर्वे पूर्वजा अश्वव्यापारमेव चक्रिवांसः [चकृवांस]।

अस्मिन्नवसरे पैत्रिकं वचो निशम्याऽघटः पितरमित्याचष्ट तात! स्वयमायान्ती स्वयम्वरे यं लक्ष्मीः कथं त्यज्यते। कौलिकी[1] तु शक्रचक्रिणामपि सा नैव श्रूयते। तस्माद्राज्ञः शासनं सहर्षमेव प्रमाणीक्रियताम्। इत्थं तयोर्वाचमाकर्ण्य राजा देवधरमित्थं बभाण-देवधर! मा भैषीः। त्वं तु कुलक्रमादागतमश्वमेव व्यप्रियस्व। केवलं तावकः पुत्र एव मया दत्तं देशमेकमादाय साम्राज्यं भुङ्क्ताम्। पार्श्वे चाऽमुष्य मामकीना एव पुमांसः स्थास्यन्ति। पत्तयोऽपि सर्वे मामका एव सेविष्यन्ते चैनं सदा। तं तु केवलं तद्देशशासितारमेव विदधे। इत्थमाख्याय तस्मा अघटाय राजा मथुराराज्यमदात्। *विश्वास्य मैनिको मीनेभ्यो मांसमिव।* तदैव च पुरोधा नृपश्च शकुनग्रन्थिं जग्रन्थ। निश्चिक्ये च महीपतिर्मनस्येवं-नूनमनेन कर्मणाऽसौ मे मुष्टिमध्ये पतितोऽभूत्। यद्य-

1. कौलिकी-वंशपरंपरागता।

पीदानीमेनं हन्तुमर्हामि, तथापि साम्प्रतममुष्य हनने लोके भूयान्महांश्च मेऽपवादो भविष्यति। इतीदानीमसौ न हन्तव्यः। तत्र गत्वा देशं शास्तु। पश्चादुपायेन हनने सर्वमीहितं सेत्स्यतितमाम्।

अथाऽघटोऽपि स्वांशं गोत्रज इव प्राप्तसाम्राज्यो द्वितीयेऽह्नि सुधाकिरा गिरा राज्ञा भणितः-भोः, अघट! तत्र याहि, देशं शाधि, नो चेद्दधिस्थलीं काका इवाऽध्यक्षं विना वैरिणः प्रजा लुण्टिष्यन्तितराम्। तदनु कृताञ्जलिरघटोऽपि नृपालादेशमुररीकृत्य सहर्षं तदैव राजकीयपत्त्यादिपरिवारयुतो मथुरां प्रत्यचलत्। तदागमनमाकर्ण्याऽऽनन्दमेदुरैः पौरैः सा मथुरानगरी देवपुरीव द्रागुत्पताकाऽकारि। तस्यां पुर्यां प्रविशतः समग्रबलशालिनः श्रीमतोऽघटस्य द्वारावत्यां हरेरिव काचिदनिर्वचनीया लक्ष्मीः प्रादुरासीत्। तदानीं ज्यायसां पौराणां गणश्चिरं जीव, चिरं नन्द, चिरं राज्यमकण्टकमेतद् भुङ्क्ष्व चिरमाश्रितलोकानां मनोरथांश्च पूरय, इत्याशीभिरेनं प्रेदिधत्। तथा पुरपुरन्ध्रीभिरमरीभिरिव भासमानाभिराशिषा भूयस्याऽभिनन्दितोऽघटाभिधो माण्डलिको महोत्तुङ्गं राजसौधं प्राविशत्। अथ दानमानवचनादिना लोकान् यथायोग्यमभिरञ्जयन्, राज्यं च नयेन कुर्वन्नन्येद्युर्निशायामेवमशोचत्-या लक्ष्मीः सुमित्रैर्न भुज्यते, यां चावलोक्य द्वेष्टारो वक्षांसि नो ताडयन्ति, तयाऽलम्। नैव श्लाघ्यते वा लोके सा लक्ष्मीरेधमानापीति।

अथ जाते च प्रभाते विज्ञप्तिं विलिख्य तातपादान्तिके प्रेष्य स्वदेश्यानां सहचारिणां सहस्रं स्रागानीनयत् सः। ततः समागतेषु स्वीयभटेषु तत्क्षणादेव राजपक्षीयांस्तान् सर्वानुत्थाप्य तत्स्थाने सर्वत्राऽऽत्मीयान् पुरुषानेव न्ययूयुजत्। किञ्च भो भोः! यूयमिदानीमेव नृपान्तिकं व्रजत, यस्माल्लोके समुपागते देवदत्ते न हि यज्ञदत्तः केनापि गीयते, इति तानजल्पीच्च। तेऽपि तदैव राज्ञः समीपमागत्य

सर्वमेतद्व्यजिज्ञपन्-स्वामिन्! तेनाऽघटेन दौवारिकोऽप्यात्मीय एव पुमान् स्थापितः, वयं च सर्वे विसृष्टाः। तच्छ्रुत्वा फालभ्रष्टो मृगारातिरिव चेखिद्यमानः पृथ्वीपतिः स्वान्ते किलैवमचिचिन्तत्। अहो, दृक्तु प्रसारितैवाऽतिष्ठत्, किन्तु वायुनाऽमुना कज्जलमक्षेपि, हन्त, दुर्दैवालोकितस्य मम मनोरथा रङ्कस्येव मनस्येवोदपद्यन्त, विलिल्यिरे च हृद्येव, असहायोऽप्यसौ पुराऽपि केसरीव दुर्निग्रह आसीत्, अधुना तु शक्रेणापि निग्रहीतुमशक्य एव प्रतीयते। हा हा! कीदृशं मे दुर्दैवं प्रादुरासीत्। यद्यद्विदधे, तत्सर्वं वैफल्यमेव नयते। ततो भूपतिः कुटिलमतिस्तान् विसृज्य गुप्तलेखेन तमघट-मित्यादिशत्-भोः सखे! पत्रमालोक्य द्रागत्रागत्य मम मिलित्वा जलादिकं पिबेः, यतो ह्यसाधारणं त्वन्मात्रसाध्यं कार्यमेकमुपतस्थे। अघटोऽपि तल्लेखमधिगत्य तत्क्षणं करभीमारुह्य सह पञ्चषैः पत्तिभिरज्ञातचर्यया निश्युपराजमाययौ। तत्रागतमघटमुदीक्ष्य राजापि तदानीं कृत्रिमं सम्भ्रमं दर्शयन् सखे! त्वादृशो भक्तो हितैषी च मम कोऽप्यन्यो नैवास्ति, एतत्सत्यमवेहि। इत्थं बाह्यमधुरा-लापेनाऽपृणोच्च। तदनु नृपोऽवक्-अयिसाहसिन्! सम्प्रति समुप-स्थिते सङ्गरे प्रेषितः कुमारः शिबिरे वर्तते, तत्पार्श्वे कोऽप्यन्यः [1]सांयुगीनः पुमानधुना नास्ति, अतस्त्वामिदानीमनवसरेऽप्यस्मार्षम्। त्वमधुनैव तत्र याहि, मार्गे क्वापि विलम्बं मा कार्षीः। त्वयि तत्र वर्तमाने सति सर्वेषां महीयानुत्साहो भविष्यतितमाम्। तदैव स्वहस्तेन लिखित्वा पत्रमघटाय नरेश्वरः समार्पयत्। राज्ञः कौटिल्यमजानानः सरलाशयोऽघटकुमारो नृपादेशमादाय तदैवा-ऽचलत्।

अथाघटकुमारो दिनान्ते कटकासन्ने नन्दनस्यानुमिव मनोहरं [2]शाड्वलद्रुमाणां वनमाप। तत्रैव पथश्रान्तः स पल्लवशय्यायां

1. युद्धे सहयोगी। 2. नयी घास उगी हुई हो।

सुखेन सुष्वाप, सिषेवे चैनं शीतलो मन्दसमीरणः स्वैरम्। किञ्च तदानीमेवेतस्ततः पर्यटन् स यक्षाधिपतिरपि तदीयसुकृतप्रचयैराहूत इव तत्रागत्। तथावस्थमघटकुमारमालोक्य सकोपं तत्पुरस्तादित्याख्यत्-हा हा! केन पापीयसा मदीय एष सूनुरिमां पथिकोचितां दशां प्रापितः। तदानीमवधिज्ञानेन तत्सर्वं राजेङ्गितं विदित्वा हा हा दुरात्मना राज्ञा सुघटितेनैष हन्तुमेव प्रहितोऽस्ति। तदनु तत्र राजनि साभ्यसूयो[1] यक्षेश्वरस्तत्क्षणादयःशल्यमयस्कान्तरत्नवद्राजादेशं तत्पार्श्वादाकृष्य वाचितवान्। तत्रैतदासीत्। एतस्याऽधौतपादस्य तालपुटं गरलं देयमित्यक्षरश्रेणीमालोक्य तत्कालमेव तामम्मार्जयत्। स पुनरवधिज्ञानेन कटकस्थां राजकुमारीं कुमारस्य सहोदरीमवेदीत्। अनेनाऽऽयासमात्रेण सा राजकुमारी परिणाययितव्येति विलिख्य तं राजलेखं पूर्ववत् स्थापयित्वा यातवान् सः। तदनु प्रातरुत्थायाऽघटोऽपि शिबिरमागत्य सम्मुखीनाय तस्मै कुमाराय नृपादेशमार्पयत्। तदा कुमारोऽपि तत्पत्रं पठित्वा मूर्द्धावतंसतां कृत्वा राजानमिव सिंहासने कुमारमघटं नीत्वा साष्टाङ्गमनमत्। ततस्तावुभावपि कुमारौ मिथः परिष्वज्य समुचितासने समुपाविशताम्। कुमारो भूयोऽप्यघटानीतं राजलेखमुन्मुद्र्य तदर्थमवधार्य दैवज्ञमाकार्य सम्भ्रमस्मेरलोचनः प्रश्नयामासिवान्-भो दैवज्ञ!, किमस्ति? अमुनाऽघटकुमारेण सत्रा सुन्दर्या अमुष्या मेलापको भविष्यति साधीयान्[2] राजकुमार्या इति विचार्यताम्, निगद्यतां चाशु सर्वमिति। दैवज्ञः स्माऽऽह-आयुष्यमन्! अनयोर्हरगौर्योरिवाऽतिश्रेयान्मेलापकः प्रतीयते, विवाहलग्नोऽद्यैव सन्ध्यासमये तद्वदेवास्ति शुभंयुः। तदाकर्ण्य कुमारो मनस्यशोचत्-मन्येऽस्मादेव कारणादेष स्वयमेवात्र जवात्प्रहितस्तातेन, सा मे स्वसा तु तत्र नाऽऽहूतेति। तदनु भूपसूनुरघटकुमारस्य जन्यावासमिवा-

1. साभ्यसूयः-ईर्ष्यालु। 2. साधीयः-अधिकश्रेष्ठः।

द्भुतं पटमन्दिरं निवासार्थमार्पिपत्। स्वयं विवाहाऽशेष-सामग्रीसङ्घटनायोद्यतो राजकुमारः क्षणाद् ब्रह्माण्डस्य सोदरमिव पश्यतां लोकानां चेतोहरमतिविशालं महामण्डपं प्राचीकरत्। अथ सायन्तने शुभवेलायां नृपनन्दनो महता महेन त्रिजगज्जनजनि-तोत्साहः स्वसार*मघट*कुमारेण पर्यणीनयत्।

अथ द्वितीयेऽहनि कुमारप्रेषितः कश्चिद्वर्धापकस्तत्र गत्वा राजानं व्यजिज्ञपत्-राजन्! दिष्ट्या वर्धापयामि, तत्र भवता यथा न्ययोजि, तथैव राजकुमारेण समपादि महीयसाऽभूतपूर्वेण महोत्सवेन। तदानीं तयोर्वधूवरयोः काचिदवाच्यैव शोभा बोभवामास, यां कोटिजिह्वोपि निगदितुं नो क्षमते। किन्तु सर्वे पुरावेदिनो जना हस्तावुत्थाप्यैवमूचिरे-यदीदृशी लक्ष्मीर्लक्ष्मीकेशवयोरिवेतरयोः कयोश्चिदपि वधूकाले नैवाऽजनीति। अमुया वार्तया तत्कालोद्भूता-ऽन्तर्विषादविह्वलीकृतो नरपतिरुत्सवं वर्णयन्निव मूर्धानमचकम्पत। किञ्च-रे दुर्दैव! मयि त्वमधुना विपरीतं फलं वितर वितरेति मुहुः परिगदन् मनसा विधिं धिक्कुर्वन् मनसि विस्मयाधिक्यं दधदपि राजा बही रञ्जित इवाऽभूत्तमां निजसुतोद्वाहश्रवणात्। हन्त! कुमारेण विपरीतमेव सर्वमकारि, अहमन्यदेवालिखम्, तत्तु नैवाऽकारि। अत्याश्चर्यमेतत्। यन्मम राज्ञ आदेशमवगणयता विनयवतापि कुमारेण ततो विपरीतं व्यधायि। अथवा मयैव विपर्यस्तधिया तथैवाऽऽलेखि तदा। अपि च-निजप्राज्यराज्यविलोपशङ्का-व्याकुलतया समुद्गच्छदश्रुपूर्णलोचनयुगलोऽपि महीपतिस्तदानीं सदसि जनान् बहिरानन्दमेवाऽदीदृशत् सञ्जाताऽसीमानन्दव्याजेन। इत्थं बहिरुच्चैस्तमं प्रहर्षं दर्शयन्नपि स्वान्ते दहनज्वालोपमया शुचा तातप्यमानः क्षितीशः सह कुमारेण वधूवरौ समाह्वातुं लेखं प्रैषीत् तत्र।

अथ राजलेखमधिकृत्य तदर्थमवगत्य च कुमारोऽपि तदैव

वधूवराभ्यां सत्रा चतुरङ्गया चम्वा शोभितस्ततोऽचलत्। अथ तदागमनसोत्सुकैरशेषैः पौरजनैरनुरागातिरेकान्नृपादेशात्प्रागेव नगर्याः शोभा महती व्यधीयत। अथ पथि पथि रागान्निर्निमेषेक्षणैः पौरैर्नरनारीगणैः सादरं निपीयमानः श्रीमानघटकुमारश्चक्रिवन्म-होत्सवे जायमानेऽन्तःपुरीं प्राविशत्। तस्मिन् काले सर्वे राजन्याः सामन्ताः सचिवादयो राजजामातरमघटकुमारं ढौकितैरुपायन-भरैरधिकं प्रौढं विदधिरे। इत्थं तदुपायनैरतिप्रौढिं गच्छति सत्यघटकुमारे पञ्चषाहेषु व्यतीतेषु च स महीपतिस्तद्वधाय निशायामेकस्यामित्यचिन्तयत्-इह लोके कस्यचिदपि पुत्र्या वंशोन्नतिर्न जायते, किन्तु पुमपत्येनैव जायते। अत एनं जामातरं केनाप्युपायेन हत्वाऽकण्टकीभूतमिदं राज्यं सूनवे मया देयम्। इत्यवधार्य कमपि घातुकं सर्वमासूच्य कृत्रिमसंभ्रमो नरेशस्तमित्थं दूतमुखादचिख्यपत्-वत्स! अस्मदुपयाचितपूर्तयेऽद्य रात्रावेकाकिना त्वया नगराद्बहिः स्थितामस्मद्गोत्रदेवीमभ्यर्चितुं तत्रागन्तव्यम्। एतन्नृपादेशमासाद्य सर्वां बलिपूजनादिसामग्रीमादाय करे चैकस्मिन् पटलिकां वामे च करे दधानः सोऽघटस्तां देवीमर्चितुमेकाक्येव निशि निजसदनादचालीत्।

तदा सौधगवाक्षस्थः क्षितिपतेः सूनुर्यान्तमघटमुदीक्ष्य दध्यौ-क एष योगीन्द्रो विद्यां साधयितुमिव निशि याति, अथामुं समीपमागतं भगिनीपतिमवगत्य तन्मूर्धनि राजकुमारः स्मेरमुखः पूगीफलेन जघान, बभाषे च-अये! महाधूर्त्त इव लक्ष्यसे। यतः-इयत्यामपि वेलायां रजन्यां व्रजसि। क्व यासि? किं च चिकीर्षसि, मामपि तदावेदय, इत्थं राजकुमारेण सादरं सानुरोधं भणितो-ऽघटस्तमाह-अयि शालक! अहमेतत्किमपि नैव वेद्मि, किन्तु राजादेशाद् ग्रामाद्बहिर्भवद्गोत्राधिष्ठात्री देवी जागर्ति, तदर्चायै प्रस्थितोऽस्मीदानीमनवसरेऽपि। तदाकर्ण्य कुमार आख्यत्-भोः!

एह्योहि, पर्याप्तमिदानीं चत्वरलङ्घनेन, अपि च तत्र भवान् नवविवाहितोऽसि, क्वापि किञ्चिदपि तव स्याच्चेच्छोभनं न स्यात्। सा चाऽस्माकं गोत्रदेवी लगति, तामहं स्वयमेव पूजयिष्यामि, भवांस्त्वत्रैव तिष्ठतु इति ब्रुवन्नधस्तादवतीर्य तन्नेपथ्यमण्डितः कुमार एव बलिपुष्पादिकमादाय देव्यर्चायै चचाल। अघटकुमारस्तु तत्रैव तस्थिवान्। इतश्च स राजकुमारो यावद् देव्यालयद्वारं प्राविशत् तावदाकृष्टचापः कोऽपि घातको व्यमुचच्छरम्। तेन विदीर्णहृदयो विक्रमसिंहः सहसैव कदलीस्तम्भवद् भूमौ पपात, तत्कालमेव व्यसुरभूत्।

तदैव तत्रत्यलोकाः किमभूत्किमभूदिति ब्रुवन्तः पूच्चक्रुः। हंहो! देव्यर्चायै समागतो राज्ञो जामाता केनापि पापीयसा पुंसा बाणेन न्यघानि, इति जल्पन्तः सर्वे योद्धारस्तत्राजग्मुर्महता सम्भ्रमेण। राजापि तदाकर्ण्य क्षणं मनस्यसीमं सुखमन्वभूत्। लोकानुवृत्त्तयैव[1] किं जातं-किं जातमित्यालपन् बहिः शोकातिशयं प्रकटयन् यावत्सपरिच्छदो भूपो राजपथमायातस्तावत्तत्राकृष्ट-खड्गोऽघटकुमारोऽप्यागत्य येन केनापि दुर्धिया छद्मनाऽयं कुमारो व्यसुरकारि, ध्रुवं तेन पापीयसा सिंहोऽजागारि, अथवा कृतान्तः प्राकोपि, इत्यादि जल्पन्तमुद्यतासिमघटं पुरस्तादवलोकमानः किमेतदिति विच्छायवदनोऽजल्पद् राजा।

तदाऽघटोऽवक्-देव! अहमिदानीमेकाकी पूजनार्थं गोत्रेश्वरी-मन्दिरं व्रजन् मार्गे कुमारेण पृष्टः सर्वमुदन्तमचीकथम्। तदनु कुमारेणाऽभाणि, त्वमत्रैव तिष्ठ, यतस्त्वं तन्मार्गमपि नो जानासि, रात्रावेकाकी कथं तत्र यास्यसि। अतो मयैव तत्राधुना यास्यते, इत्युदीर्य मया वारितोऽपि सहसैव कालपाशैराकृष्ट इव मदीयनेपथ्यं परिधाय स गेहान्निरगात्। तदैव कुमारदृश्वानो जना अपि राजानमिति

1. अनुवृत्तया = अनुगमनेन ।

व्यजिज्ञपन्। राजन्! अधुना तत्र मा याहि, यत कुमारो व्यसुर्जातः। साम्प्रतं प्रसादं कृत्वा निजसौधे पादोऽवधार्यताम्, यस्मादमङ्गलं मृताननं राजानो नेक्षन्ते, अथेदृशीं वज्रपातसोदरां गिरं श्रुत्वा शोकशङ्कुना कीलितो नरपतिस्तदैव ताम्बूलमहासीत्।

अथ निजसौधमागतो राजा मानसे निजे दध्यौ-अहो दैवस्य चरितं विधिरपि नो जानाति, सर्वतो बलवच्चाऽस्ति, केषामपि वाङ्मनसयोर्गोचरतां नोपैति। यच्चिन्तयति जनस्तत्तु विघटयति, अचिन्तितं पुनरेतद् घटयति, ईदृशं दैवमेव बलीयः प्रमाणं चास्ति, मनुष्याणाम्, ततोऽन्यच्चिन्तितमपि विनश्यत्येव। यदसौ कुमारो यत्नतो रक्ष्यमाणोऽपि सहसैव व्यपद्यत। एष दासेरः पौनःपुन्येन हन्यमानोऽपि लक्ष्मीमधिकाधिकामेव लेभानः। इत्थं शोकसागरे पतितो मेदिनीपतिः कथमपि रजनीं निर्गम्य, जाते च प्रभाते सुतक्रियां विधाय द्वितीये दिवसे सदसि सकलजनसमक्षमित्याख्यातवान्- हंहो! मत्पापं सर्वे शृणुत, अमुष्याऽघटस्य पुराकृतं सुकृतनिचयं पश्यत, ज्ञानगर्भस्य ज्ञानमपि कियदस्तीति प्रत्यक्षीकुरुत। जगदेतत्त्रयीं सर्वेषामाश्चर्यजननीमवगच्छत, असावघटो यदैवाऽजनिष्ट, तदैव तमदृष्ट्वैव केवलं जन्ममात्रश्रवणात् पुरोधा मामित्याचख्यौ पुरा, राजन्! एष ते राज्यं त्वयि जीवत्येव ग्रहीष्यतीति। ततो राज्यलोभेन धर्ममप्यहं नाऽजीगणम्, नैवात्मविशुद्धं कुलमजीगणम्। चाण्डालोऽपि यत्कर्तुं सहसा न प्रभवति, तदप्यहमचीकरम्। किञ्च-मया पापीयसा बाल्यादेवैष मारणाय विहितः सकलोऽप्युद्योगो विफलतामेव निनाय, परमेष निजपुण्यैः सदैव सुरक्षितोऽभूत्। इत्थं स्वकृतं पापं लोकसमक्षं प्रकाश्य तानापृच्छ्य तदैव पुण्योत्कटमघटकुमारं स महीभर्ताऽभिषिच्य तस्मै निजं प्राज्यं राज्यं प्रदाय सकलं जनं क्षमयित्वा गुरोः पार्श्वे स्वात्मकल्याणसिद्धये संसारोदधितारणसमर्थां दीक्षां

प्रपेदिवान्।

अथाऽघटोऽपि तद्राज्यमासाद्य निजजननीं, तौ मालिकौ, देवधरं, तानशेषान् वधकांश्च, तदैवाऽऽकार्य राज्यभोगिनो व्यधत्त। तदनन्तरमघटमहीपालो राज्यं प्राज्यं नयेन पालयन् विपक्षपक्षै-र्दुर्निरीक्ष्योऽपि नयधर्मयोर्वश्यतामैत्। तस्मिञ्छासति सति समस्ताः प्रजाः प्रामोदन्त। परां प्रतिष्ठां च निन्ये। विषादस्तु विषण्णीभूय-तद्विद्वेषिणां नगराण्यागात्। यस्य यात्रारम्भेऽपि सकला अपि भूपालाः सेवकतामेवाऽऽपेदिरेतमाम्, तस्य सङ्ग्रामकौतुकं केनापि नैवाऽऽपूरि।

अथैकदाऽत्युग्रतपो वारिधौतान्तरमलोत्करः केवली सुघटितो राजर्षिस्तत्राऽऽययौ। तमागतं श्रुत्वाऽघटराजोऽपि सपरिवारो महीय-साऽऽडम्बरेण समुत्पन्नप्रमोदातिशयस्तद्वन्दनायै तदन्तिकमागच्छत्।

अथ कनककमलासीनं राजहंसमिव राजर्षिं महीयस्या भक्त्या विधिवदभिवन्द्य पदातिरिव तदग्रे निषसाद सः, तदनु श्रुतिसुखं मनोहरं धर्मोपदेशं तदीयमुखारविन्दाच्छ्रुत्वाऽघटमहीपालः प्राग्भवार्जितं निजं चरितमप्राक्षीदसौ। तथाहि-भगवन्! मया भवान्तरे किमगण्यं पुण्यमकारि, येनाऽमुष्मिन् भवे विपदोऽपि सम्पदः समपद्यन्त। तदाकर्ण्य केवली समूचिवानेवम्-

राजन्! इह भरताऽवनौ विदर्भदेशावतंसभूतं कुण्डिनाख्यं महानगरं विलसति। तत्राऽऽस्ते वित्रासिताऽशेषविपक्षीभूतभूपः पुरन्दरो नाम क्षितिपतिः। तस्याऽऽसीन्महीयसी रूपलावण्या-द्युदारगुणगरीयसी शची प्रेयसी राज्ञी। यस्य च विद्वेषिगृहा अनारतं क्व दिवः, कुत्र भूपालाः क्व चाऽयं स्वामी, क्व चेदं गीतं, क्व च शिवानां रुतमिति खगारवमिषेणाऽऽक्रन्दन्तितमाम्। तस्य भूपतेर्गजभञ्जनो नाम तनयोऽभवत्, यो हि सङ्ग्रामावनौ गजराज-कुम्भान् अभनक्, कृतवांश्च नैजमन्वर्थं नाम। स चैकदा तुल्यवयो-रूपैर्वयस्यैः सत्रा नन्दनाकारं पुरोपवनमीयिवान्। तत्र च

कायोत्सर्गस्थितं गतस्पृहं निरहङ्कारं मुक्तेर्निःसोपानमिव कञ्चनमुनिमाम्रतरोस्तले व्यलोकत। तदा स्वरूपयौवनमदोन्मत्तो न्यूनधीः कृताङ्गराग-सौरभ्यवासितो पवनावनिर्भूपात्मजस्तस्य[1] मुनेः प्रस्वेदमल-दौर्गन्ध्यभरेण व्यथितस्तं जुगुप्साञ्चक्रे, दुर्मतित्वात्कुलाद्यैरवज्ञामपि तस्य भूयसीमकरोत्।

तस्मिन् काले कश्चिदेको वयस्यस्तमेवमभाषत, कुमारस्य भविष्यता पुण्यनिचयेन प्रणुन्न इव। अये कुमार! एनं भवान् माऽवहेलयतु। यदसौ पुण्यप्राप्यपदद्वयदायकः पावनादपि पावनः परमस्तीर्थोऽस्ति। ये खलु भव्यात्मानः परया भक्त्या महताऽऽदरेण नित्यममुं महात्मानं नमस्यन्ति, पूजयन्ति च, तेषामाशु सर्वार्थसिद्धयः करगता जायन्ते। अत एनं प्रणम्य निजं जन्म पवित्रीकुरु, यतो ह्यमुष्य दर्शनेनापि प्राणिनामनेकजन्मार्जितान्यपि पापानि तोयस्थलवणमिव क्षणाद्विलीयन्ते। इत्थं मधुपाकोपमां वयस्यभणितां गिरं समाकर्ण्य स राजपुत्रस्तन्मित्रं भृशं स्तुवन्नात्मानं निनिन्द। तदनु श्रद्धाभक्तिभरो राजकुमारस्तं मुनिं यथाविधि प्रणनाम। मुनिरप्यवधिज्ञानबलेन तमुपकर्तारं विदित्वा कायोत्सर्गं पारयित्वा कृपया धर्ममुपादिशत्।

तथाहि-भो भव्यात्मन्! इहापारसंसारसागरे पतितानां प्राणिनां धर्मात्परः कोऽपि त्राता नास्ति, धर्म एव जनान् सुखयति, स एव सदा जीवान् भवाम्भोधितो निस्तारयति, इत्थंभूतस्य धर्मवृक्षस्य कल्पवृक्षोपमस्यातिदृढं मूलं जीवदया निगदिता तीर्थकृता, स एवाऽमुष्य संसारसागरस्य तटोऽस्ति। किञ्च हिंसा हि क्रोधरिपोर्भल्लीव दोषाणां पल्लीव सर्वानर्थकरी जागर्तितमाम्, अतो भव्यैः सा हिंसा खलु सदैव त्याज्या धर्मतरुरेव कल्पतरुरिव सेवनीयः। किञ्चाऽस्मिन् संसारे प्राणिनो हि जीवहिंसया कुष्ठित्वं व्रजन्ति,

1. पवित्रकृता अवनिः येन पवनावनिः गजभञ्जनः।

कियन्तः कुनखा जायन्ते, केचिच्च व्यङ्गाः, अपरे च पङ्गवो भवन्ति। किमधिकं कथयामि, जीवहिंसावतां सर्वा अपि विपदः पदे पदे लगन्ति। पातयति च परत्र चामुत्र च महाक्लेशोदधौ। अतः सा हिंसा सदैव हेया, कदाचिदपि नोपादेया सेति। यादृशं पुण्यं सुखं च लोकानां जीवदयया जायते, तादृशं पुण्यं सुखादिकं वा सर्वे वेदा अपि दातुमलं नो भवन्ति, न वा विधिवद्विहिताः सर्वे यज्ञास्तत्पुण्यं जीवानां प्रयच्छन्ति। नैव समेषां तीर्थानामभिषेका वा तावन्ति पुण्यानि वितरन्ति। इत्थं मुनिमुखाद्धर्मं निशम्य प्रतिबुद्धो विशुद्धधी राजकुमारो निरागसां जीवानां निग्रहाऽभिग्रहमकरोत्। तदा लोकोत्तरोऽपि मुनिस्तस्य राजसूनोर्मनः प्रतिज्ञातार्थपालने दृढीकर्तुं भूयोऽपि जीवदयां प्रशशंस।

तथाहि-भो राजपुत्र! त्वमतः परं मुनीनामपि श्लाघ्यतामापिथः, यतः पारम्पर्यगतामपि जीवहिंसां जहिथ, इति हेतोर्निरतिचारजीवदयापरिपालनात्तव दुर्लभा अपि नराऽमरसम्पदः सुलभा एव भविष्यन्ति। परमेतन्महाव्रतं गृहीत्वा कदाचिदपि लोकानामनुरोधेन मा त्याक्षीः, यदुत्तमाः पुमांसः प्राणात्ययेऽपि स्वीकृतं नोज्झन्ति। यदुक्तम् -

अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं,
कूर्मो बिभर्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे ।
अम्भोनिधिर्वहति दुर्वहवाडवाग्नि-
मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥१॥

व्याख्या - पुरा स्वीकृतं कालकूटं प्राणापहारकरमपि विषम्, अद्यापि-अद्यपर्यन्तं हरो नोज्झति=नो जहाति, एवं कूर्मः=कमठोऽपि निजपृष्ठभागे दुर्भरामपि पृथ्वीं बिभर्ति=धत्ते, तथा सागरोऽपि पुरैकदा धृतं दुर्वहं वोढुमशक्यं वाडवाग्निमद्यापि वहत्येव, अतः-

सुकृतिनो महान्तो जना अङ्गीकृतं परिपालयन्त्येव, जात्वपि न जहतितमाम्।

इति मुनेर्वाचमाकलय्य कुमारः स्माह-मुने! प्राणं सुखेन त्यक्ष्यामि परममुं गृहीतं धर्मं कदापि नैव हास्यामि, यथा कश्चिद्-भव्यात्मा गर्तादौ पतन्तमालम्बं प्रदाय समुद्धरति, तद्वदधुना संसारकूपे पतन्नहं धर्मात्मकं दृढतरमालम्बं दत्त्वा त्वया कृपयो-द्धृतोऽस्मि। किञ्च मामिदानीमधर्मादेतस्मान्निवर्त्य शाश्वतसुख-प्रदे न्याय्ये धर्मपथे न्ययुङ्क्त भवानिति महानुपकारस्ते मया मन्यते। किञ्च-यदपेक्ष्यते तत्कथय, मामनुकम्पय, मद्दत्तं किमपि सम्प्रति गृह्यताम्, क्षम्यतां च मामको मन्तुरित्यादि[1] प्रार्थयन्तं विनीतं राजपुत्रं स मुनिरभाषिष्ट-भोः कुमार! साम्प्रतं निवृत्ताऽशेष-कामस्य परब्रह्मैकचेतसो मम किमपि नापेक्ष्यते, त्वं याहि, धर्मं पालय, राज्यं शाधि, इति।

अथेदृग्निरीहत्वादिगुणैस्तदीयैर्लोकाऽतीतैस्तपोभिश्च रञ्जितो राजपुत्रस्तं प्रणम्य निजगृहमाययौ। अथ वर्धमानमनोरङ्गस्तनूजं वल्लभमिवाऽनारतं जीवानुकम्पात्मकं धर्ममवन् स कुमारः सुखेन तत्राऽऽस्ते स्म। अथैकदा मासक्षपणपारणायायान्तं तं मुनिमालोक्य नत्वाऽऽत्मसदनमानीय प्रसन्नमना भक्तादियोग्यनिर्दोषमाहारं तस्मा अदात्, ततो मुनीन्द्रे तल्लात्वा निर्गते मेषादीनां यम इव महानष्ट-मीमहः समायातः। तस्मिन्महामहे सर्वे लोका बालेयान्[2]महिषान् छागांश्च बहून् क्षिप्रापूपानिव प्रगुणयामासुः। तदनु पुत्रसा-मन्तसेनानीपरिवृतः सन्नद्धभटसेनाङ्गः क्षितिपतिस्तत्र राजवाट्यां विनिर्ययौ। तत्रागत्य गोत्रेश्वरीं नमस्कृत्य तां यथामति संस्तुत्य महद्भिरुपचारैरभ्यर्च्य तस्यै बलिं दातुं कुमारमादिशद्राजा। तदा ते सर्वे कुमारा निर्दयहृदया धृताऽसयो यमसुता इव चेष्टमानाः

1. अपराध 2. बलि योग्यान्

स्पर्द्धया गजभञ्जनकुमारं बभाषिरे-कुमार! येन त्वया मृगपतिनेव पुरा दन्तिनां कुम्भोऽभञ्जि, भुजाबल! तदिदानीं सकललोकसमक्षं प्रत्यक्षं दर्शय, अमुष्मिन् महिषे प्रहरतु भवान् निशितासिमेनमरम्[1], यत्कस्य प्रहारादेष कुष्माण्डमिव झटिति द्विधा भवतीति लोकाः पश्येयुः। तदाकर्ण्य सोऽजल्पत्-अये कुमाराः! युष्माकमिव मामिका मतिरन्याये नोत्सहते प्रवर्तितुं मनागपि, कथं तर्हि निर्मन्तूनेताञ्जन्तून् हन्यामहम्। किञ्च नूनमेतत्प्राणिघातनं कैश्चित्प्राक्तनैरज्ञैर्धूर्त्ततरैः प्रावर्ति, जगदम्बा तु साक्षादानन्दरूपा शुद्धसत्त्वस्वरूपैषा वेदे निगदितास्ति, अनारतमेषा चराऽचरमिदं सर्वं रिरक्षत्येव, जात्वपि जीवमेनं जननीपुत्रमिव सा त्रिभुवनजननी नो जिघांसति, अतो जीवहिंसात्मकं सावद्यं बलिं विहाय तस्यै क्षिप्राऽपूपाद्यैरेव बलिर्दीयताम्, इति कुमारोक्तमाकर्ण्य तदन्ये न्यगादिषुः- कुमार! एवं मा वादीः। यथा लोके धेन्वर्थे तृणानि लुनतां ब्राह्मणानां दोषो न लगति, तथा देवीप्रीत्यर्थं महिषादीनिमान् पशून् घ्नताम-स्माकमपि दोषो नैव लगिष्यति, किञ्च-यथा वणिजां कृते शस्यानि, तिरश्चां कृते तृणादीनि, विहितवान् विधिस्तथाऽस्मदर्थमेतान् महिषच्छागादीन् पशून् विदधे प्रजापतिरिति हेतोरेतेषां बलिदाने मनागपि दोषो न लगति। त्वमशङ्कमनाः प्रहर? इत्थमसमञ्जस-मन्योऽन्यं जल्पन्तस्ते दुरात्मानः कुक्कुराः शूकरमिव तमेकं विलक्षीकृतवन्तः।

तदा पित्रादिमान्यजनैः प्रोत्साहितः कुमारः कृपाणमुद्यम्य तद्वधात् पुनः करुणोल्लासिचेता जवान्न्यवर्तत, एवं पित्राद्यैः पौनःपुन्येन हिंसां कार्यमाणोऽपि त्रिरुद्यम्याप्यसिं परमेकशोऽपि स तस्मिन् नैव प्राहरत। किन्तु-मुहुर्मुहुः पापकारिणमात्मानं धिग् धिगिति निनिन्दतमाम्। यतो-गृहीताऽभिग्रहोऽप्यहं प्रहारोद्यतोऽ-

1. अरं-शीघ्रम्।

भवम्। उवाच चैवम्-हन्त! एतदकृत्याचारादग्नौ प्रवेश एव श्रेयान्, अथवा विशुद्धचेतसां पुंसां यन्त्रनिपीडनेन मरणमपि वरं, न पुनर्गृहीतव्रतत्याग इति। इत्थं पश्चात्तापयतस्तस्य कुमारस्योपरि तुष्टा सैव देवी कृपालुत्वात्तदैव पुण्यकणानीव मनोरमाणि कुसुमानि ववर्ष। बभाषे च धन्योऽसि, कुमार! त्वमिवाऽपरो दृढप्रतिज्ञो विरल एवास्ति लोके। यदेवं नृपादिभिः प्रेर्यमाणो भवन्नपि शैल इव स्वप्रतिज्ञातान्मनागपि न चेलिथ। अतः परं ममाग्रे कोऽपि जीवबलिं मा कार्षीत्, यतश्चेयं जीवहिंसा महाघोरनरकं कर्तारं नयति, अत एनां दुर्गतिप्रतोलीमिव सर्वे लोकास्त्यजन्त्वेवेति। तदा देवीवाक्यं शृण्वन्तः सर्वे नरपतिप्रमुखा लोका देवमिव कुमारं तुष्टुवुः, जहुश्च जीवानां हिंसनम्, इष्टवैभवां प्राणिदया-मङ्गीचक्रुश्च। तस्मिन्नवसरे कुमारस्तु कृपोद्भूतं महाश्चर्यमालोक-मानस्तत्रैव परमात्मनि योगीव सर्वात्मना लीनो भवन्नासीत्। तदनन्तरं प्रमुदितमनसः सर्वे लोका निजनिजसदनमाययुः। तदनु स्वायुषः क्षये राजा स्वाराज्यं प्रपेदे। तत्स्थाने च गजभञ्जनकुमारो राजाऽभूत्।

अथैकदा रथयात्रायां रत्नमये रथे रोहणाद्राविव प्रचलिते सौधद्वारमुपगते सति हर्षोत्कर्षाद् भक्तिमान् राजा जगदर्च्यं जिनेश्वरमानर्च। चिरं राज्यं कृत्वा सत्यायुः परिपूर्णे नरेन्द्रो गजभञ्जनः शुभपरिणामेन कालमुपेयिवान्। स त्वमत्र धरित्र्यामधुना-ऽवतीर्णोऽसि, मुनिनिन्दाप्रभावतो नीचैर्गोत्रं तेऽभवत्। किञ्च-

मुनिदानमाहात्म्यात् तवेदानीमुत्तमा भोग्यसामग्री जज्ञे, जिनेश्वराऽर्चनप्रभावेणाऽत्र जन्मनि तिरस्कृतेन्द्रराज्यमिदं राज्य-मजायत। यत्तदा त्रिर्वारमुद्यतासिर्भवान् बभूवान्महिषस्य हननाय, तेन कर्मणाऽत्र भवे त्रय आपदो जज्ञिरे। परन्तु समुद्भूतकारुण्याद्यत्तदा तस्मिन्नसिमप्रहरन्नेव त्वं न्यवर्तथास्तेन ता आपदोऽपि सम्पद

एव समपद्यन्त। सोऽहं महिषजीवस्तदा धर्मं श्रुत्वा सञ्जातवैराग्य-वशादनशनमरणात् सुघटितो नाम राजाऽभूवमत्र पूर्याम्। तेनैव हेतुनाऽत्र जन्मनि त्वयि मम मनःप्रतिकूलतामापात्। बन्धूनामपि पूर्ववैरवदत्र जन्मनि वैचित्र्यमध्यजायत। ये चैते भवतामुपकर्तारस्ते सर्वे भवान्तरे तव सुहृद आसन्। सम्प्रति निज-निजकर्मानुसारेण भवता सत्रा राज्यसुखमनुभवन्तितमाम्, इत्येतद् गुरुमुखादाकर्ण्य जातजातिस्मृतिर्नरपतिः प्रत्यक्षमिव तदशेषमपश्यत्। अवोचच्च मेदिनीपतिस्तदैवम्-

भगवन्! अहमधुना भवद्वचनाऽऽलोकप्रभावतोऽज्ञानतिमिर-पटलीपिहिताक्षोऽपि सर्वं प्राग्भवीयमपश्यम्। तदैव सपरिवारो नरपतिस्तस्यैव गुरोः पार्श्वे भवाम्भोधेस्तरीमिव सम्यक्त्वमूलक-द्वादशश्राद्धव्रतात्मकां देशविरतिमुररीकृतवान्। क्रमशः सर्वारम्भ-परित्यागरूपं सर्वविरतिचारित्रमापद्य मतिमान् राजा क्षतनिःशेष-कर्तव्यः परमां निर्वृतिमाप।

भो भो लोकाः! अघटनरपतेरिदं प्राग्भवीयं सम्पदामापदां च निदानं चरितमाकर्ण्य महोदारे निरतिचारेऽमुष्मिन् धर्मकर्मणि मतिं कुरुत, प्रमादमतिं च जहित, येन कदाचिदपि मनागप्यमूर्विपदो युष्माकं नागच्छेयुः। स सुघटितो नरेन्द्रः पापेनैव प्रसिद्धं सुतराज्यवियोगजं महादुःखमायिष्ट। नीचकुलावतीर्णोऽप्य-सहायोऽप्यघटकुमारस्तु सुविहितैरगण्यैः पुण्यैरेव तदीयं प्राज्यं राज्यमग्रहीत्। अत ऐहिकाऽमुष्मिकसुखलिप्सवो भवन्तः सुतरामधर्ममुज्झन्तु, धर्ममेव चिन्तामणिमिव समाश्रयन्तु।

उक्तं च -

धनदो धनमिच्छूनां, कामदः काममिच्छताम् ।
धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥१॥

अथ प्रशस्तिः -

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयराजेन्द्रसूरीश्वरशिष्यः ।
मुनियतीन्द्रविजयोऽब्दे,
जलधिवसुनवभूमिते (१९८४) गुरुसप्तम्याम् ॥१॥
काव्ये मासि सहस्ये[1], शुक्ले दलेऽघटकुमारचरित्रम् ।
गद्यपद्यमयमेनं, मुदितमनाः समापयामास ॥२॥

1. पौष - १९८४ पौष शुक्ल पक्षे सप्तमी।

।। श्री धर्मनाथजिनेन्द्राय नमः ।।

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय स्वच्छाम्बरविहारिसुविहितसूरि-कुलतिलकसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-शासन-सम्राट-परमयोगिराज जङ्गमयुगप्रधानजगत्पूज्य-गुरुदेव-श्री-श्री १००८ श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरचरणार-विन्द-सेवा-हेवाक-व्याख्यानवाचस्प-त्युपाध्याय श्री यतीन्द्रविजय (श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी) संदृब्धा

गद्यसंस्कृतभाषात्मकं

श्री जगडूशाह-चरित्रम्

जगत्पूज्य-परमयोगिराज-
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपादपद्मेभ्यो नमः॥

गद्यसंस्कृत-भाषानिबद्धं

श्री-जगडू श्रेष्ठि चरित्रम्

शश्वत्संस्मरतामभीष्टफलदं पादारविन्दद्वयं,
नामं नाममनारतं सुमतिभिस्तोष्टूय्यमानं गुरोः ।
प्रख्यातं जगडूचरित्रमनघं गीतं सुविद्याचणैः,
कुर्वे धीरधियां मुदे हृदि सतां सद्गद्यपद्यात्मकम् ॥१॥

इह भरतक्षेत्रे निखिलपुरवरतिलकायमानं कच्छदेशे परमां शोभां वितन्वानं वरस्त्रीणां करकमलतलार्पिताऽऽदर्शमिव भासमानं महेभ्यजनैः शोशुभ्यमानं [1]भद्रेश्वराभिधानं महानगरमस्ति। यत्र श्रियं परित्रातुकामः सहस्रवदनः परिखाव्याजेन पातालतलादि-वात्राविर्भूतोऽतिदुर्गदुर्गच्छलेन सदा कुण्डलीकृतमहाकायश्चकास्ति।

1. सृष्ट्यां सर्वेषामुन्नताऽवनतदशा स्वाभाविकी वर्वर्तितमाम्। नैकस्य कस्यापि शाश्वती समुन्नतिरवनतिर्वा सन्तिष्ठते। यश्चैकस्मिन् दिने निजविशालसम्पत्त्या महत्या प्रतिष्ठया, व्यापारोन्नत्या, जनसङ्ख्यया च सकलं जगच्चकितं कुर्वन्नासीत्, स एव भद्रेश्वरोऽद्य निर्जनतामप्रभुतामव्यापारतां च दधानो निःश्रीको दरीदृश्यतेतमाम्। अधुनाप्यत्र ध्वंसावशेषाः खण्डेहरादयोऽपि सूचयन्ति चैत एवैतस्यातिप्राच्यताम्। कच्छदेशीयपूर्वविभागे जगज्जेगी-यमानकीर्त्तिकदम्बकं *जगडूश्रेष्ठिकारितं* द्विपञ्चाशज्जिनालयविभूषितं सौधशिखरिजिनमन्दिरमधुनापि बरीभरीति, चैतदर्बुदाचलीय-देलवाडास्थ-

किञ्च यत्र नगर्यां कृतैक- [1]राज्यश्रवणेन कलिराजस्य हृदये कामं शल्यमभूत्, एवं दिवानिशं देवमन्दिरेषु च जाजायमानघण्टाध्व-निभिराधिरजायत। अपि च यत्र निसर्गतः परिपीडितेभ्योऽतिदीन-जनेभ्योऽर्थिभ्यो दातुं दयां बिभ्रद्रत्नाकरस्तटे तरङ्गात्मकैः करैरेव रत्नानि विस्तारितवानिव भाति। यत्र च वणिजामापणे प्रसारितं सुवर्णराशिं रत्नराशिं चालोकमाना द्रष्टारः क्रेतारं च सुमेरोः समुद्राच्च समागतां सारलक्ष्मीं ध्रुवं मेनिरे। निशासु सौधोपरिसंस्थितानां मृगीदृशां चारुगीतं समाकर्णयन्तमात्ममृगं गमनाय शशाङ्कः कृच्छ्रा त्त्वरयाञ्चक्रे। निदाघकालेऽपि यत्र चन्द्रावलोकनाद् गलितामृताम्बु-

जिनमन्दिरसाम्यताम्। एतद् भव्यमन्दिरं पुरः पुरस्ताच्चतुर्विंशतिहस्तपरिमितायतं द्वाचत्वारिंशद्धस्तपरिमितलम्बमतिविशालचत्वरस्य पश्चिमे भागे विलस-तितराम्। एतन्मध्ये भगवतः श्रीमहावीरप्रभोर्मूर्त्ती राजते, प्रतिष्ठा ह्यस्या द्वाविंशत्यधिकषष्ठे(६२२) संवत्सरे जज्ञे। पुनरेतच्चतुस्त्रिंशाधिकैकादश-शततमे(११३४) विक्रमाब्दे वैशाखीपूर्णिमायां श्रीमालवंशोद्भवाः श्वेताम्बरजैना उददीधरन्। एतच्चैत्यसद्भावादेवेदं नगरं पवित्रं तीर्थभूतममानि।[1]

१. इतोऽन्यदपि *दुदाशाहीय*-वापिका *'सेलोरवाव'* इति नाम्ना प्रसिद्धिं गता नगरात्प्राच्यामद्यापि ध्वस्तप्रायकियद्भागा संलक्ष्यते। किञ्चेशानकोणे पुरातनं कुण्डमस्ति। यस्योद्धृती *रावश्रीलखपतस्य* शासनकाले केनापि भाटियाख्येन चक्रे। इतश्च पश्चिमे *आशापूरीमातुर्मन्दिरं* विद्यते स्म, परमिदानीं तदीयं भग्नप्रायं मण्डपमात्रमवशिष्यते, तस्यैकस्य स्तम्भोपरि संवत् ११५८ दृश्यते। ग्रामात्पश्चिमे च *साकरी* नाम्नी नदी वहति। वायव्ये कोणे च *फूलसर* नाम्ना प्रसिद्धोऽपि तटाकोऽस्तव्यस्तदशायां संदृश्यते। विक्रमीयत्रयो-दशशताब्द्या मध्यकालस्य पश्चाद्भागे कच्छदेशीयराजधानी भद्रेश्वरे किलासीत्। राजा तदानीं *भीमसिंह* नामा पडिहार आसीत्। तत्परोक्षे च गुर्जराधिपतेर्वीर-*धवलस्या*धिकारस्तत्राप्यभूत्। एतावन्तं कालं भद्रेश्वरस्य स्थितिः परितः समेधमानैवाऽऽसीत्, एतच्च वर्त्तमानभद्रेश्वरात्पूर्वस्यां विशालभूम्यां चासीत्। एतस्मिन्नेव प्रशस्यतमे प्राचीनभद्रेश्वरे गुर्जराधीशप्राप्तनगरश्रेष्ठीतिपदवी-कोऽगण्यश्रीपतिः पुण्यात्मा *जगडूशाहः* प्रादुरासीत्।

१. कृतमेकं राज्यं येन तस्य जगडूकस्य, कृते सत्ययुग इवैको धर्मो राज्ये यस्य तस्येति वा।

रिन्दुकान्तमणिमयनिलयो यूनां निशायां रतिश्रमोत्थितं खेदमपाहरत्। यत्र कामिनीनां वदनेन्दुमण्डलीयलावण्यपीयूषमधिकं निपीयानङ्गः साङ्गतामवापेव प्रतिभाति। यत्र भाग्यशालिनां श्रीमतां सदने विचारयुक्ता काचन क्रीडाशुकी 'सखीव भर्त्तुः कण्ठालिङ्गन-सुखामृतेन वियोगाग्निसन्तप्तं हृदयं सिञ्च, विद्युद्विलासचपलं दुरापमिदं नवयौवनं सफलीकुरुष्व' इत्थं चिरमानिनीं कामिनीं शिक्षयति। लोकानां यत्र देवेषु सद्गुरुषु च महीयसी भक्तिरस्ति। एवं दम्भलोभमदमत्सरैरुज्झिताः सदा सुकृतमतयो जना विलसन्ति। यत्र पुर्यां सुपात्रदत्तनिजवित्तराशिः समस्तदोषविमुक्तः कृतधर्मपोषः सौजन्यधन्यः कलितोच्छ्यशोराशिः समस्तो लोको विभाति। तत्रैव सुकृती श्रीमालवंशावतंसकः परिवारयुतः परमर्धिकः *श्रीसोल*[1] नामा महाश्रेष्ठी निवसति। निजकरनिकरैराकाशं सुधाकर इवाऽयं तमोऽपहैः शीतलैर्निर्मलैर्गुणसमूहैरात्मकुलं भूषयामास। तस्य प्रेयसी धर्मपत्नी *लक्ष्मी*रासीत्। सा च प्रशस्तोदारगुणशालिनी

1. सोलश्रेष्ठिनो वंशपरम्परा त्वित्थम्-जगद्विदिते श्रीमालमहावंशे विशुद्धमतिमान् महापराक्रमी 'वीयदु' नाम महेभ्यो बभूव। अयं हि व्यापारबलेनाऽमितां लक्ष्मीमर्जित्वा भूयस्सु जिनालयदानशालासङ्घयात्रावापीकूपारामादिविविध-पुण्यकार्येषु निजोपार्जितां लक्ष्मीं योजयन् जगति निर्मलं यशःकदम्बकमचिनोत्। तत्पुत्रो 'वरणाग' नामाऽभवत्। सोऽपि यौवने वयसि पितेव धर्मरसिको व्यापारे बहुधनानि लब्ध्वा कन्थकोटनगरमागत्य न्यवसत्। पुनरसौ कल्पलतेव दीनानां दारिद्र्यं निराकुर्वाणः शत्रुञ्जयादितीर्थयात्रां विधाय सर्वत्र नैजं सुयशः स्तोमं व्यतनोत्। अस्य *वासा*भिधानः सुतनयो जातः। अमुना च बहुविधानि शासनोन्नतिकराणि धर्मकार्याणि कृत्वा स्वकीयं जन्म साफल्यं निनाय। पारिजात-सन्तान-कल्पवृक्ष-मन्दार-हरिचन्दनैरेतैः पञ्चभिः सत्कल्प-वृक्षसदृशैः, *वीसल-वीरदेव-नेमि-चाण्डू-वत्स* इति पञ्चभिः सत्पुत्रैर्वासश्रेष्ठी कामप्यनिर्वचनीयां शोभामधत्त। एषु वीसलस्य लक्ष-*सुलक्षण-सोल-सोहीति* नामानश्चत्वारः पराक्रमिष्णवः पुत्रा उदपद्यन्त। तेषां सोलश्रेष्ठी विशेषद्रव्यसमुपार्जनाय भद्रेश्वरनगरे समागत्य प्राधान्येन न्यवात्सीत्।

चतुष्षष्टिकलापरिमण्डिता सती-शिरोमणिर्महौजसोऽतिविनीतान् सद्गुणाकरान् *जगडू-राज-पद्मा*भिधेयाँस्तनयानजीजनत्। एभिः पुत्रैस्तत्कुलं सूज्ज्वलं शुशुभे। तत्राग्रजो *जगडू* नामा महाभाग्यशाली जगज्जनानां मनस्तोषकरं गुणसञ्चयमकार्षीत्।

अथ पितरि स्वर्गाङ्गनाऽऽलिङ्गनाऽऽरम्भतत्परे सति प्रौढ-कुलभारधुरन्धरो जगडूरेव सर्वं गृहकृत्यं कर्त्तुमलगत्। ततः प्रीतिसुखावहाभ्यां भ्रातृभ्यां भूषितोऽसौ महत्या समृद्ध्या युक्तो धरातलेऽस्मिन् विधुरिव सर्वेषां सौख्यं जनयामास। अमुष्य रम्भातिलोत्तमोर्वश्यादिरूपविजित्वरी 'यशोमती' नाम्नी शील-शालिनी पत्न्यभूत्। ततः कनीयान् *राजा*ख्यो बन्धू *'राजल्लदेवी'* भार्यामतिरूपवतीं सतीमासाद्य सुखं स्वैरं बुभुजे। तदनु *पद्म*स्य *पद्मा*ख्या, सुरेन्द्रस्य शचीव, चन्द्रमसो रोहिणीव स्वीयतानव-सुकृतशतलब्धाऽतिरम्यसुषमानिचयेन रतिं क्षेपयन्ती ललना-जनमूर्धन्या भार्याऽभवत्। अथ सदा वितरणशाली पुण्यशाली कृती जगडूस्तुच्छमेतद्धनमगणयन् प्रावृषि वारिवाह इव सकला-र्थिभ्यो दानं ददाति स्म।

अथान्यदा नगराद् बहिः स कमपि पशुपालकमजाश्चारयन्त-मलोकत। तत्रावसरे स्वयूथमध्यगतामेकां मनोहरां ग्रीवाबद्ध-मणिमजामालोक्य स मनस्यचिन्तयत्-'अहो! सर्वश्रीदायकः सद्भाग्यलभ्योऽसौ मणिर्यदि मम गेहे भवेत्तर्हि मामकाः सर्वे मनोरथाः परिपूर्णा भवेयुः' इत्यवधार्य तस्मै पशुपालकाय विंशति-मुद्रां दत्त्वा मणियुतां तामजां निजसदनं निनाय। अथाऽजाकण्ठा-त्तमाकृष्य लक्ष्मीप्रदं मणिं स्वसद्मनि स धीमान् प्रच्छन्नतया प्रत्यहमानर्च। अथैतत्प्रभावात्तस्य जगडूकस्य गेहे शुक्ले शशिनः कलेव लक्ष्मीरखिला प्रावर्द्धत। तदनु चिन्तामणिरिव सोऽर्थिनाम-

भिलाषं महता दानेन प्रत्यहं पूरयन्नासीत्। ततः क्षीरनीरप्रभैः सद्दानकर्मजातैर्जगडूकीर्तिसञ्चयैस्त्रिलोकीयं धवलीकृता। तदनु *यशो मत्यां* स्वभार्यायां *प्रीतिमति*नाम्नीं पुत्रीमतिरूपवतीं धृतौ मुदमिव श्रीजगडूरुदपादयत्। तत्कुलकमलराजहंसी सा पुत्री हिमांशुकलेव क्रमशः परिवर्द्धमाना रतिरिव रूपलावण्यसम्पन्ना कस्य मनः कलया गिरा गत्या च नो जह्रे? अथ तारुण्यश्रिया शोभमानामेनां कन्यां यशोदेवाय सद्गुणगणालङ्कृतवराय ददौ। स च तत्पाणि-पीडनादूर्ध्वमचिरादेव मृत्युमवाप। *'अहो! कालस्य गतिर्बलीयसी वर्त्तते एष प्रतिकूलतामुपगतो लोकस्य शुभस्थानेऽशुभं जनयति।'*

इह जगत्यां स्वानुकूलमिच्छतामपि जनिजुषां सकला अपीच्छाः कस्यापि फलवत्यो नो जायन्ते। प्राणिनो हि संसारेऽत्र सुखमेव कामयन्तेऽनवरतम्। क्रियन्ते चाऽहर्निशं सुखानुभूतेरेव विचारणाः। अथापि समेषामदृष्टस्य पार्थक्येन ते सर्वेऽपि जीवाः शुभाऽ-शुभमदृष्टफलमाप्नुवन्ति। अर्थाद्यस्य यादृशं भाग्यं वर्वर्त्ति स पुमांस्तादृगेव फलमासुमीष्टे। दैवं हि लोके सर्वतो बलवदस्ति, एतदग्रे शक्तिमतामपि पुंसां काचिच्छक्तिर्नैव स्फुरति। एतत्प्राति-कूल्यादेवाष्टमः *सुभूम*नामा चक्रवर्त्ती चतुरङ्गचमूसहितः सपरिवार एव लवणोदधौ निमग्नतामैत्। अमुष्य दैवस्य प्रतिकूलत्वादेव द्वादशो *ब्रह्मदत्त*चक्रवर्त्यपि कुतश्चिदेकस्मादाभीरादन्धतामैषीत्त-माम्। अपि च तद्विपर्ययादेव सा स्वर्णमयी द्वारिकापि क्षणाद् भस्मसादजायत। येन *पुरुषोत्तमेन* त्रिखण्डाप्येषा जगती नैजेनाऽ-तुलविक्रमेण करगतीचक्रे, सेवन्ते चानवरतं यमिह सुपर्वाणोऽपि, स्थीयते च यस्य सेवायां वशंवदीभूय षोडशसहस्रमाण्डलिकैर्भूपैः, किलाऽऽसीच्च यस्य विष्णोः प्रेयसीनां द्वात्रिंशत्सहस्रमनन्यमनसाम्, इत्थम्भूतस्यापि विश्वम्भरस्य विष्णोर्विधिवैपरीत्ये प्रान्तसमये पातुं

पानीयमपि नाऽमिलत्। केवलं पानीयं पानीयमिति जल्पन् कलेवरमिदमजहात्। नैतावदेव जातम्, आजन्म सहचरीभूतो *बलभद्र*नामा बान्धवोऽप्यन्तसमये तदर्थजलाहरणव्याजेन प्रतिकूलतां नीतेन विधिना व्ययोजि। हन्त! महीयान् खेदविषयः। यत् त्रिभुवनपते*र्विष्णो*रपि प्राणप्रयाणवेलायां नैकोऽपि नाऽऽसीत्पार्श्वे। अहो! त्रैखण्डिकां श्रियं बिभ्रतो यदीदृशी दशाऽध्यजायत। तर्हि साधारणो जनिमान् प्रतिकूलतामुपनीते विधौ तादृशीं तदधिकां दशां नयेत्तत्र किमाश्चर्यम्? एषा तु मानुषीस्थितिर्दर्शिता। ये खलु सर्वर्द्धिमन्तो लेखा[1]स्तदधिपतय[2]ो वा विधिप्रातिकूल्ये स्वेच्छया किमप्याचरितुं नैव किलेशते। अमरेन्द्रा हि सदैव स्वेच्छायत्तं भोगं भुञ्जाना दिवानिशं वैषयिकं सुखमेवानुभवन्ति। सत्यपि सागरोपमे निजायुषि यदैति प्राणप्रयाणवेला तदा तेऽपि मर्त्या इव हा! हा! इति कुर्वन्तो म्रियन्त एव, निर्जरा अपि निजां दैवीं सम्पत्तिम्, लोकोत्तरमनुपमं भोगम्, कामिनीनां नवयौवनानां शाश्वतिकं नैरन्तरं विलासम्; चेतोहरं नवयौवनमिदं शरीरं च जात्वपि हातुं नो कामयन्ते। यदेते सुन्दरं शरीरमविनश्वरमिति मन्वाना मोमुह्यन्ते, याभिरमरीभिर्भव्यनव्यतारुण्यलोकातीतलावण्यवतीभिः सहात्मानमपि विस्मरन्तः सुखेन यावज्जीवं दिनानि गमयन्ति, तेष्वेतेषु पश्यत्सु क्षणादेव क्षीणतां याते स्वायुषि देवेन्द्रानपि सहसैव दुरतिक्रमः कालो ग्रसत्येव। क्षणमात्रमपि स्थातुं नो शक्नुवन्ति। दुर्ध्यानेन तथा म्रियन्ते यथा पापिनः किलाधोगतिं प्राप्नुवन्ति। क्षणेनैव सकलमिदं ब्रह्माण्डं मृद्भाण्डमिव चूर्णयितुं शक्तिमन्तोऽपि सुरेन्द्रा नूनमिदं दैवं पराभवितुं नार्हन्ति, तेऽपि तदग्रेऽशक्ता एव तिष्ठन्ति। तर्हि मानवाः पामरा निसर्गतो शक्तिविकलाः कथङ्कारं तत्प्रतिकूलं विदधीरन्।

1. देवाः। 2. इन्द्राः।

प्रीतिमत्याः प्राणेश्वरे प्रतिकूलविधिना सहसापहृते तत्र भद्रेश्वरे जगडूश्रेष्ठिना सपरिवारेण सत्रा सकलासु जनतासु कश्चिदभूतपूर्व एव हाहाकारोऽजनिष्ट, असह्यवैधव्यदुःखाकुला प्रीतिमती तु दिवानिशं शोकसन्तापेन सन्तसुं लग्ना। अजहाच्च तद्दिनादशन-पानशयनोपवेशन-परस्परालापान्। एवं दिनानुदिनं शोचन्तीं शरीरे च काश्यं नयन्तीं विमनसां प्रीतिमतीमुदीक्षमाणा आलयः क्रमशो जगत्स्थित्या तामाश्वासयितुं प्रारेभिरे तथाहि-

सरस्वती - अयि प्रियतमे सखि! शोकं जहीहि, जगदिदमशेषं क्षणभङ्गुरं जानीहि, केवलं त्वमेवेदृशं दुःखं न लेभिषे, भूयस्य-स्त्वदन्या अपि तडिद्गौरवर्णास्तारुण्यपूर्णा युवतयः प्राक्त-नकर्मयोगात्सञ्जातवैधव्या जगतीह सम्प्रति वर्त्तन्ते। सतत-रुदितोच्छूननयनाया भवत्याः किसलयादप्यधिकपेलवमिदं[1] गात्रं विच्छायं भवन्नितरां शुष्यतितमाम्, तत्किमिति न पश्यसि? विदुष्या अतिधीरमत्यास्तव तदर्थमतिशोको नो घटते। गतासूँश्च मूढतमा एव प्राणिनः शोचन्ति। शोकेन गतं वस्तु केनापि नालम्भि। नीतिवाक्यं स्मर-

''जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः, प्राणिनां सह जायते।''

अवश्यं भाविनो भावा, भवन्ति महतामपि।''

एवं तर्हि को नाम विद्वान् मिथ्यात्मके तत्र परिखिद्येत। यदिदं सोढुमशक्यं ते दुःखं विधिरददत, तच्चैतस्मिञ्जन्मन्य-प्रतीकार्यमेव विद्धि, इह हि कर्मपारतन्त्र्यमिताः प्राणिनस्तदनुसार्येव शुभमशुभं वा फलमधिगच्छन्ति। तदुक्तं नीतौ-प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः,

ललाटे लिखितं यत्तु, षष्ठीजागरवासरे।[2]

1. सुकोमलम्। 2. लौकिक मान्यता

नो हरिः शङ्करो ब्रह्मा, चान्यथा कर्त्तुमर्हति ॥१॥ इति।

या विपत्तिरवश्यंभाविनी तस्यामागतायां धैर्यावलम्बनमेव श्रेयस्करमवेहि, अमुना शरीरेण यथा सुखानि भुक्तानि भुज्यन्ते च, तथैव दुःखान्यपि भोक्तव्यानि। तत्र मनागपि व्याकुलत्वं न दर्शनीयं। भगिनि! सततार्त्तध्यानेन पापमेव भृशं लगिष्यति। यदि त्वदीयमिदमसह्यं दुःखमपहर्त्तुं देवोऽपि नैव बिभर्त्ति शक्तिम्, तर्हि मानवी शक्तिः कियती?। अतः सर्वमेतत्सांसारिकं स्वप्नोपम-मैन्द्रजालिकं वा विस्मरन्ती केवलं धर्ममार्ग एव मनो योजयन्ती धर्मशास्त्रमधीताम्। धर्म्यवचने पयसि निर्मले स्नात्वात्मानं पुनीहि, धर्म्यकृत्यमेव सततमाचरन्ती सुखेन जीवनमिदं व्यत्येतु।

विजया - सखि! प्रीतिमति! दुःखदावानलजाज्वल्यमानेऽत्र संसारे केवलमेवमेव दुःखम्। परिणयनस्यार्थं एव तथा लक्ष्यते, यदनेकविधोपाधिमध्ये निपतेत्, सुखलिप्सया दुःखजालबन्धनं च नयेत्। एवं सत्यपि तदेतद्वैषयिकं सुखं पयोमुखं गरलपरिपूर्णं कलशमिव निरतिशयसुखं जानाना जीवा दीपके शलभा इव निपतन्तो मरीम्रियन्ते तत्रैव। किञ्चात्र लोके जीवानां सुखदुःखयो-र्भुक्तिरपि प्राक्तननिचितकर्मणां परिणतिरेव प्रतीयते। भवान्तरे चामुना जीवेनाऽज्ञानदशायां यावन्त्युपार्जितान्यशुभानि कर्माणि, तेषामशुभकर्मणां विपाकोदये देहेऽस्मिन् जीवेन मनागपि नो सन्तप्तव्यम्, किन्तु तज्जातानि फलानि दुःखमयान्यपि धीरतया सहनीयान्येव। मुधैव तदर्थं क्लेशो न करणीयः। येऽप्यज्ञानवन्तो जीवा दैवप्रातिकूल्यात्कष्टे समुपस्थिते दुर्ध्यायन्ति, ध्रुवं ते पापमेव बध्नन्ति। अतोऽहं निगदामि त्वं तथा मा भूः, किन्तु दानशील-तपोभावनेति चतुर्धात्मकं धर्ममाराधय। अमुनैव ते लौकिकं पारभविकं च कल्याणमुद्गमिष्यति। किञ्च धर्मशास्त्रमधीत्य ज्ञानं सम्पाद्य नैसर्गिकचाञ्चल्यवत्यमुष्मिन्मनसि नैर्मल्यं स्थैर्यं च प्रापय।

विजया हि उद्वाहयोग्ये वयसि जातेऽप्यद्यापि कौमारव्रतमेव धत्ते। परिणयनविषये विचारान्तरमेवैषा निश्चितवती। अपरिणीतैव विषयदोषविमुखीभूय लोकेऽस्मिन् स्वातन्त्र्येण परमार्थकार्यं कुर्वती स्वात्मानं पुनीयामित्येव सा प्राधान्येन लक्ष्यीचक्रे। याश्च कामिन्यः सम्प्रति काले पतिता याताः, तासामुद्धृतिः कथङ्कारं सौलभ्येन मया कार्या, कथं वा स्त्रीसमाजं समुन्नतं कुर्वीय, कथमेताः साकल्येन स्वस्वकर्त्तव्यतां बुध्यन्ताम्। कथमेकोत्तमादर्शरूपिणी गृहिणीभूय निजगृहजीवने सुव्यवस्थापयन्ती, व्यवहारे पतिसेवायां निजसन्ततेः पालनलालनादौ चोच्चैस्तमादर्शरूपतां नीतेयं स्त्रीजातिरन्वर्थां स्त्रीरत्नतामुपेयात्। इमाश्च प्रशस्यसर्वोत्कृष्टं शाश्वतं मार्गमानेतुं कमुपायं करवाणीत्यादि भूयसी महीयसी विचारणैव निरन्तरं विजयामानसे प्रादुर्भवति, कादाचित्कोऽपि तदितराऽवमर्शस्त-दागाधहृदयं नाश्रयतेतराम्। निजजीवनस्यैतदुद्देशनैयत्येन सत्युद्वाहे सांसारिके बन्धने वर्त्तनमपि नान्वमोदि तया। इति तस्या हृद्यं निश्चयं जानद्भ्यां तत्पितृभ्यामपि तदुद्वाहचर्चाऽत्याजि। स्वमादर्शभूतं कर्त्तुमना विजया नैकविधनीतिशास्त्र-धर्मशास्त्र-शब्दशास्त्र-तर्कशास्त्र-काव्य-नाटक-वैद्यक-व्यावहारिक-प्रभृतीनि पापठीति-तमाम्। क्रमशः कामिनीसमाजे पठनपाठनोपयोगमपि तन्तनीति[1]-तरामेषा। विजयेयमोशवंशालङ्कारिणी बालाऽऽसीत्। एतन्माता-पित्रोर्गरीयसी सम्पदासीदत एतस्या गृहसम्बन्धिनी मनागपि चिन्ता नोदैत्काचिदपि। किञ्चेयं प्रीतिमतीव रूपलावण्यवती नाऽऽसीत्। किन्तु, दृढतरमना लावण्यशालिनी, मेधाविनी, तर्कविचारमालिनी, व्यावहारिके कृत्ये पटीयसी विदुषी मृदुभाषिणी स्त्रीणां सदैव सदुपदेशकरणदक्षिणा परमार्थानुरक्ताऽऽसीत्सैषा जन्मत एव। बाल्यादेवैषा पवित्रा परमोच्चश्रेणीमधिगता दोषैर्विमुक्ताऽभवत्।

1. विस्तार।

महाजनानामुपदेशा इतरजनेषु तत्कालमेव सफलीभवन्तीति सत्योक्तेर्महिमाऽपूर्वैवास्ति। ईदृशामल्पीयानप्युपदेशो लोकानामन्तष्करणेऽद्भुतां चमत्कृतिं जनयति। अत एव विजयोक्तवचनानां प्रभावः प्रीतिमत्या अन्तःकरणे पपात।

अथ *प्रीतिमत्याह* - सखि विजये! त्वादृश्याः सख्याः साहचर्येण सदुपदेशेन च मदीयमानसोद्वेगः स्वल्पीभविष्यति। जीवनमपि मदीयमस्मिँल्लोके किलादर्शतां व्रजिष्यतीति सम्भाव्यते। तावकी जीवनमहत्ता उच्चैस्तरो विचारश्च मह्यं रोरुच्यते। कालेऽस्मिन् जगत्यामस्यां त्वादृशी विद्वत्तमा नारी सकललनाऽऽदर्शभूता वनितासमाजेऽत्रावश्यमपेक्ष्यते तदुपदेशदानाय। अभूच्चाद्य त्वदुदितं वचस्तथ्यम्। पुरा त्वमेकदा किलैवं जगदिथ-यत्कामिनीनां परिणयने प्रायो दुःखमेव जायते, या हि परिणीयते नूनमेषा दुःखानां महागर्त्त एव निपतति, तदेतत्सर्वमहं निश्चितं पश्यामि। तदकुर्वती त्वमत्र लोके नितरां सुखिनी वर्त्तसे, जीवनमपीदमदुष्टं सुखेन गमयसि। सखि! पश्य पश्य क्व ते जीवनं प्रशस्यतमम्, क्व मामकं तत्, उभयोर्महीयान् भेदोऽस्ति। लोकेऽस्मिँस्तावकं स्थानमत्युच्चकोटौ वर्त्तते, भवच्चित्तमतिशुद्धमदोषमस्ति। मामकं मनस्तु नानाविधार्त्तध्यानरतं विद्यते। त्वमिदानीन्तनरमणीसमाजे सकले मुकुटायसे, ते चरणरेणुतुल्याप्यहं नास्मि। कियन्निगदामि नूनमहं दुःखसन्तापशोकाकुलीभूता महता कष्टेन जीवामि। शोकसागरमग्नाप्यहं मनः स्थिरयितुं सततं यतमाना तिष्ठामि च। परन्तु निसर्गतश्चपलं दुर्ग्रहमिदं मनः पुरातनीं प्रियतमवार्त्तां पौनःपुन्येन स्मारयति। ततो मामधिकं शोकविह्वलां विदधाति। अहह!!! मनोहारिरुचिकार्यपि नवनवोत्तमनीतिमयपुस्तकवाचनेऽपीदं मे सन्तप्तं मनः क्षणमात्रमपि नैव लगति। इत्थं प्रीतिमती प्रेयस्या विजयायाः पुरस्ताच्चिरस्थितमशेषं हृद्गतं

दुःखमयं वृत्तं व्याजहार।

अथ दुःखिनीं प्रीतिमतीं पुनः प्रतिबोधयितुं प्रावर्त्तत *विजया*। तथाहि-अयि प्रीतिमति! त्वदुक्तरीत्या मनोगतिरीदृश्येव वर्त्तते। तथापि तत्पारतन्त्र्यं नीता एवास्मदादयः सर्वे संसारिणो जीवा नानाविधानि सुकृत्यानि कुर्मः। अयि! मनस्येतद्विचारय! यत्सर्वदा मनोऽधीना एव तिष्ठामो वयम्, यच्च कामयते मनस्तस्य पूर्त्यै च वयं कमुपायं नाऽऽचरामः, धर्माधर्मावपि नो विचारयामः। न वा सुखदुःखेऽपि गणयामः, पृष्ठे गुप्त्या स्थितां भयङ्करीमापदमपि न पश्यामः। अरे रे!! एतस्यैव मनसः किङ्करीभूता जीवाः क्रूरातिक्रूराणि कर्माणि कुर्वन्तो दुर्गतौ निपतन्ति। अतिदुरापं मानुष्यं जन्म लब्ध्वापि जीवास्तन्मुधैव गमयन्ति। सखि! यस्य मनसोऽधीनतायां वयं सदैव तिष्ठामः, तच्चापि स्वाधीनं कर्त्तुं किञ्चिदपि त्वं विचारं चकर्थ किम्? इत्युदीर्य तद्विषये प्रीतिमत्या विमर्शं बुभुत्सुर्विजया मौनमाश्रित्य तस्थौ।

अथैतदुत्तरयति *प्रीतिमती* - सखि विजये! मनसोऽधीनास्तु सदैव वर्त्तामहे। तन्मनस्त्वस्माकमधीनं क्षणमात्रमपि न तिष्ठासति। अरे! एतन्मनो बहुधा प्रतिबोधयामि निरोधयामि चानवरतम्, परमेतत्प्रमत्तो दन्ती सादिनः शिक्षणमिव मनागपि नैव बुध्यते। ममैतन्निग्रहः शशविषाणवदेव प्रतिभाति। मादृशां जीवानां मनसो निरोधः सर्वथा दुराप एवास्ति।

विजया प्रजल्पति-प्रियसखि! न स्यादेवमिति नो जानीहि, शक्यते चैवमपि भवितुं। यद्यप्यादौ तन्निरोधे महती कठिनता बोभोति, यदेतन्निसर्गचपलं मन उच्छृङ्खलीभवत् पौनःपुन्येन विविधोत्पातं कुर्वन्नितरां बाधते, तथापि सन्ताभ्यासबलेन चञ्चलमपि मनः सुखेन स्थिरतामापाद्यते। भगिनि! सत्यं निगदामि, तदत्र लोके किमपि तथा नालोच्यते, यदनवरताभ्यासेन नो साध्येत।

एवं चेन्मनसो वशीकरणे नित्याभ्यासो वैराग्यं चाऽऽपेक्ष्यतेऽवश्यम्। वैराग्यमार्गे च गच्छतां तदभ्यासकारिणां पुंसां महान्त उपसर्गा दुःसहा उत्पद्यन्ते। तांश्च सहमानैरेव जीवैर्धीरतया तन्निग्रहे यतितव्यम्। तत्रोद्भूतक्लेशभिया निजसाध्यं कदाचिदपि नो हेयम्। इत्थमभ्यासजुषामायतौ सुखेन निर्विघ्ना तत्सिद्धिरुपैति।

अत्रान्तरे *सरस्वत्याह* - प्रीतिमति! अवश्यं लोके ह्यभ्यास-वैराग्ये मनसः स्थिरीकरणे सदुपयुक्ते वस्तुनी स्तः। सर्वथा विजयोक्तमेतत्सत्यमस्ति। अतस्त्वमिदानीं मानसिकखेदशोकादि-निरासार्थं स्वानुकूलमाचर*, पारमार्थिकधर्मकृत्यादौ मनो लग्नं कुरु। इदं हि लोके दुःखानामौषधदिनं कथ्यते। यथा यथा दिवसा यास्यन्ति तथा तथा तावकान्यमूनि दुःखान्यपि स्वल्पतामेष्यन्ति। यथा वा क्रमशस्तीव्रमिदं दुःखं विस्मरिष्यसि, तथा तथा तव मनोऽपि स्थिरतां शान्तिं चाधिगमिष्यति।

प्रीतिमती ब्रूते-भगिनि! सरस्वति! सम्प्रति मया किमपि नावलोक्यते, चित्तमपि स्वाधीनं नास्ति, परन्तु त्वादृशीनां विदुषीणां सहचरीणां सहवासादिना क्रमश एतत्सर्वं विस्मर्त्तुं प्रयतिष्येऽहमिति व्याहृत्य विरतायां प्रीतिमत्यां पुनरजल्पत्सा *विजया*-

प्रीतिमति! परिवर्त्तनमदः संसारस्य नैसर्गिकः स्वभावो वर्त्तते। लोके हि पुण्यानि कुर्वतां पापीयसां च जीवानां सुखदुःखरोगाऽरोग-विविधपरिवर्त्तनं सदैव दृश्यतेतमाम्। किमिति न जानाति भवती। यद् द्वाविंशतितमतीर्थङ्करो भगवान् नेमिनाथः परिणेतुं महता महेन चलितोऽपि मार्ग एव समुद्भूतवैराग्यस्ततः परावर्त्त्य स्वकीयं रथं, दीक्षां लातुमचालीत्, तदानीं तस्मिन् राजीमत्याश्च कीदृशं मोहबन्धनमासीत्। सैव राजीमती पश्चात् सति मोहबन्धनस्य

शैथिल्ये संजातवैराग्या भगवत्पार्श्वे दीक्षामादत्त। एवं प्रदेशीनृपः कीदृशः पापीयान् नास्तिकश्चासीत्, परं सोऽपि पश्चात्केशिकुमार-गणधरोपदेशात्कीदृशो धर्मविधौ दृढतरश्रद्धालुरजायत। वेश्यादेश्या कोशा स्त्र्यपि मुनिस्थूलभद्रमुनिवरोपदेशमादाय कीदृशी व्रतिनी सुश्राविकीभूय सिंहगुहावासिमुनेर्बाणविद्याकुशलताप्रदर्शक-राजरथिकस्य चोपदेशकरी जज्ञे। ईदृशपरिवर्त्तनेन जगत्येता-वत्सुखेनाऽवगन्तुं शक्यते। यन्मानवीयं मनश्चञ्चलं सदपि परिवर्त्तते। अस्थिरत्वादपि स्थैर्ये समेति। पापादपि विरम्य धर्ममार्गमारोहति, विमुच्यापि मोहबन्धनं वैराग्यमुपैति। तद्वदेव तवापि मनः क्रमिका-भ्यासेन निगृहीतं भवदचिरादेव शोकादमुष्माद्विरम्य वैराग्ये परिणतं भविष्यतीति तां प्रीतिमतीं शोकसागरनिमग्नामाश्वास्य परस्परं कियतीं समुचितां वार्त्तामालप्य च तस्या मनसः शान्तिं विधाय विजयाद्याः सख्यः स्वस्वसदनमीयुः।

परमित्थं सख्यादिना भृशं प्रतिबोधितापि सा प्रीतिमती मनसि मनागपि स्वास्थ्यं नाध्यगच्छत्। परं च दुःखानामसहनीयानां पौनःपुन्येन स्मृत्या रोरुद्यमानां स्वपुत्रीं प्रीतिमतीमपारयन्ती-मेतच्छोकान्तमालोक्य तदीयशोकेनातिदुःखीभवन् जगडूशाहः स्वतनयां पुरेव सुखयितुं सन्ततं तदुपायं गवेषयन्नेकदा निजोदार-मानसे निश्चितवानेवम्-''हन्त! सम्प्रति मामिका प्रीतिमती प्रेयसी पुत्री षोडशहायनैव वैधव्यमुपेयुषी। वर्वर्ति चैतस्या मनः सांसारिक-विविधविषयवासनातृष्णादिना किलातृप्तमेव। मनागपि तदुपरतं नैव लक्ष्यते। यावदस्या एता विषयवासनातृष्णादयो नो परिपूर्येरन्, तावदेषा दुःखिन्येव वर्त्स्यतीति मन्ये। न वा सम्भाव्यते-यदेषा यथावदेतद्वैधव्यधर्मान् परिपालयेत्। अतो यथेयं पुरेव यावज्जीवं धर्माऽविरोधेन सुखमनुभवेत्तथाऽऽशु विधातव्यम्। यद्यपि तथा कृते सति जातिज्ञातीया तदितरलोकीया च महती बाधा मयि

निपतिष्यति, जातिबाह्यं च लोका मामवश्यं करिष्यन्ति, परमेतत्सर्वं सुखेन सहिष्ये प्रतिकरिष्ये च तस्मिन् [विषये] जायमानमहोपसर्गानपि। किन्त्वस्याः शोकाकुलीभूतायाः प्रीतिमत्या अपारमेतद् दुःखं प्रेक्षितुं क्षणमात्रमपि नैव प्रभवामि। अतः शीघ्रमेनां सुखिनीं विधाय तदनु तत्रापतितां बाधां सकलां वारयितुं सुखेन यतिष्ये। अस्ति चैतदर्हो जयन्तसिंहः। यद्यसौ प्रीतिमतीं कामयेत साप्येनमभिलष्येत तर्हि तयोः पुनरुद्वाहः श्रेयान् स्यात्। यदि च लोके मृतायां भार्यायां पुंसां पुनरुद्वाहः शास्त्रानिषिद्धो व्यवहारसिद्धश्च भवेत्तर्हि स्त्रिया किमपराद्धं, येन ताः पुनः परलोकं गतवति भर्त्तरि पत्यन्तरं न कुर्युः। तासामपि सत्यां वासनायां पत्यन्तरविधाने को दोषः?, याश्च बालविधवा निजमनः संयन्तुमर्हेयुर्विषयवासनाव्युपरताश्च भवेयुस्ताः खलु स्त्रियः सुखेन पालयन्तु नाम यावज्जीवं वैधव्यधर्मानेव। याः पुनः सकामा एव वर्त्तन्ते, ता यदि लोकलज्जादिपारतन्त्र्यवशाद्वैधव्यधर्मपरिपालने तत्परिवारा योजयेयुस्तर्हि प्रान्ते विपरीतमेव तत्फलं समुत्पद्येत। अतो मया निजसुतामेनां सुखयितुमवश्यमेव कश्चित्प्रबन्धो विधेयः, तथा कुर्वतो मेऽवश्यं ज्ञातीयो महीयानुपहासस्तिरस्कारश्च सहनीयो भविष्यति। भवतु नाम तथा प्रेयस्याः पुत्र्याः सुखसंपादनेन तत्र जायमानः समस्तोऽपि क्लेशः सहर्षं सोढव्य एव।'

इतश्चैकस्मिन् दिने क्वचिदेकाकिनी समासीना विचारनिमग्ना पुरातनानि सुखानि स्मारं स्मारमपारे शोकसागरे मज्जन्ती प्रीतिमती कमललोचनाभ्यामश्रूणि पातयन्ती मृदुतरनिजकरकमलतलाभ्यां शारदपूर्णचन्द्रनिभाऽऽननं पिधाय भृशं रुरोद। सा हि स्वभावाच्चपलं स्वमनस्तदानीं पुस्तकादिवाचने वैराग्यसम्पादनपटीयसि विचारे च योजयितुं यतमानापि परमेतत्तु सुखमेव पश्यदासीत्। किलाऽऽसीच्च विषयवासनाभिरपूर्णकामम्। अतस्तासु वासनास्वेव

सन्ततं धावमानमासीत्। पौद्गलिके सुखमये विचार एव तन्मन एकान्तमासक्तमासीत्। मनसश्चाञ्चल्यादेव प्रीतिमत्याः शोकोऽल्पतां नाध्यगच्छत्। तस्मिन्नेवावसरे यशोमत्या सत्रा जगडूश्रेष्ठी तद्भवने समागत्य शोकपूर्णां प्रीतिमतीमद्राक्षीत्। अथ पुत्र्या दुःखेन दुःखितः पिताप्यस्याः सुखकृतेऽनेकसङ्कल्पविकल्पौ कर्त्तुं लग्नः। एषा केनाप्युपायेन यावज्जीवं सुखिनी कर्त्तव्येति स्वमनसि निश्चिक्ये च सः।

''हा हा!! जगति बालविधवानां युवतीनां स्थितिरतिकठिना वर्वर्त्ति। हन्त? विषयवासनावासितं सकामं तासां हृदयं चिराद्विरहानलसन्तप्तं भर्त्तारमन्तरा कथङ्कारं शान्तिं लभेत। यानि च लोके विविधर्द्धिसमृद्ध्यादीनि सुखसाधनानि विलसन्ति, सकलान्यपि तानि विषयासक्तचेतसां कामिनीनां मनः सुखयितुं कथं शक्नुवन्ति। विधवानां तु सर्वाण्यपि धनवसनभवनभूषणादीनि कामं खलु दुःखवन्त्येव भवन्ति। इत्थमेव प्रीतिमत्यपि यावज्जीवं दुःखमेवानुभविष्यति।''

तदीयदुःखेन दुःखितापि माता रुदतीं प्रीतिमतीमङ्के निधाय चित्तमस्याः सान्त्वयितुं प्रावर्त्तत-'पुत्रि! कथमेवमनवरतं रोदिषि?, किं ते प्रकृतिरस्वस्था वर्त्तते! शरीरे वा कश्चिद् व्याधिरजायत? यज्जायाते तान्निगद्यताम्। मातुः प्रश्नस्याऽस्योत्तरं किञ्चिदप्यददती प्रीतिमती केवलमुच्चैर्निःश्वासमेव मुमोच। अमुना मातुः सान्त्वनेन प्रीतिमत्या विशाले नयनयुगलेऽश्रुपूर्णे जज्ञाते। तदा स्वाञ्चलेन तन्मार्जयन्ती माता तामपृच्छत्-'पुत्रि! दुःखस्य कारणं ब्रूहि, यदि त्वं न निगदिष्यसि निजदुःखहेतुं तर्हि कः कथयिष्यत्यन्यः। अज्ञाते च दुःखे कथमहं तत्प्रतीकारं कुर्याम्? वत्से! त्वामतिदुःखिनीमालोक्याऽहमपि दिवानिशं दुःखिन्येव वर्त्ते। चित्तमपि तावकेन शोकातिशयेन शतधा प्रयाति, पितापि तवान्तिके

दुःखव्याकुलीभवँस्तिष्ठति। स्पष्टं ब्रूहि, यदिदानीं त्वां सुखयितुमावां कमुपायं कुर्याव।' जगडूशाहेनापि कथितम्-'प्रियपुत्रि! त्वमिदानीं निजाशयं मातरं ब्रूहि, किञ्चेदानीं कामयसे तत्कथय? यतः-''मातुरग्रे पुत्र्याः किमपि गोप्यं नास्ति। अज्ञाते च तवाभिप्राये तत्प्रतिकर्त्तुमहं कथं शक्नुयाम्?''।

प्रीतिमतीत्थमवोचत् पितरम्-पूज्यपितः! त्वदाश्रये वर्त्तमाना तत्रभवतां सस्नेहालम्बनमाश्रिता चाहं किमपि दुःखं नानुभवामि। मदङ्गेऽपि काचिद्बाधा नास्ति। जगति प्राणिनां सर्वेषां प्रारब्धकर्मजं दुःखं सुखं च भोक्तव्यमेव भवति। भोगमन्तरा तत्क्षयो महीयसामपि नैव सम्भवति। यदिदं मामकं दुःखं पश्यसि तत्तु यावज्जीवं स्थास्यत्येव। विधिरपि तदन्यथा कर्त्तुं नो शक्नोति। तस्मान्मयि दुःखिन्यां सत्यां भवद्भिर्मनागपि मनसि तन्नाऽऽनीयताम्। येन जीवेन भवान्तरे यदर्जितं शुभाऽशुभात्मकं कर्म तत्फलमनेन देहेन भुज्यत एव, तत्राऽन्येषां मुधा खेदो न युज्यते।' इति पुत्रीवाक्यं निशम्य पुनरुवाच तत्पिता-'वत्से! किमेवं जल्पसि? जगत्यसाध्यं किमपि नास्ति। सर्वेषां प्रतीकारो जायते, सम्यगनुष्ठिते तदुचितोपाये। अतस्त्वमेकदा स्वमुखेन मातुर्मुखेन वा स्वाशयं श्रावय, यदहं झटित्येव तद् दुःखमपनीय त्वां सुखयितुमुपायं करवाणि।' मध्ये यशोमती प्राह-'पुत्रि! यदि पूज्यस्य पितुर्भाषितं साधु जानासि तर्हि स्वान्तस्थं भावं ममाग्रे प्रकटीकुरु, येन तत्प्रतिक्रिया क्रियेत। मनस्येव व्याकुलीभूय भृशं रोदिषि, पृष्टापि किमपि नो जल्पसि, तव रोदनेन शोकेन चाहमपि रोदिमि शोचामि च। त्वमेकाकिनी सततं रोदिषि मामपि रोदयसि, मतिमत्यास्ते समुचितं न भवति।'

मातापित्रोरित्थं वचनमाकर्ण्य मनसा वेपथुमती प्रीतीमती हृदये हस्तं निधाय मनसि दार्ढ्यमानीय गम्भीरया गिरा तावुवाच-'पूज्यौ! मातापितरौ! अहमेकैव भवतोः पुत्र्यस्मि, अत एव मय्यनुपमं

स्नेहं कुर्वाथे, मां सर्वदा सुखयितुं कामयेथे, मामकीमभिलाषामपि पूर्णयितुं युवां चिकीर्षथः। नूनमेतत्सकलं ममोपरि भवदनुपमामित-शुद्धस्नेहं सूचयति। तावकेदृशसुशीतलच्छायायां वर्त्तमानायां मयि कथं नाम दुःखं जायेत? देहिनां सर्वेषामपि प्रतिभवं त्वादृशौ पितरौ जायेताम्, येन लोकेऽस्मिन् सन्ततीनां महदपि दैवादधिगतं दुःखमत्यल्पतां व्रजेत्। पितरौ! मां सुखयितुं भवद्भ्यामियान् प्रयत्नः क्रियते, परमेष क्रूरातिक्रूरो विधिः सुखातिशयशैलशिखरा-दवतार्य महादुःखगर्त्ते सहसैव यावज्जीवं मामपीपतत्, तच्च कोऽपि दूरीकर्त्तुं नैव मनुष्यः प्रभवति। अनवसरे खलु स्त्रीजातीयाया मम यदभाङ्क्षीत्सत्यं सुखं तस्य यदा यदा स्मृतिर्जायते, तदा तदा हताशमेतन्मे हृदयमगदनीयमेव दुःखमनुभवति, तदाहं तन्मनः स्थिरीकर्त्तुं वैराग्यपथमानेतुं च प्रयतमानापि तथाकर्त्तुं कदाचिदपि नैव पारयामि। हा! हा! किं कुर्यामिदानीं? ममैतद्दुःखं विहन्तुं देवोऽपि शक्तिमान् न भवितुमर्हति, तर्हीतरेषां कियती शक्तिः? तदेतत्पूर्वार्जितामिताऽशुभकर्मपरिपाकोदयमवश्यमेव भोक्तव्यम्। स्नेहग्रथिला अपि मातापित्रादयः परिवारास्तत्कथमन्यथा कुर्वीरन्। यदुक्तम्-'अवश्यमेव हि भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।'

यद्यपि प्रीतिमत्या एतद्दुःखं मातापित्रोरविदितं नाऽऽसीत्, तथापि पुत्रीमुखेन स्वीयाऽसहनीयाऽकालिकवैधव्यदुःखानां घटनामाकर्ण्य तौ पितरावतिशयदुःखीभवन्तौ परिम्लानतनुत्विषौ[1] जज्ञाते। तदा तत्पिता कथमेषा भविष्यज्जीवनं निर्गमयितु-मभिलष्यतीति बुभुत्सया तामप्राक्षीदेवम्-'पुत्रि! त्वदीयं दुःखव्रजं पश्यतो ममापि मनो भ्राम्यति, खिद्यते च नितराम्। अतोऽहं पुनः पुनः पृच्छामि-यत्त्वं भविष्यत्काले निजं जीवनं कया रीत्या व्यत्येतुं समीहसे?, कीदृशी वा तवेच्छा वर्त्तते?, किमत्र संसारे त्वदेत-

1. कान्तिः।

द्दुःखापहारी कश्चिन्मार्गो नैवास्ति? यदि त्वमेषिष्यसि तर्हि तव सुखाय नूनमहं कञ्चनमार्गं करिष्यामि।'

अथ तातोक्तं श्रुत्वा प्रीतिमत्या न्यगादीत्थम्-'पितः! भविष्यदेतज्जीवनमहं कथं यापयेयमित्यद्यावधि नो निरधारि, अनारतमेतदेव विचारयामि, तथाप्यत्र विषये कश्चिन्निर्णयो नोदियाय।' पुनः पितोचिवान्-'वत्से! मनसि सर्वमेतद्विचिन्त्य स्थिरीभूतं स्वाशयमरं[1] मां कथय? यादृशी विचारणा त्वदन्तःकरणे भविष्यति तथावश्यमहं विधास्यामि। त्वामाजन्म सुखिनीमवश्यं येन केनोपायेनाहं चिकीरस्मि। त्वां सुखिनीं कर्त्तुमेकः पन्था मनसा मया निरधारि, तेनैव पथा यावज्जीवं पुनस्त्वं सुखानुभवं कर्त्तुमर्हसि, उपायान्तरं न पश्यामि। संभाव्यते च मया यदमुनोपायेन तावकं दुःखं विनङ्क्ष्यतीति। परमेनं निर्णयं पश्चात्कथयिष्यामि। अद्यावधि ते जननीमपि नाचीकथमेतम्। यदेतस्मिन् जनन्यास्ते सम्मतिर्जनिष्यते तर्हि नूनममुना प्रशस्तेनोपायेन त्वामाजन्म पुरेवानन्दभोक्त्रीं करिष्यामि। किन्तु त्वमेकवारं स्वाशयं प्रकटीकुरु।'

अथैवमुदीर्य ततो निर्याते पितरि तन्माता बहुविधैर्वाक्यैस्तां सान्त्वयामास। प्राबोधयदेवम्-'वत्से! त्वमेवं मा शोचीः, किन्त्वमुष्मिन् भवेऽनेन देहेन तथानुष्ठेयं, यथा भवान्तरे पुनरीदृगसहनीयं कटुतरफलं नोद्गच्छेज्जातुचिदपि, तादृशं मार्गं शोधय, धैर्यमाश्रित्य लज्जां विहाय च निजाभिलषितं विचारं स्पष्टं कथय।' इति शिक्षयित्वा मातापि स्वसदनमागतवती। अथ पुनरेकाकिनी प्रीतिमती मातापित्रोर्भाषितं विचारयन्ती किमधुना मया कार्यमिति विचारे मग्ना तस्थौ।

प्रीतिमत्याः शोको जगडूशाहस्य हृदये व्यग्रतामुदपादयत्तथा, यथा स तत्र जायमानं जातीयप्रतिबन्धकादिकमगणयन् मनसीति

1. अरं = शीघ्रं।

निश्चिकाय-सत्यां तदिच्छायां प्रीतिमत्याः पुनः पाणिपीडनं कर्त्तव्य-मेवेति। तदन्तरं स विजने मतिमन्तं स्वकीयं जयन्तसिंहनामानं मुनीममाकार्य सर्वमेतज्जगाद-''जयन्त! प्रीतिमत्या अकालिकं वैधव्यं पश्यतो ममान्तष्करणेऽगदनीयमसीमं खलु वर्वर्त्ति दुःखम्। तत एव हेतोः सदैव मनोऽपि मे व्याकुलीभवत्कुत्रापि नो रज्यति। अत एव पुरेव नित्यमेनां सुखिनीं चिकीर्षामि। परमेतत्पुनर्लग्नमन्तरा न घटते। अतस्त्वं प्रथमं तस्या आन्तरं विचारं विज्ञाय मां कथय, कथं वा सा स्वजीवनं व्यत्येतुमभिलषतीति च?' इति श्रेष्ठिन आज्ञां शिरसा निधाय मध्याह्ने जयन्तसिंहः प्रीतिमत्या भवनमाययौ। गृहागतमेनं निजबन्धुकल्पं जानाना सा मतिमती प्रीतिमती योग्यासनप्रदानादिना सच्चक्रे। तदावसरोचितां सुख-दुःखमयीं कियतीं वार्त्तां चक्रतुस्तौ। प्रान्ते जयन्तसिंहस्तामवोचत्-'प्रीतिमति! पितरौ ते सत्यां त्वदिच्छायां केनचित्तुल्यरूपलावण्यता-रुण्यकुलादिविशिष्टेन पुंसा सह पुनर्विवाहं विधाय यावज्जीवं त्वां सुखवतीं चिकीर्षतः। सहिष्येते च तत्रापतन्तीं जातीयादिसकल-बाधामपि। इतीदानीं निजेच्छां ममाग्रे प्रकटीकुरु?' तदाऽऽज्ञयैव साम्प्रतमेतज्जिज्ञासयाऽत्रागतोऽस्म्यहम्।

एतदसमञ्जसं लोकद्वयगर्हितं तदुक्तमाकर्ण्य समुद्भूत-प्रभूतकोपा सा प्रीतिमती जयन्तसिंहमेवमाख्यातुमारेभे-''जयन्त! एतदुत्तरमहं तुभ्यं नो दित्सामि, किन्तु पितृभ्यामेव प्रदास्यामि। एतस्मिंस्तवान्येषां वा किमपि वक्तुं प्रयतितुं वाऽऽवश्यकता नास्ति। भवता भ्रमादपि कदाचिदपि ममाग्रे किलेदृशी वार्त्ता पुनर्नैव वाच्या। हन्त!! या खलु विशुद्धकुलावतीर्णा विद्यते, बिभेति च गर्हिताचारात्, विजानाति च धर्माऽधर्मौ, तस्याः कुलवध्वाः पुनरुद्वाहं जल्पन्नपि त्वं मनागपि न त्रपसे? तन्महदाश्चर्यं मे जन-यति। अहो! त्वमुच्चैःकुले जनिमापन्नः स्वयं च विचारशीलो

भूत्वापि यदार्यविधवां पुनरुद्विवाहयिषसि, अतस्त्वां धिगस्तु। तवायमेकोऽपराधो महीयानपि कथमपि सह्यते, पुनरीदृशीं वार्त्तां मम पुरस्तात्करिष्यसि चेदायतौ तच्छुभं नो भविता, इति तथ्यं जानीहि। जयन्त! तवाधुना स्त्रीणां द्रढिम्नः परिचयो नो जज्ञे। यदार्यकुटुम्बिनी बालविधवा ललना जगति महत्या अपि महतीर्विपत्तीः सहते। चित्तनिरोधाऽशक्तायां दशायां विषादिभक्षणेनापि सुखेन मरणं शरणीकुरुते। परं निजार्यपथात्कदाचिदपि नो भ्रश्यति। तस्मादहमपि संसारे भावसाध्वीभूय स्वात्मानं स्त्रीसमाजमेतदुभयमुद्दिधीर्षामि। जायमानेष्वपि प्राणान्तदुःखेषु मनसा वचसा देहेन वा नाहं लोकद्वयगर्हितं महादुःखदायिमार्गं सिषेवे।'

प्रीतिमत्या अनया सुदृढादर्शभावनया जयन्तसिंहस्य मनसि कश्चिदपूर्व एव पूज्यभावः प्रादुरभवत्। तदाऽवेदीच्चासौ स्वीयतुच्छतरमज्ञानम्। भगिनि! अग्रे पुनरहमीदृशीं विभ्रान्तिं नैव करिष्यामि, यदिदानीमज्ञानतया मयाऽपराद्धं तत्क्षम्यतामित्थं कृतागसः क्षमापनं तदग्रे पौनःपुन्येन स कृतवान्। अयि भगिनि! सर्वमेतत्तव पित्रा प्रेरितः सन्नेवाहमवादिषम्। यद्यपि चिरादशुभा मे चित्तवृत्तिस्त्वदर्थं विह्वलाऽऽसीत्, परमद्य तावकैतत्सुभाषितेन तत्र महत्परिवर्त्तनमजायत। इत्थं पश्चात्तापं विदधतं जयन्तसिंहमालोक्य सा प्रीतिमती तदशेषमपि दोषमक्षमिष्ट, आचष्ट च जयन्त! आर्यकुलस्य पन्थानमेवावलम्बस्व, यदग्रे तावकी समुन्नतिर्भविष्यति।

तस्याः शुभाशिषमादाय जयन्तसिंहो जगडूशाहान्तिके समायातः। तत्रागत्य स प्रीतिमत्या हार्दिकं भावं व्याहृत्य श्रेष्ठिनमेवमवक्-'श्रेष्ठिवर! तस्याः कृते भवान् विपरीतमेव ध्यायति। यतः सा स्वप्नेऽपि पुनर्लग्नं नो कामयते, किन्तु जगति पारमार्थिककृत्यानुष्ठानेनैव निजजीवनं व्येतुमीहते।' अथ जयन्तमुखेन

स्वपुत्र्या मनोगतं भावमवगत्य जगडूशाहः कामं प्रससाद।[1] तदनु तद्धिताय श्रेष्ठी कियतीर्धार्मिकीः संस्था न्ययुक्त। सर्वासां तासामाधिपत्यं पुत्र्या एव विततार च।

अथैवं पारमार्थिके कृत्ये मनो दधाना प्रीतिमती सर्वतः प्राक् स्त्रीणां सुशिक्षया तज्जीवनं सुखेन सुधारयितुमचिन्तयत्, यथैता उत्तमां शिक्षामापन्ना उत्कृष्टा भवेयुः, गार्हस्थ्ये कर्मणि नैपुण्यं भजेरन्, शुभसन्ततिमुत्पादयेयुश्च सुखेन, जातशिशुरक्षण-चिकित्सामपि सम्यगवगच्छेयुश्चेति। तथा पत्युरपि चिकीर्षितेष्टकार्य-साधने सहायिनी जायेत। सर्वमेतत्कामपि व्यवस्थां विना नो सेत्स्यतीति निश्चिन्वाना सा 'महिलासमाज' इत्याख्यामेकां संस्थां स्थापितवती। तदनु सर्वास्तत्रागत्य प्रतिदिवसं यथामति शिक्षां लब्धुं लग्नाः, न्ययोजि च तस्यां धार्मिकव्यावहारिकस्त्रीजनोचित-शिक्षणकलापटीयसी धार्मिकनैतिकाचारं विदधती शिक्षिका, परमेतदालोचनादिकार्यं विदधाना सदैव स्वयमपि तत्पराऽऽसीत्। अनाथानां विधवानां ललनानां धार्मिकादिशिक्षातिरिक्ततदुचित-जीविकार्थमस्यां संस्थायां स्त्रीजनोचितनानाविधकलाव्यापारोऽपि स्थापितः। येन निर्धना अप्यनाथाः स्त्रियः सनाथा इव धर्माऽविरोधेन सुखेन स्वजीवनं निर्वाहयेयुः। तेषु किलोद्योगेषु सर्वजातीया निर्धनाः कुमार्यश्च, विधवाः सधवाश्च साम्यतयैव नियुक्ता भवितुं लग्नाः। नागरिकाणां तूचितमेवैतत्, याः खलु वैदेशिकाः स्त्रियस्तासामप्यनया संस्थया महानेव लाभो भवितुं लग्नः। देशान्तरीयतत्रागताऽ-नाथस्त्रीजननिवासाय तत्राऽनेकानि महान्ति भवनानि निरमायिषत

1. पुत्रीवैधव्यपीडितमना जगडूशाहः सुधीमतां स्वज्ञातिवृद्धानामनुमत्या तां विधवां निजपुत्रीं वरान्तराय दातुमैच्छत्। तत्रावसरे कुलाङ्गने दक्षे केचन विधवे कृतस्फारशृङ्गारे तमेवमूचाते-भोः श्रीमन्! विधवायै स्वपुत्र्यै यदि वरान्तरमवलोकसे तर्हि तथाभूतयोरावयोरपि वरवीक्षणं विधेहि। तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा मनसि लज्जितः स प्रतिबोधमापत् (इति जगडूचरितकाव्ये)।

तया प्रीतिमत्या। संस्थायां सर्वापि व्यवस्था श्लाघ्यतमाऽऽसीत्। अतः कस्याश्चिदपि मनागपि क्लेशलेशसम्भावना नासीत्। यथा चिकीर्षितं तथैव कृत्स्नमपि कृत्यं तस्यां प्रत्यहं वर्धमानमासीत्।

तदनु सा प्रीतिमती सकलशिशुजनशैशवाज्ञानभेदनाय सज्ज्ञानप्रचाराय च बालमन्दिराभिधामपरामपि संस्थां प्रकाशितवती। यत्र सर्वे शिशवः क्रीडन्तोऽप्यनायासेन ज्ञानमापन्नाः, बाल्यादेव सुसंस्कृता भवन्त आयतावधिकसंस्कारवन्तः सकलकार्यसाधनपटीयांसः स्वीयं जीवनं नीतिमयं सुखशालि कुर्युः। सर्वे च बालकाः पञ्चवर्षादनन्तरं दशहायनपर्यन्तं तन्मन्दिरे शिक्षां लात्वैव शालान्तरे तदधिक-शिक्षणाय गच्छेयुरित्यपि व्यवस्था आसीच्च प्रतिबालकानुकूल्यं तत्र संस्थायाम्, अत एव सहर्षं समे च शिशवः सोत्साहं प्रमुदिताः सन्तः ज्ञानमर्जयामासुः। ये खलु लोके बधिरा मूकाः पङ्ग्वादयोऽसमर्थाः स्वोदरपूरणे व्यग्रास्तेषामर्थे च धर्मरसिकया प्रीतिमत्या पृथगेवैका पङ्गुशालाऽकारि, तत्रागतांस्तादृशाञ्जीवान् प्रत्यहं भोजयति स्म, वस्त्रादिकं च ददाति स्म।

एकत्र विशालभवने तयौषधालयं कृत्वा तत्र तेषु रुग्णानां प्राणिनामौषधप्रदानाय महीयानेको भिषग्वरो रोगनिदाननिपुणः स्थापितः। अपरत्र भवने नानाविधवसनसीवनादिशिक्षणस्थानमकरोत्। यत्र तादृशास्ते शिक्षामाप्नुवन्ति निरुद्यमाश्च सोद्यमा जायन्ते। इतोऽन्या महती दानशाला तयाऽकारि, तस्यामागतेभ्योऽतिथिजनदीनदुःखियाचकेभ्यः प्रत्यहं द्वैकालिकोचिताऽशनवितरणादिप्रबन्धोऽपि महानेव विदधे। तासां सर्वसंस्थानामालोकनादिकार्यं स्वयमेव कुर्वाणाऽऽसीत्प्रीतिमती।

इत्थमनुदिनं सर्वाः सुव्यवस्थापिताः संस्था ववृधिरे। सामाजिकजनस्याप्यासु संस्थासु सहानुभूतिर्निंतरामैधिष्ट। संस्थातः

सुशिक्षिताः कियन्त्यः स्त्रियः खल्वनेकव्यापारदाक्षिण्यं नीताः सुखेन स्वजीवनमनेकव्यापारेण निर्वाहयितुं निरगच्छन्। न ह्येतावदेव धार्मिकज्ञानासादनाद्धर्माराधनेऽपि रसिकास्ता आत्मकल्याण-करीणामग्रण्या अप्यभूवन्। याः खलु स्त्रियोऽशिक्षितत्वाद् गेहे नानाक्लेशाननुभवन्ति स्म, भर्त्तारमपि पौनःपुन्येन खेदयन्ति स्म, श्वश्र्वादिपरिवारेष्वपि विनयं न विदधते स्म, ता अप्यधुना संस्थायां सुशिक्षिताः सत्यो व्यवहारे कुशला अभूवन्, सदैव मधुरमेवालपन्ति, भर्त्तुरपि प्रेयस्यः श्वश्र्वादिजनानां मान्याश्च जज्ञिरे। प्रकृतिरेव तासां पर्यवर्त्तत। *'अहो! शिक्षायाः प्रभावो महीयानस्ति'* इत्थं ताः संस्था अनेकधा स्त्रीसमाजे समुन्नतिं विदधत्यः सर्वेषां स्तुत्या अभूवन्।

जगडूशाहोऽपि स्वपुत्र्या ईदृशानि पारमार्थिककृत्यानि समालोक्य तेषां व्यवस्थां, समाजे फलातिशयं च पश्यन्नितरां जहर्ष। अथ प्रीतिमत्या इयतीनां महतीनां संस्थानां सुव्यवस्थायां व्यग्रतया कयाचिदपि सख्या सत्राऽऽलपितुमवकाशो नो जज्ञे, तर्हि केनापि सह मुधा लपितुं कमपि शोचितुं वाऽवकाशः कथमुत्पद्येत?, अत एव सा भर्तुः शोकं सर्वथा विसस्मार। केवलं यथावकाशं वैराग्यवर्द्धकं धर्मप्रवर्त्तकं च ग्रन्थं मनोयोगेन पठन्ती सर्वदाऽऽत्मभावनायामेव तिष्ठति, प्रत्यहं च नियमिते समये जिनेन्द्रसेवार्चनादिविधाय गुरुमुखादुपदेशानाकर्ण्य यथाशक्ति व्रतनियमादिकं विदधाति।

अथैकदा निशावसानसमये जगडूशाहस्य हृदये चिन्ता समुत्पन्ना। हा! हा! नस्त्रयाणां बन्धूनामेकस्यापि कुलाधारभूता पवित्रा सन्ततिर्नास्ति, यया गोत्रं मे ध्रियेत। इति चिन्तातुरं प्राणेशं समवलोक्य सा विचक्षणा यशोमती सादरमवादीत्-प्राणनाथ! तवेदृशी चिन्ता कथमजायत?, किमाधिर्व्याधिर्वा?, येनाधुना तव

मुखकमलं दिने विधुमण्डलमिव विच्छायं दृश्यते। अथवा मत्तोऽपि गोप्यं रहस्यं किमप्यस्ति, येन मदग्रे नोच्यते? इति प्रियोक्तं वचनं श्रुत्वा सोऽवक्-अयि प्रेयसि! तवाग्रे ममाऽवाच्यं किमपि नैव विद्यते, मम भूयान् कालो यातः। समृद्धिरपि महती विद्यते, केवलं पुत्रो नास्ति। कनीयांसौ बान्धवावपि पुत्रहीनौ स्तः। तेन हीनमेतन्मे कुलं नूनं पतिष्यत्येव। इयमेव महती चिन्ता मदीयचित्ते शल्यमिव वर्त्तते। पत्योक्तं तत्कारणमाकर्ण्य सा जगाद-स्वामिन्! तदर्थं देवाराधनं क्रियताम्। यतः समाराधितो देवः सर्वेषामभीष्टं ददाति। ततः सोऽवदत्-सुभ्रूः! त्वया सम्यगुक्तम्। मनोरथाप्त्यै समुद्राधिष्ठित-सुस्थितदेवाराधनं करिष्ये, यतः सकलदेवताश्रित-माशुतोषं रत्नाकरं विहाय देवान्तरं कः सुधीः सेवेत? यस्मादस्माकं कुलं सत्पुत्रेण वर्धिष्यते, धर्मकृत्यं धनेन च भविष्यति अत उभयप्राप्तये रत्नाकरोऽभ्यर्चनीयः। इत्याकर्ण्य प्रसन्नवदना यशोमती जगाद-प्राणेश! त्वया सम्यगवधारितम्। अमुनोपायेनावश्यमेव मनोरथोऽसौ सेत्स्यति तत्र संशयं मा कृथाः।

अथान्येद्युर्जगदानन्ददायी जगडूः शुभेऽहनि समुद्रतटे समागत्य परया भक्त्या धूपदीपौ विविधानि नैवेद्यानि ढौकयित्वा सप्ताहं यावद् निराहारस्तमर्चितवान्। तदनु तत्प्रवर्धमानभक्तिभावना-प्रसादितः समुद्राधिष्ठायकः सुस्थितदेवो भासुरमूर्त्तिः सप्तमे दिवसे निशीथे तस्याग्रे प्रादुरासीत्। तस्मिन्नवसरे पुरःस्थितं देवमा-लोकमानः प्रफुल्ललोचनयुगलः स जगडूः परया भक्त्या प्रणम्य तुष्टाव-हे *सकलसुरनिवास! जय जय, [1]शतमहीधर! जय, श्रीकनकप्रोच्चैः? जय*, तावकानि जीवनानि[2] समादाय मेघा जगतीं जीवयन्ति सर्वमेतज्जगत्त्वदायत्तमेवास्ति। नूनं ममाद्य जन्मजन्मान्तरीयदुरितराशिस्तवामुना दर्शनेन तोयस्थलवणवद्

1. शतं महीधराः पर्वता यत्र तत्सम्बुद्धौ । 2. जलम्।

व्यलीयत। हे सुरोत्तमरत्नाकर! यदि प्रसन्नोऽसि तर्हि *वंशवृद्धिकरं पुत्ररत्नं धर्मवृद्धिकरीं श्रियं च मे देहि?।*

ततोऽवदद्देवः - भोः कृतिन्! *'पुत्रस्तु तव नो भविष्यति। अतः सर्वार्थसाधिकैका लक्ष्मीरेव निश्चला तव गेहे तिष्ठतु। किञ्च यानि यानि यानपात्राणि रत्नैः पूरयिष्यसि तेषूच्चैः कोऽपि जातुचिदपि विघ्नो नोदेष्यति।'* इति सुस्थितदेवेन वरे दत्ते सति पुनराह सः-हे सुरराज! यथा मे पुत्रहीनत्वं तथैव मम कनीयसोर्भ्रात्रोरप्यस्ति किम्? देवोऽवादीत्-*'वत्स! तव राजाख्यो बन्धुः पुत्रौ पुत्रीं च प्रापयिष्यति। ताभ्यामेव सत्पुत्राभ्यां तावकं कुलं चिरमेधिष्यते।'* इति कथयित्वा सारतराणि कतिचिद्रत्नानि तस्मै जगडूकाय प्रदाय स देवस्तिरोऽधत्त। तावच्चरणायुधोऽपि निशाप्रयाणकालिकपटहरवाऽऽडम्बरसोदरं स्वरमकरोत्। अहो! प्रस्वेदबिन्दुवन्निर्गच्छदच्छतारका विध्वस्ततमःस्तोमवसना कोकाम्बुजन्मसन्तापिनी[1] निशापिशाची रविकरनिकरभीतेव स्वैरमरमपससार। अथ चक्रवाककलरवसूचितदिवामणिभर्तृ समागमकाङ्क्षिणी प्राची दिशा नैशिकतामसशोकविमुक्ता सती तदानीमधिकं प्रससाद। अथैव प्रभातसमये जलधिदेवदत्तवरदानतो हर्षप्रकर्षमधिगच्छन् दीनजनान् पोषयन् कविवरपरिगीतस्फीतकीर्त्तिकलापं शृण्वन् स जगडूशाहः प्राज्यसौभाग्यशाली निजसदनमाययौ।

अथ तत्र पुरे रत्नाकरोत्कृष्टवरप्रभावेण पुरन्दरश्रीः सोलकुलप्रदीपः स रत्नभूतपोतेन सह निर्विघ्नतया समागतोऽधिकं दिदीपे। तत उपकेशान्वयसम्भूतेन सकलकार्यसाधनपटीयसा सादगुण्यनिलयेन *जयन्तसिंहेन* सेवितः स नितरामशोभत। अथैकदा

1. चक्रवाक।

बहुवस्तुपूर्णमेकं महापोतमादाय समुद्रमार्गेण जयन्तसिंहो लाभाय कृतप्रयत्नः प्रशस्तमार्द्रपुरमाप। अथ पोतात्सकलं वस्तूत्तार्य प्रशस्तोपायनेन मन्दिरेशं प्रीणयित्वा भाटकेन कस्यापि विशालगेहं लात्वा तत्र सुखेनाऽतिष्ठत्।

ततोऽसौ जलधेस्तटे ग्रावाणमेकमत्यद्भुतं विलोक्य पवित्रचेताः स तं विचेतुं निजान् भृत्यान् नियोजयामास। तावत्तत्र *स्तम्भनपुर* (खंभात) निवासी तुर्क-जातीयमहापोतस्य प्रधानाधिकारी प्रसङ्गतः समागतः प्रस्तुतं तं प्रस्तरमालुलोके। तदनु सोऽपि तत्संग्रहाय निजभृत्यानादिशत्। तदोवाच जयन्तसिंहः-भोः पुरुषाः! एष ग्रावा पुरा मयैवालोकि, आत्मसाच्चाकारि, अत एनमुत्पाटयतो मदीयाञ्जनान् मा वारयत?, तन्निरोधे वाऽमुष्य ग्रहणे वः कोऽप्यधिकारो नास्ति, मुधा मा विवदत। इति जयन्तसिंहोक्तमाकर्ण्य सदर्पास्ते तमेवमवदन्-अरे! ग्रावाणमेनं निनीषूणामस्माकं रोद्धा भवान् कोऽस्ति, एतदवश्यं ग्रहीष्याम इति जानीहि। तदाकर्ण्य जयन्तः सरोषमाह-कदाचिदप्येवं नैव भवितुमर्हति, यूयमेतत्प्रस्तरमुपायसहस्रेणापि ग्रहीतुं नो प्रभविष्यथ, इति तथ्यमहं निगदामि। अस्योपरि ममैव स्वत्वमजनि प्राक्, न ह्येतदेवाऽवगच्छत, किन्तु स्वायत्तमप्यकार्षमहमेव पूर्वम्। पुनरूचिरे ते पुमांसः-अलमेतेन त्वया यदकारि तदकारि, साम्प्रत-मेतत्प्रस्तरं वयमेव ग्रहीष्यामः, केनाप्युपायेन मत्तस्त्वमेनमादातुं नो शक्ष्यसि, एतदर्थं तावकः सकलोऽपि प्रयासो वैफल्यमेव व्रजिष्यति। अतोऽस्माभिः सत्रा मुधा किं कलहायसे?, केवलं मौनमाधाय सुखेनैव स्वसदने याहि। तेषामित्युक्तिमाकर्ण्य पुनराह जयन्तः-अरे! तर्हि किमेतन्मत्तो मूल्यमन्तरैव यूयं जिघृक्षथ? एवं सौलभ्येन किलैतल्लातुं नैव शक्ष्यथ। एतर्हि बलात्कारेण खल्वेतत्कदापि नो ग्रहीष्यथ। यतोऽहमेतत्सर्वं राजानं कथयिष्यामि, नूनमत्र स एव

योग्यं न्यायं करिष्यति। इति नृपनाम श्रुत्वा ते तुर्कीया लोका-स्त्रस्ताः सन्तः काञ्चिन्नवीनामेव युक्तिमवधार्य जयन्तमूचुः-अमुष्य प्रस्तरनायकस्य यो ह्येकं दीनारसहस्रं ददीत, स एव दृढाभिमानी समुद्रतीरस्थमेनं ग्रावाणं गृह्णीयात्। एतदाकर्ण्य जयन्तसिंहो बभाषे-भोः! यावदवोचि भवता तावद्द्रव्यमाशु दत्त्वाऽऽर्द्रपुराधीशाय पाषाणमहं गृह्णामि। तुर्कपोताधिप एवमूचे-'तद्द्विगुणं द्रव्यं प्रदाय पाषाणमादाय कीर्त्तिमहं भजामि।' जयन्त उवाच 'योऽस्मै नरेशाय दीनारं लक्षं दद्यात् स एव नूनमेनं पाषाणं गृह्णातु।' तुर्कः सरोषमित्यजल्पत्-'जयन्त! यावत्परिमाणं जगदिथ तावद्द्रव्यं प्रदाय द्रागमुं प्रस्तरमहमेव ग्रहीष्ये।' जयन्त एवमूचिवान्-'नहि नहि दीनारलक्षद्वयं नृपाय दत्त्वा कृतप्रतिज्ञो-ऽहममुं पाषाणं जिघृक्षामि।' तुर्केण पुनरप्युक्तम्-यद्दीनारल-क्षत्रयमेतस्मै भूजानये ढौकयेत्स एव पाषाणं गृह्णीयात्। इति मिथो जातमेतद्वादमाकर्ण्य तत्रागतस्य नृपस्य तदैव पणीकृतं सकलं द्रव्यं प्रदाय तत्पाषाणमग्रहीज्जयन्तसिंहः। तत्रावसरे स तुर्को दुर्ग्रहेण मेघो वारीव दर्शेण शीतांशुः प्रकाशमिव तत्र वादे महीयसा जयन्तसिंहेन पराजितस्तावत्परिमाणं द्रविणं नृपाय दातुं नाऽशक्नोत्, किञ्च मुखवातेन दर्पण इव तुषारेण कमलवनमिव स तुर्को जयन्तसिंहेन बाढं परिम्लानिमियाय। अहो! महासाहसवान् धीमा-नसौ जयन्तसिंहः स्वस्वामिख्यातिकृते दृषदर्थमेतावद्वित्तं नृपस्याऽ-दत्तेति तत्रत्याः सर्वे पौरास्तदोचिरे।

ततः स जयन्तसिंहः स्वभर्त्तुः प्रत्यायनाय तच्छिलोपलं गृहीत्वा वस्तुहीनं यानपात्रमादाय भद्रेश्वरपुरमगात्। तत्रैष धीरस्तूर्ण-मनल्पधियां निधानं श्रीसोलपुत्रं नमस्कृत्य तं ग्रावाणमानाय्य सर्वविस्मयकरमिति स्पष्टमाचष्ट-*'प्रभो! तत्र भवतां कीर्तिरक्षायै तावकं भूरिधनं शिलाखण्डस्याऽस्य कृते मयार्द्रपुरे व्यनाशि,*

अत इदानीमुचितं मयि विधेहि।' इत्थं जल्पन्तं जयन्तसिंहं हर्षाश्रुधारां विमुञ्चन् सोलसूनुर्जगज्जनोद्गीतयशाः कृतज्ञः प्रकाम-मालिङ्ग्य सभायामित्याख्यत्-'भो धीमन्! मामकं यशःशरीरं शाश्वतमस्थिरेण द्रविणेन त्वयाऽत्यद्भुतधीमता देशान्तरे रक्षितं तत्सम्यगाचरितम्। ईदृशे सत्कृत्ये जातेऽपि बहुव्यये मनागपि न खेदमुपैमि, किन्तु तुष्यामि। अतोऽधुना सुकृतकारिणस्ते कामुपक्रियां विधाय सुकृती स्यामित्येव चिन्तयाम्यहम्। इति निगद्य सप्रमोदः स तस्मै दुकूलं करमुद्रिकां च दत्तवान्। यतः - *'निर्मलमनसां धियो विवेकतः कदाचिदपि नैव स्खलन्ति।'* तदनन्तरं यशोमतीशस्तदीयवाञ्छातोऽधिकमेव धनं दत्त्वा मानधनाभिलाषी स पटीयांसं जयन्तसिंहं स्वसन्निधावेव ररक्ष।

अथात्मबन्धुवर्गाणां पादपद्माम्भसा तच्छुद्धिचिकीर्षया मनीषिवर्यः स जगडूकः स्वावासकमनीयाङ्गणोर्व्यां तं ग्रावाणम-मुञ्चत्। तत्रावसरे भद्रपुराधिष्ठायको *भद्रदेवो* नव्यं भव्यं च योगीन्द्ररूपं विधाय तदीयोदारसद्गुणगणैर्हृष्टचेता भिक्षायै तत्र श्रीजगडूनिवासाङ्गणे समुपागमत्। अपूर्वमागतं तमालोक्य राजप्रिया सद्भिक्षामस्मै दत्तवती सा राजल्लदेवी। तस्मिन्नवसरे स योगीन्द्र-स्तामेवमुवाच-'भद्रे! त्वमिदानीं गृहेशं ममाग्रे समानय।' यतस्तेनैव मे महत्प्रयोजनं विद्यते।

अथ महत्यामुपवेशनशालायां तस्थिवांसं जगडूशाहं प्रति योगीन्द्रवार्त्तां व्यजिज्ञपत् सा राजल्लदेवी। यथा-कश्चिदङ्गणे योगीन्द्र आयिष्ट, स भवन्तं तूर्णं तत्राह्वयते। तदाकर्ण्य स मनस्येवमबोधत्, व्यक्तमुवाच च-अये! तस्य मदाह्वनेन किमपि प्रयोजनं नो पश्यामि। तेन यदपेक्ष्येत, यन्मार्गयेत तद् दातव्यं, तत्र मे किं प्रयोजनमिति। तदुक्तावसाने सा पुनरेवमुक्तवती-नह्येवमस्ति, न खलु स साधा-

रणो बुभुक्षुर्द्रविणार्थी वा विज्ञायते, कोऽप्यपूर्व एव चमत्कारी लक्ष्यते यद् भवन्तमेव त्वरया दिदृक्षति, अतोऽधुनैव तत्र भवता गन्तव्यम्। राजल्लदेव्या ईदृशं भाषणमाकर्ण्य तत्कालमेव तत्रा-ऽऽगतः सः।

अथ तत्राऽऽगतः श्रेष्ठी निजाङ्गणे तिष्ठन्तं तमेव ग्रावाण-मनिमेषं पश्यन्तं तं निरीक्ष्य स स्वान्ते दध्यौ-'किमेष शिलामेना-मपेक्षते। तर्हि सहर्षमस्मै दास्यामि शिलामेतामवश्यम्। अथवा तत्र किमपि वैशिष्ट्यमवगच्छन्नेष तमेवमेकध्यानेन विलोकते खलु, मनस्येवं बहुधा विमृशन् योगीन्द्रं सादरमभिवन्द्य तमेव-मभ्यधात्। योगीन्द्र! ममाद्य जनुः सफलमजनि। सर्वाणि सुकृतानि फेलुश्च यद् भवान् मदालयमागत्य पर्यपुनीत, सस्मार च माम्। अत इदानीमादिश्यताम्' यदपेक्ष्यते तदुच्यताम्। त्वादृशाय महीम-ह्याय मादृशामदेयं किमपि मा वेदीत् *'किमयं ग्रावाऽपेक्ष्यते तत्रभवताम्? सत्यपेक्षणे नूनमेनं गृहाण।'*

इत्थं निगदति जगडूशाहे योगीश्वरो जगाद-मतिमन्! मयैष नापेक्ष्यते, किन्त्वस्मिन्महान् भेदो वर्त्तते, अत एनं गृहान्तः स्थापय तूर्णम्। योगीन्द्र! एष ग्रावा मामकेन मुनीमेन जयन्तसिंहेनाऽऽर्द्रपुरा-दानीतोऽस्ति। कियद्भिर्वर्षैरत्रैव तिष्ठत्यसौ। सम्प्रति तत्र भवता-मादेशेन गृहान्तर्नयामि। अस्मिन्नवसरे स योगीन्द्रो जगडूशाहं तत्प्रस्तरीयगुप्तभेदमशेषमजल्पत्। तथाहि-*'अमुष्मिन् प्रस्तरे पुरा राज्ञा दिलीपेन न्यस्तानि महार्हाणि रत्नानि वर्त्तन्ते। भाग्यादि-हागतानि तानि समस्तानि गृहाण।'*

एतदाकर्ण्य श्रेष्ठी विस्मितो भूत्वा पुनरुवाच-योगीश्वर! किमेष रत्नैर्निभृतो विद्यते?, आश्चर्यमेतत्। एतद्गुप्तभेदं भवान् विवेद, अतोभवान् कोऽपि महीयान् पुमान् ज्ञायते। अतीताऽनागत-ज्ञानवाँश्च प्रतीयते।' इत्थमभिष्टुवन्तं श्रेष्ठिनं पुनराचक्शौ योगीन्द्रः-

'महाभागधेय! योऽयमेतस्य सन्धिर्दृश्यते, तस्मिंस्तीक्ष्णटङ्कप्रहारेण भिन्ने सति तदन्तः-स्थितानि रत्नानि स्वत एव दृश्यानि भविष्यन्ति।' इत्थं व्याहृततद्भेदमदृष्टपूर्वं भाग्यादुपेतं योगीन्द्रं पुनः पुनः प्रणमन् स जगडूशाह एवमुवाच-योगीश्वर! सत्यं ब्रूहि भवान् कोऽस्तीति? सत्यं कश्चिद् योगीश्वर एवास्ति भवान्? किमुत मदीयप्रभूत-भाग्योदयादिहायातः कोऽप्यन्योऽसि? एतद् बुभुत्सा महती मामुत्सुकयति।

तदानीं तत्र तावुभावेवाऽऽस्ताम्। अतस्तत्प्रस्तरीयसर्वभेद-जिज्ञासया तं योगीश्वरं स श्रेष्ठी सादरमेवमभ्यर्थयत्। नूनमहं जानामि-यद् भवान् मदीयपुराकृतसुकृतयोगादेवाद्य मदङ्गणे-ऽत्रागतोऽस्ति? अतो भवान् मामकमशेषमज्ञानं छिनत्तु। वास्तविक-मात्मरूपं मां दर्शयतुतमाम्। इत्थं भक्त्या विनयेन प्रणयमधुरवचनेन च प्रसन्नमना भवन् योगीश्वरस्तमेवं वक्तुमारेभे-श्रेष्ठिन्! मामिहागतं कमपि योगीश्वरं माऽवेहि। अहमेतस्या भद्रेश्वरनगर्या अधिष्ठायको देवो भद्रेश्वरोऽस्मि। तावकाऽमितपुराकृतसुकृतयोगादाकृष्टः प्रस्तरे-ऽस्मिन् स्थितानां सुरत्नानां भेदाख्यानाय समागतोऽस्मि, योगिराजरूपेण तवाङ्गणेऽद्य, इति व्याहृत्य विरमन्तं देवं, स श्रेष्ठी निगदत्येवम्-अहो देव! भवतां कां भक्तिं कुर्यामहम्? यदहं मनुजः, भवांश्च देवः, अतो मया जानताऽजानता वा तत्र पूज्यस्य देवस्य ते यदपराद्धं, यदकारि चाविनयादिकं तत्सर्वं क्षमस्व। मादृशं साधारणं मानवमुपचिकीर्षन्नत्रागतोऽसि तेन मन्ये यदद्य नूनं मे भाग्यं जजागार। अद्यापि मे पुण्यानि जीवन्ति। तुभ्यमहं किमप्यर्पयितुं नैव प्रभवामि। त्वमेव लोके समेषां सर्वाणि समीहितानि दातुमीशिषे। मेरुसर्षपयोरिव तव मम चान्तरमस्ति। क्वाहं ना? क्व च भवान् देवः, क्व राजा भोजः, क्व च गाङ्गिक-स्तैलिकः? मादृशामत्यल्पमतिजुषामल्पसत्त्ववतामुपरि सर्वदा

त्वयेदृश्येव कृपादृग्भिर्वृष्टिर्विधेया, इत्येव शतशोऽहमभ्यर्थये भवन्तम्।

अथैवमाचक्षाणं श्रेष्ठिनमाख्यातवान् स योगीन्द्रः-महामते! भक्त्या ते प्रसन्नोऽस्मि। यदर्थमहमत्राऽऽगां तत्कार्यमकरवम्। यथेदानीं लोकानुपकुरुषे तथैवाऽनवरतमुपकर्त्तव्यमग्रेऽपि मनागपि तत्र प्रमादो न विधातव्यः। भाग्यवशादीदृशीं सम्पत्तिमासाद्य लोकाननाथानतिदुःखिनो ये जना उपकुर्वन्ति, वसनादिना तेषा-महमपि दासत्वं विदधामि खलु। ये खलु लक्ष्म्या आधिक्यमित्वापि[1] परान् नोपकुर्वतेऽनाथादीन्, न वा निजकुटुम्बं पुष्णन्ति तेऽवश्य-मत्र लोके जीवन्त एव मृता मन्तव्याः। मृतेषु तेषु ताः सम्पद इतरे जना एव भोक्तारो जायन्ते। स्वयं तु नारकयातनामेव चिरं सहन्ते किमधिकम्? कृपणानामत्र लोके केचिन्नामपि नैव गृह्णन्ति, अशुभसूचकत्वात्। अत एव त्वमियतीं लक्ष्मीं भाग्यादधिगम्य तस्याः सद्व्ययेन जगन्ति जीवय, एवमुपदिश्य जगडूशाहं निज-कर्त्तव्यतामस्मारयत्स योगीन्द्ररूपो देवः खलु।

पुनरवोचत् श्रेष्ठी - देव! सम्यगधुनाऽमुनोपदेशेन त्वयाऽ-स्मारि, मामिकाः सकला अपि श्रियः सतां साधूनामनाथप्रमुखानां जनानामर्थमेव समुपयोक्ष्यन्ते तत्र संशयं मा गाः। धर्मार्थमेव व्येमि, अग्रेऽपि व्येष्यामि च। तावकमेनमुपदेशं कदाप्यहं नो विस्मरिष्यामि। 'त्वमधुनाऽऽत्मीयं दिव्यं रूपं दर्शय? येनाहं कृतकृत्यतामुपनयेयम्' इत्येवाहं त्वां प्रयाचे साञ्जलिः। तदनु स देवोऽपि तदभ्यर्थनया जगडूशाहमहेभ्याय निजाकृत्रिमं रूपं प्रदर्श्य तत्कालमेवालक्ष्यतामायिष्ट। अदृश्यतामुपयाते तस्मिन् देवे स श्रेष्ठी निजोदारमानसे सांसारिकवैचित्र्यस्य सङ्कल्पविकल्पौ कुर्वन्

1. इ-प्रासौ।

प्रस्तरान्तर्निर्गतानि तानि रत्नानि निजभाण्डागारे स्थापयाञ्चक्रे। तदन्तस्ताम्रपत्रमेकमासीत्, तत्र राजादिलीपो ह्येतानि रत्नानि निहितवानस्यान्तरिति लेखोऽपाठि तेन महेभ्येन। अथानवरत-परोपकारपरायणः सर्वाशाप्रसृताऽमिताऽमलयशस्स्तोमः श्रीमान् जगडूशाहस्तावताऽप्रमेयरत्नेन कौबेरीं दिशं श्रितः सहस्रांशुरि-वाधिकमशोभत, शुक्ले शशिनः कलेव तदीया सुकीर्त्तिः प्रत्यहमे-धितुमलगच्च।

एकदा कच्छदेशीय नानानगराणि पावयन् *श्रीपरमदेवसूरिः* सुशिष्यमण्डल्या सत्रा भद्रेश्वरनगरीमैषीत्। तत्र बहुश्रुतस्थ-विराचार्यागमनमाकर्ण्य सोलकुलकमलदिनेशेन जगडूशाहेन महामहेन धर्मगुरोः पुरप्रवेशोऽकारि। तत्र महोत्सवे जैनेतरापि नरनारी जनताऽऽनन्दमनुभवन्ती सम्मिलिता सती तमुत्सवं व्यातेने, प्रशशंसुश्च सर्वे लोका अमुष्य सूरीश्वरस्य सच्चारित्र्यवैराग्यादि-विशिष्टोदारगुणगणं मुक्तकण्ठम्, उदतारयच्च निजविशाल-भवनोपकण्ठे महोपाश्रये महताऽऽडम्बरेण गुरुमेनं जगडूशाहः सप्रमोदः। तत्रायातः सकलशास्त्रपारगामी स सूरिराडपि मेघ-गम्भीरया गिरा धर्मदेशनामपूर्वां ददानो निजया विद्वत्तया सर्वेषां मनांसि चकितानि व्यधात्। लेभिरे च भूयांसो भव्यजना व्रतनियमा-दिकम्। अप्राक्षीच्च तस्मिन्नवसरे जगडूशाहस्तं सम्यक्त्वस्वरूपम्। तथाहि-भगवन्! किं नाम सम्यक्त्वम्?, कथं चैतदधिगम्यते?, प्राप्यते वा किमेतदधिगमनेन? अथैतेषां प्रश्नानामुत्तरं निगदितं परमदेवसूरिणा। तथाहि -

दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झन्ति ॥१॥

भो भव्य! दर्शनं नाम सम्यक्त्वमवेहि, तेन भ्रष्टो जीवः सर्वथा भ्रष्टतामेवाप्नोति। अर्थात्-तत्र भ्रष्टस्य त्यक्तसम्यक्त्वस्य पुनः पुनरमुष्मिन् भवार्णव एव पतनं बोभूयते, जात्वपि संसारसागरादेतस्मान्मुक्तिर्नो जायते। पुनरमुना जीवेन यावत्सम्यक्त्वं नासाद्यते तावत्कर्मविमुक्तिभूय मोक्षश्रियं नो लभते। चरणेन चारित्रेण रहिता भ्रष्टा जीवाः पुनश्चारित्र्यमधिगम्य सञ्जातसम्यक्त्वप्रभावात्समयान्तरे प्राप्नुवन्ति शाश्वतं मोक्षसुखम्। परन्तु सकृदपि ये जीवाः सम्यक्त्वभ्रष्टा जायन्ते ते पुनः यावत् सम्यक्त्वं न प्राप्नुवन्ति तावत् कदाचिदपि मुक्ता नैव भवितुमर्हन्ति। एष जीवोऽनन्तकालपर्यन्तं खल्वस्मिन् संसारे सम्यक्त्वासादनमन्तरा भ्राम्यत्येव।

सर्वेऽमी प्राणिनो निगोदे स्थिताःसन्ति। एषु शाश्वतचतुर्दशराजलोकेष्वसंख्याता निगोदगोलका विद्यन्ते। तेष्वप्येकैकस्मिन् गोलकेऽसंख्याता निगोदा वर्त्तन्ते। पुनरेकैकस्मिन्निगोदेऽनन्ता जीवाः सन्ति। जात्वप्येषामवसानं नोदेतीति तत्त्वम्। यस्मादद्यावधिगतेऽप्यनन्तकाले किलैकोऽपि निगोदः शून्यतां नालभत, किन्तु जगति चतुरशीतिलक्षजीवयोनौ परिभ्रमन्तस्तद्वदेव तिष्ठन्ति। कर्मदलानि क्षपयित्वा यावन्तो जीवाः संसारादस्माद्विमुच्यन्ते, तावन्त एव जीवा निगोदाद् बहिरायान्ति।

तत्रस्थानां जीवानामित्थं द्वैविध्यमस्ति एको व्यवहारराशीयो द्वितीयोऽव्यवहारराशीयः। ये च जीवा निगोदतो बहिर्गताः संसारेऽत्र चतुरशीतिलक्षजीवयोनौ परिभ्रम्य पुनस्तादृशभवितव्यतया कर्माणि शुभाऽशुभानि चिन्वन्तस्तत्रैव निगोदे गच्छन्ति स्म, ते जीवा व्यवहारराशीया उच्यन्ते।

ये पुनरनन्तातीतकालेऽपि निगोदाद् बहिरेतुं कदाचिदपि न

प्रभवन्ति स्म, अनन्तकालं तत्रैव निगोदे नानाविधभवितव्यतायोगा-दुत्पद्यन्ते म्रियन्ते च, ते खल्वव्यवहारराशीया जीवा निगद्यन्ते। नैगोदास्तेऽव्यक्ततयैव जायन्ते विलीयन्ते च, यतो भवति चामीषा-मतिसूक्ष्मो भवः। एष एव भवः शास्त्रे क्षुल्लकभवत्वेनोच्यते। जायन्ते चैकस्मिच्छ्वासोच्छ्वासे निगोदीयजीवानां सार्धचतुर्णवत्या-वल्यधिकसप्तदशभवाः, कियन्तश्च नैगोदिका जीवा ईदृशाः सन्ति, ये खलु यातेऽप्यनन्तकाले निगोदान्नैव निर्गमिष्यन्ति बहिः। यद्यत्र कश्चिदेवं पृच्छेत्-'कियन्तो जीवा मोक्षमधिगताः?' तदुत्तरमेतदेव कथनीयम्-यदद्यावधि निगोदस्यैकस्याऽनन्ततमो भाग एव मोक्षमध्यगच्छत्। उक्तं च शास्त्रे

जया जया होइ पुच्छा, जिणाण मग्गम्मि उत्तरं तइयं ।
इक्कस्सनिगोयस्स, अणन्त भागो य मुक्खगओ ॥१॥

व्याख्या - यदा यदा जिनेश्वरं कश्चिदेतदपृच्छत्-'कियन्तो जीवा मुक्तिं गताः?' तदा तदा जिनमार्गे भगवानेतदेव तदुत्तरम-करोत्-'एकस्य निगोदस्यानन्ततमो भागो मोक्षमापत्।'

योऽयमात्माजरामरः सोऽपि कषायकर्मयोगात्पीड्यमान-स्तदुद्भूतां सन्तापसन्ततिं सहमानः संसारे नानाविधजन-नमरणमुपैति। यावदेव सम्यक्त्वशोभां नो धत्ते, तावन्तं कालं बहिरङ्गपौद्गलिके सुख एव मुदमेति। तत्रानुरक्तोऽसौ पुत्रकल-त्रादिकुटुम्बार्थमनेकधा कर्माणि बध्नाति। तेषां कर्मणां फलमपि पारवश्येनैव जीवोऽयं भुङ्क्ते। पौद्गलिकसुखलिप्सया चैष तदधीनतामासादयति। येषु पुत्रकलत्रादिष्वसौ दिवानिशं रज्यति ते सकला अप्यमी स्वीया नैव भवन्ति, नूनमेकदा जीवोऽसौ सकलं विहाय यात्येव। येषु लक्ष्मीराज्यसत्ताविभुताधिपत्य-तादिबाह्यरमणीयवस्तुषु प्रतिबद्धा अस्वानेव तानात्मीयान् मन्य-

मानास्तदेव सर्वस्वं विदन्ति, यच्चात्मीयं तत्तु विसस्मारैव। ईदृगज्ञानमिथ्यात्ववशंवदीभूतोऽयं प्राणी स्वस्वरूपमप्यस्मरन्, यच्चेदमनित्यं शरीरं तत्रैव बुद्धिं विदधाति, हन्त!!! कीदृशोऽयं व्यामोहः? परमेतन्नो जानाति यदयं देहः स आत्मा नास्ति, किन्तु शरीरातिरिक्तः कश्चिद्विलक्षण एव शुद्ध आत्मास्तीति स एव स्वीयो मन्तव्यः। यदिदं क्षणभङ्गुरं दृश्यते शरीरं तदितर एवास्ति। अतो यावदीदृङ्मिथ्याज्ञानमात्मा नोज्झति, तावदेष स्वकीयविशुद्धसत्तां नावगच्छति। अस्मिँस्तावद् बाह्यदृष्टिरेव तिष्ठति। अयमात्मा यथाऽनादिकालतः संसारेऽत्र बम्भ्रमीति, तथा मिथ्यात्वमप्यमुष्य संलग्नमस्त्यनादिकालतः। तच्च मिथ्यात्वं पञ्चधा न्यगादि शास्त्रे- १. अभिग्रहिकमिथ्यात्वम्, २. अनभिग्रहिकमिथ्यात्वम्, ३. आभिनिवेशिकमिथ्यात्वम्, ४. सांशयिकमिथ्यात्वम्, ५. अना- भोगिकमिथ्यात्वं च।

अमुना मिथ्यात्वज्ञानेनान्धीभवन्तोऽमी जीवाः कषायाणां पारवश्यमिता अनेकविधानि, गाढपापकर्माणि, पृथिव्याम- स्यामर्जयन्तः किल घोरतरं नरकमाप्नुवन्ति। अस्ति चैतयोः सम्यक्त्वमिथ्यात्वयोर्नैसर्गिकः परस्परविरोधः। अत एवैकत्र कुत्रचिदप्येते नैव सन्तिष्ठेते। एतत्पञ्चधात्मकं मिथ्यात्वं तत्स्वरूप- ज्ञानपूर्वकं हित्वैव विशुद्धमनाश्चराचरजीवोद्भूतप्रभूतकरुणोऽसौ प्राणी सम्यक्त्वसम्मुखमागन्तुमर्हति, इतरथा नहीति रहस्यम्।

तत्रादिममिथ्यात्वप्रभावात् पुमान् विद्वानपि, लोकमान्योऽपि, प्रतिष्ठिततमोऽपि स्वीयासदाग्रहं कदाचिदपि नो जिहासति, किन्तु तस्यैव समर्थनाय नानाविधां कुयुक्तिमुपस्थापयते। मनागपि ततो नैव बिभेति। यदा लोके हालराभिधानं पक्षिणं शैशवे प्रसूरुड्डयनं शिक्षयति तदा तत्पदयोरधस्तात् काष्ठकीलकं स्थापयति, यद् बलात्तूर्णमुत्पतत्ययम्। शिक्षिते चोत्पतने तच्छङ्कुत्यागो विधात-

व्यस्तेन, परं स तं पश्चादपि नैवोज्झति। यतस्तन्मानसे किलेयं शङ्का जायते-नूनमहमेतद्बलादेवोत्पतामि। इत्थमलीकशङ्का-भ्रान्तिग्रन्थ्या यावज्जीवं स तं गृह्णात्येव, कदापि नो मुञ्चति, तद्वत् अथवा कस्यचिदेकस्य तापसशिष्यस्य मनसि सौवर्णं कटकं परिधातुमीहोत्पेदे। तदनु स तद्योग्यं स्वर्णं क्रीत्वा कस्मैचिद् धूर्तस्वर्णकाराय तन्निर्मातुमदात्। सोऽपि झटित्येव तदीयं वलयं निर्माय तस्मै प्रत्यर्प्य समाख्यत्- भोः! त्वमेतदापणे गत्वा परीक्षोपले परीक्षय? परन्तु मदीयं नाम कुत्रापि नो वाच्यम्। यतो भूयांसोऽत्र मे वैरिणः सन्ति, तेऽवश्यमेवैतद् विपरीतं वदिष्यन्ति। तथेति तद्वचः प्रतिपद्य स कस्यचित्साधुकारस्यापणे तत्परीक्षणमचीकरत्। कृते च तस्मिन् सौवर्णमेव यथार्थमभूत्तत्। ततो जातविश्वासः स स्वर्णकारान्तिकमागत्य पुनस्तस्मा अदात्। अथ स पश्यतोहरस्तद्वलयं धावन् धावन् पुराक्षिप्तं पैतलं वलयं तस्मै दत्तवान्, यदासीत्सौवर्णं तदपाहरदेव, उक्तं च-भोः! एतद् गृहाण। पुरा त्वयैकदा मदीयनामाग्राहं परीक्षितं, तदा सर्वे तत्स्वर्णमेव जगदुः। पुनरिदानीं तत्रैव गत्वा त्वमेतस्य परीक्षां कुरु? कथ्यतां च मन्नाम, मदभिधां श्रुत्वैव ते नूनमेतद्विपरीतं वक्ष्यन्ति, येन भवानपि तूर्णं ज्ञास्यति यत्सन्ति मेऽत्र नगर्यां सर्वे द्वेषिणो न वेति। तदैव सोऽपि तद्वलयं लात्वाऽऽपणमेत्य तन्नामग्राहं तत्परीक्षणमकारयत्। तदा सर्वे व्यापारिण उच्चैरूचिरे-अहो! एतत्तु पैत्तलं वलयमस्ति। यदानीतं पुरा सौवर्णं तन्नास्त्येतत्। रे मूर्ख! त्वमवश्यं तेन धूर्त्तेन स्वर्णकारेण वञ्चितोऽसि। एतदवितथं लोकानां कथनं संश्रुत्य सोऽवोचत्-भो भो द्वेषसंमग्नाः! ज्ञातं मया, यद् भवन्तः सर्वेऽतथ्यमेव जल्पन्ति। ध्रुवमेव भवन्तः सर्वे साधुमपि तं वञ्चकं वदन्तो द्विषन्ति मुधा। यदेतदेव वलयं पुरा तन्नामाऽजानाना भवन्तः सकलाः सौवर्णं कथितवन्तः। इदानीं

तदभिधाने निगदिते तदेव पैत्तलमाचक्षते। तस्मादवेदि मया यत्सर्वे यूयं तस्य द्वेष्टार एव। इत्थं तन्मनसि प्रमितमलीकमपि यथा नापयाति तथा यन्मनसो यन्मिथ्यात्वं नापसरति जात्वपि तदेवाऽ*भिग्रहिकं मिथ्याज्ञानमु*च्यते।

द्वितीय-मिथ्यात्वे तादृशः कदाग्रहो नास्ति। तथाप्यात्मगुणान् मलिनानेतदपि करोत्येव। यदुदयादेष जीवः सुदेवकुदेवयोः सुगुरु-कुगुर्वोः सुधर्मकुधर्मयोः साम्यं जानीयात्। एतदेव खलु महानिबिडं मिथ्यात्वमुच्यते। एतदेवाऽनभिग्रहिकमिथ्यात्वज्ञानं जल्पन्ति पण्डिताः।

यदुपयोगराहित्येन भ्रान्त्या व्याख्यानोपदेशसमये सभासमक्षं जिनेन्द्रवचनतो विरुद्धमाचक्षीत। असत्यमेवेति जानतापि पुंसा तत्सत्यापयितुमनेकाः सत्योऽसत्यो वा युक्तयो विरच्येरन्, स्वीयं हठवादं कदाग्रहं वा नो जह्यात्। निजाज्ञानाङ्गीकारे चात्मप्रतिष्ठा-हानिः स्यादिति बिभीयाच्च। परमीदृगुत्सूत्रप्ररूपणाज्जीवोऽ-यमनन्तकालं संसारेऽत्र जन्ममरणजं महाक्लेशमेवानुभवतितमा-मित्या*भिनिवेशिकमिथ्यात्व*मुच्यते।

येन श्रीवीतरागवचनेष्वपि संशयीत। यत्राल्पीयसी स्वबुद्धिः किञ्चिदपि न प्रविशति, तादृशातिसूक्ष्मबहुतरमनःप्रणिधानगम्य-विषयविचारणायां जायमानायामसतीं कल्पनां कुर्वीत, यानि निगोदादिसूक्ष्मतत्त्वानि तद्बुद्धेरगम्यानि तेषु सहसा शङ्केत-किमिदं सत्यमसत्यं वा। अथवा धर्मान्तरे यन्त्रमन्त्रतन्त्रादिचमत्कृतिमालोक्य ध्रुवमेष एव धर्मः श्रेयानिति मत्वा तमेव कामयेतेति *सांशायि-कमिथ्यात्वं* ज्ञेयम्।

येनाऽयं प्राणी संमूर्छिमज इव परकीयावलोकनेन शून्यमनसा वस्तुतत्त्वादिपरमार्थमजानानः क्रियासु प्रवर्त्तेत। तदेवाऽ-

नाभोगिकमिथ्यात्वं निगद्यते।

एतेषां पञ्चविधानां मिथ्याज्ञानानां योगादेव जीवोऽयमनादि-कालं संसारे चक्रवत्परिबम्भ्रमीति। चतुर्गत्यां चतुरशीतिलक्ष-जीवयोनिषु गर्भावास-जनन-मरण-रोग-शोक-सन्तापाऽऽधि-व्याधिनानोपाधिजामसह्यां पीडां सहमाना अनन्तानि दुःखानि भुञ्जते जीवाश्चैते। इष्टानिष्टसंयोगवियोगाभ्यामेते प्राणिनः किलाऽ-ज्ञानतया सततमार्त्तरौद्रौ ध्यायन्ति, बध्नन्ति च तेन नानाविधनि-काचितगाढकर्माणि। ब्रह्मदत्त-सुभूमादिवदेते दुर्गतावेव परिव्रजन्ति। एतेषां मिथ्याज्ञानानां कषायाः खलु सहकारिणो जायन्ते। तेष्वे-कैकमपि कषायो यदि जीवमेनं दुर्गतौ नेतुं प्रभवति तर्हि खल्वेकदा पुञ्जीभूतः कुत्रचिदेकत्र पापस्थाने जीवमधोगतौ नयेत्तत्र किमाश्चर्यम्? सति च मिथ्यात्वानां प्राबल्ये तीव्रकषायो ह्यनन्तानुबन्धीभवन्न-वश्यमेनं जीवं नारकीं गतिं प्रापयते। इत्थं क्रोधवशीभूता हिंसानिरता मांसाशिनः सिंहव्याघ्रसरीसृपमार्जारप्रमुखा जीवा आजन्म जीवान् निघ्नन्तो मृत्वा नूनं महानरकेऽतिथयो भवन्ति। मानवशादेव रावणदुर्योधन-प्रभृतयः कतिपया बलीयांसः पुमांसः संसारेऽस्मिन् प्रान्ते दुःखमनुभूय मृताः सन्तः किल नारकीमेवाऽऽतिथेयीं भेजिरे। एवमनन्तानुबन्धिलोभपापोदयादष्टमः सुभूमचक्रवर्त्त्यपि षट्ख-ण्डीयसमृद्ध्या तृप्तिमनधिगच्छन् धातकीखण्डे भरतक्षेत्राऽपर-षट्खण्डसाधनाय परिव्रजन् लवणसागरमध्य एव ससैन्य पतित्वा मृत्वा च सप्तमनरकस्याऽऽतिथ्यमलभत। कापट्य-करणादेव भगवान् मल्लिनाथः स्त्रीत्वमवाप। येऽत्र जन्मनि मायिनो भवन्ति, तेऽवश्यं भवान्तरे तिरश्चां स्त्रीणां वा योनौ समवतरन्ति। यतो हि-देवेषु लोभाधिक्यं, मनुजेषु मानाधिक्यं, तिरश्चां कापट्यबाहुल्यं, नारकीयाणां क्रोधाधिक्यं निसर्गादेवोत्पद्यते। इत्थमेकोऽपि कषायो जीवान् कीदृशीमधोगतिं नयते। अहो! पुत्रकलत्रधनधान्यमूर्छिता

अतिमूढतामापन्नास्तेष्वेवाऽऽसक्तिं च नीता जीवाः परिणामकाले गाढमोहबद्धा एकेन्द्रियजीवयोनावुत्पद्यन्ते। येऽत्र स्त्रैणा भवन्ति जीवास्ते परत्र तास्वेव प्रादुर्भवन्ति। एवं मिथ्यात्वेन किलान्धीकृता जीवा नानायोनिसमुत्पन्ना दुःखान्यनुभवन्ति। एष महीयान् प्रभाव एकस्य मिथ्यात्वस्यैव चाचकीतितमाम्।

सम्यक्त्वपरिपालने किं फलम्? तदाह -

अंतोमुहुत्तमित्तं पि, फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल-परिअट्टो चेव संसारो ॥१॥

सम्यक्त्वं नाम किमप्यमूल्यं वस्तु दुरापमेवास्ति जगत्याम-स्याम्। तच्चान्तर्मुहूर्त्तमात्रमपि यस्योदेति स चार्धपुद्गल-परावर्त्तनकालेऽवश्यं मोक्षमुपैति। यश्च कश्चिन्निर्दूषितसम्यक्त्व-वानस्ति, स तस्मिन्नेव भवे, कियांश्च तृतीयभवे, कोऽपि सप्तमे भवे, कश्चनाष्टमे भवे मोक्षमधिगच्छत्येव।

सामान्येन सम्यक्त्वस्य द्वैविध्यं शास्त्रोक्तं वर्वर्त्ति-प्रथमं व्यवहारसम्यक्त्वमपरं च निश्चयसम्यक्त्वम्। 'यदत्र संसारे ब्रह्म-विष्णुशिवादयो भूयांसो देवा दृश्यन्ते, परमेषां मध्ये यो हि काञ्चनकामिनीनां त्यागी, रागद्वेषादिमुक्तः, अष्टादशदोषरहितः, कषायैश्च त्यक्तः, समशत्रुमित्रः, अनन्तशक्तिमान् भूत्वापि क्षान्ति-निधिः त्रैकालिकज्ञानवान्, प्रणष्टजराजननमरणः श्रीवीतरागदेवो-ऽस्माकमुपास्योऽस्तीति निश्चेतव्यम्।'

'ये खलु जिनेन्द्रप्ररूपिते पथि वर्त्तमानाः संसारसागराद-स्मात्तीतीर्षवः, लोकाँस्तितारयिषवश्च तीर्थङ्करप्ररूपितं पन्थानं चालयन्तः, पञ्चमहाव्रतानि परिपालयन्तः, परानपि भव्यजीवान् वीतरागभाषितमार्गं दर्शयन्तः, धर्मार्थसत्यमार्गे गच्छन्तः, काम-क्रोधादिकषायाणां विजिगीषया सततं प्रयतमानाः, ईदृशा एव

शुद्धा गुरवो जगतस्तरन्ति, अन्यानपि तारयन्ति च।'

साधुधर्म-श्रावकधर्मभेदेन शुद्धधर्मोऽपि द्विविधो विद्यते। ये जीवा लघुकर्माणो मुमुक्षवो जितेन्द्रियाः सांसारिके क्वाप्याकर्षके विषये बन्धनकारके न तिष्ठेयुस्ते प्राणिनः साधुधर्मानशेषानाराध्य वीतरागस्थापितमार्गानुसारेण सत्वरं मोक्षं यान्ति।

ये जीवा बहुलकर्माणः साधुधर्मपालनेऽसक्ताः संसारेऽत्र विषयवासनया निबद्धा भवेयुस्ते खलु श्रावकधर्मपालनादेव समयान्तरे मोक्षमेष्यन्ति। श्रावका अप्युत्तममध्यमकनिष्ठभेदेन त्रिधा सन्ति। तत्र ये द्वादशव्रतधारिणो देवगुरुधर्मेषु भक्तिं कुर्वन्त एषां कृते प्राणमपि दित्सन्ति, ते जीर्णश्रेष्ठीव द्वादशदेवलोकपर्यन्तं गन्तुमर्हन्ति। चेटकमहाराजवद्राज्यव्यवसायी युध्यमानो द्वादशव्रतधारी श्रावकोऽप्यष्टमदेवलोकमगमत्। मध्यमाः श्रावका द्वादशव्रतेभ्यो न्यूनमपि व्रतं यथाशक्ति परिपाल्य देवे गुरौ धर्मेषु च सम्यग् भक्तिं कुर्वाणा जायन्ते, बोभूयन्ते च संसारे व्यवहारविषये प्रीतिमन्तः, अथापि धर्मेष्वभिरुचिमेते कुर्वन्ति, यथाशक्तिव्रत-प्रत्याख्यानादिकमप्याचरन्ति, ईदृशाः श्रावकाः पञ्चमे गुणस्थानके जायन्ते च। तृतीयाः कनिष्ठाः श्रावकास्तु व्रतादेरकरणादविरति-सम्यग्दृष्टयो निगद्यन्ते, एते खलु देवगुरुधर्मेषु भक्तिं विधातुं श्रेणिकराजवद्दृढतराऽऽस्थावन्तो भवन्तस्तीर्थकृतां भक्त्या क्षायिकसम्यक्त्ववदुत्कृष्टसम्यक्त्वकलिता अपि कर्मबाहुल्यात्प्राक्तनान्तरायोगादिह जन्मनि व्रतमेकमपि कर्त्तुं नो शक्नुवन्ति, जायन्ते चैते चतुर्थगुणस्थानके।

योऽसौ विशुद्धो धर्मः प्ररूपितस्तीर्थकृता तस्यैते दानं, तपः, शीलं, भावनेति चत्वारः प्रकारा अपि सन्ति। एतेषामेकमपि प्रकारमाराधयतां जीवानां कृतकृत्यता सम्पद्यते।

इहाऽभयदानम्, सुपात्रदानम्, अनुकम्पादानमुचितदानं, कीर्तिदानमिति पञ्चप्रकारा दानस्य सन्ति। तत्रान्तिमानि त्रीणि दानानि ये कुर्वन्ति, लोकेऽस्मिन् महतीं समृद्धिमाप्नुवन्ति, अवशिष्टे च द्वे दाने मोक्षप्रदत्वादुत्तमे स्तः, इति शास्त्रकृतामादेशो जागर्त्ति। पश्य पश्य य एष सुप्रसिद्धोऽस्ति शालिभद्रः स हि पूर्वस्मिन् भवे कश्चिदेकगोपालजीव आसीत्। परमेष शुभभावनया मासोपवासिने सुसाधवे पारणार्थमागताय क्षीरमदात्। तत्प्रभावादियतीं समृद्धिं स प्राप्तवान्। पश्चात्ताः सकला अपि सम्पत्तीर्विहाय स महावीरप्रभुपार्श्वे दीक्षां ललौ। चिरमत्र तां परिपाल्य प्रान्ते सर्वार्थसिद्धिविमानं प्रापत्। ततश्च्युत्वा मानुषं जन्म समासाद्य मोक्षं यास्यति। एवमस्य भगिनीपतिर्धनाभिधानः श्रेष्ठ्यपि पूर्वे भवे सुपात्रदानं दत्तवान्। तत्प्रभावादत्र जन्मनि महीयसीं बुद्धिं सम्पत्तिं चापन्नः शालिभद्रवदेकावतारीभूय मोक्षं व्रजिष्यति। योऽयं प्रथमस्तीर्थङ्करस्तदीयजीवोऽपि पूर्वजन्मनि धनाभिधसार्थवाहः साधुभ्यो भक्त्या घृतानि ददौ। तत्प्रभावादेव मोक्षफलं स प्राप्तवान्। अभयदानमपि मुक्तिस्त्रीकरनिहितवरमालामाकर्षयितुमग्रेसरमस्ति। यथा-मेघरथो राजा स्वशरीरमांसदानेन कपोतपक्षिणमेकं तत्रे। तत्प्रभावाच्चक्रवर्त्तिनः समृद्धिमासाद्य षोडशस्तीर्थङ्करो भूत्वा मुक्तोऽभूदमुष्माद् भवसागरात्। तथा द्वाविंशतितमस्तीर्थङ्करो नेमिनाथः पुरा राजीमतीं परिणेतुं महीयसाऽऽडम्बरेण जन्यैः सत्रा गच्छन्, तल्लग्नसमाहूतजनतागौरवकृते वध्यपशूनामार्त्तनादमाकर्ण्य समुद्भूतप्रभूतविषयवैमुख्यस्तत एव परावर्तत। तां राजीमतीं नैव परिणीतवान्, तत्कालमेव खलु दीक्षितो भूतो हि शिवरमण्याः प्रेयान्। कश्चिद्धर्मरुचिनामा श्रमणः केनचिदर्पितं कटुतुम्बिकाशाकं गुर्वाज्ञया परिष्ठापयितुं परिव्रजन् पथि कीटोपरि जातानुकम्पः स्वयमेव तेन विषप्रायकटुतुम्बिकाशाकेन मासक्षपणपारणं व्यधात्।

नमोऽस्तु धन्यतमेभ्य ईदृशेभ्यो मुनिवरेभ्यः, येषामीदृशी दया मनसि विलसति। तच्छाकाहारेण मृत्वा सर्वार्थसिद्धिविमाने समवततार सः। ततो मनुष्यत्वमेत्य मोक्षमधिगमिष्यति।

इत्थमेव शीलस्यापि महिमा जागर्त्ति। पुरा खलु सुदर्शनश्रेष्ठिनः शीलप्रभावाच्छूलिकापि सकललोकसमक्षं सिंहासनमभूत्। एतच्छीलमाहात्म्याादेव द्रौपद्याः सर्वेषां सभ्यानां मध्ये दुःशासने तच्चीरमष्टोत्तरशतवारमाकृषति सति नवनवं चीरमुत्पेदे। इत्थं कलावत्या अपि सच्छीलमहिम्नश्छिन्नोऽपि करः पुनर्नूतनोऽध्यजायत, महासती सीतापि निजाऽखण्डितशीलपरीक्षणाय श्रीमता रामचन्द्रेणादिष्टा सर्वेषु पश्यत्सु प्रज्वलिते हुताशनकुण्डे पपात। तदा सोऽग्निस्तच्छीलमाहात्म्यान्नैसर्गिकीं दहनशक्तिमपहाय जलवच्छीतलोऽभवत्। एवमेकदा सती सुभद्रा निजसतीत्वमहिम्ना किलाऽऽमतन्तुना बद्धचालन्या कूपाज्जलमानीय तत्परिषिच्य चम्पानगर्य्या द्वारस्य कपाटमुद्घाटितवती, धन्यवादार्हाः किलेदृशाः शीलमण्डनसुमण्डिता नरा नार्यश्च जगत्याम्।

तपसो महिमा तु जगति सर्वत्र सुव्यक्त एवास्ति। यथा खलु मयूराणां डिम्भाः केनापि नो चित्रीयन्ते किन्तु स्वत एव चित्रिताः सम्पद्यन्ते। तद्वत्तपसः प्रभावोऽपि स्वत एव प्रकाशो भवति। क्लिष्टतराण्यपि कर्माणि दहनवत्क्षणादेव भस्मसात्करोति, प्रभुवर्द्धमानोऽपि सार्धार्कवर्षाणि महाघोराणि तपांसि कृत्वा स्वीयानि क्लिष्टानि कर्माणि किलाऽनीनशत्। ढण्ढणमहर्षिस्तु षाण्मासिकीं तपस्यां विधाय तत्पारणादिवसे कैवल्यज्ञानमाप्नोत्। धम्मिलकुमारः षण्मासान् यावदुग्रतरं तपः कृत्वा स्वकामितमलब्ध। लोकेऽस्मिन् खल्वसाध्यमपि कार्यं तपोबलात्सुखेन सिध्यति पुंसामत्र मनागपि सन्देहो नास्ति। जगति दुर्भगोऽपि महादुःखग्रस्तोऽपि ना यदि षण्मासान् 'आयम्बिलं' तपः कुर्वीत,

तर्हि स पुमान् धम्मिल्लकुमारवदेव सुखमनुभवेत्। किं बहुना तपसा हि देवा अपि वशंवदीभूय तिष्ठन्ति। चक्रिणोऽपि यदा देवानाक्रष्टुं काङ्क्षन्ति तदा तेऽप्यष्टमं तप आचरन्त्येव। श्रीकृष्ण-वासुदेवोऽप्यष्टमतपोमहिम्नैव श्रीशङ्खेश्वर-पार्श्वनाथप्रतिमां नागलोकादिहाऽऽनीय जरासाक्षसीं जघान। अतो लोकेऽत्र यद-साध्यमस्ति कृत्यं तदपि तप एव विहितं सत् सुखेन साधयति।

या खलु भावना, सा हि भवमवश्यं नाशयति, यदाह 'भावना भवनाशिनी' एतच्चालीकं नास्ति। प्रथमचक्रवर्त्ती भरत-महाराज आदर्शभवने तिष्ठन् केवलं भावनामेव भावयन् कैवल्य-मियाय। न ह्येक एव किन्तु तत्पदे संस्थिता अन्येऽप्यष्टौ राजा-नस्तद्वदेव भावनाभावनया प्राप्तकैवल्यज्ञाना मोक्षमीयुः। नर्त्तकी-प्रेमनिबद्धाऽऽषाढभूतिरप्येकदा भरतचक्रवर्त्तिनामकं नाटकं चिकी-र्षुस्तत्रादर्शभवनमायातस्तत्कालमेव समुद्भूतविशुद्धभावना-प्रभावात्कैवल्यज्ञानमैषीत्। अरे! अद्यापि यदि मनसीदृशो विशुद्धो भावः क्षणमपि यस्य कस्यापि समुद्भवेत्, तर्हि सा भावना तस्य जीवस्यानेकभवसञ्चितानि कर्माणि विनाश्य लघुकर्माणं विदधात्यात्मानम्। तस्मादेष भावः श्रेयान् वरीवर्त्ति जगत्याम्।

महानुभावाः! दानशीलतपोभावनानामेकैकमपि जीवाना-मात्मकल्याणकारि विद्यते, तर्हि कुत्रचिदेकत्र वर्त्तमाना एते चत्वारः किमिति श्रेयो नो विदधीरन्?। इत्थं त्रयाणां देवगुरुधर्माणां तत्त्वानि सम्यगवगत्य किलैतत्तत्त्वत्रयीं भजन्ते। भक्त्या तानि समाराधयन्ति, तदेतद् व्यावहारिकं सम्यक्त्वं निगदन्ति शास्त्रकर्त्तारः। यावच्च सम्यक्त्वं नोदेति प्राणिनां तावन्तं कालं मुक्तिनगरीजिगमिषु-गणनायामेष जीवो नैव गण्यते। तदेतत्सकृदप्यागत्य पुनः काम-मपगच्छेत्तावतापि भव्यजीवानां मुक्तिपथिकेषु गणना किल भवत्येव। जाते च सम्यक्त्वे जीवोऽयमर्धपुद्गलपरावर्त्तन-

कालपर्यन्तमेवामुष्मिन् संसारे परिभ्राम्यति, ततोऽधिकं नेति बोध्यम्।

अर्धपुद्गलपरावर्तनं कालविशेषस्य मानमस्ति। तथाहि- दशकोटाकोटिसागरोपमः कालोऽवसर्पिण्यां याति, एतावानेव काल उत्सर्पिण्यां याति, उभयोश्च सङ्कलनया विंशतिकोटाकोटिसागरोपमः कालः कालचक्रमेकं कथ्यते। अस्मिन्ननन्तकालचक्रेऽतीते किलैक-पुद्गलपरावर्त्तनकाल उच्यते। सम्यक्त्ववन्तो जीवा इह संसारे-ऽधिकादप्यधिकमर्धपुद्गलपरावर्तनकालपर्यन्तं[1] भ्राम्येयुः।

इह खलु ये भव्या व्यवहारसम्यक्त्वं सम्यक् परिपालयन्ति, तेषामेवैतन्निश्चयसम्यक्त्वस्य प्राप्तिः सम्भवति, नेतरेषाम्। यतः- व्यवहारसम्यक्त्ववन्तो जीवा यथा यथा विशुद्धभावेन श्रीतीर्थङ्करे भगवतीं भक्तिं कुर्वन्तस्तं प्रभुं जानन्ति, तत्स्वरूपं विदन्ति, तथा तथा वीतरागस्य भगवतः प्रभावो महानेव जीवोपरि निपतति। ततश्चायं बाह्यं विहायाऽऽन्तरं तं बोधति। तदनन्तरमन्तर्दृष्ट्यां जागृतायां सत्यां स्वात्मा कोऽस्ति? यश्चैष पौद्गलो धर्मो मामना-दिकालतः सांसारिकेषु मिथ्यात्मकेषु पुत्रकलत्रादिविषयेषु व्यामो-हयन् नितरामखेदयत्स कोऽस्ति? उभयोश्चैकता नास्ति। इत्थ-मात्मपौद्गलिकधर्मयोः पार्थक्यमालोक्याऽऽत्मतत्त्वं जानानः कोऽ-स्म्यहं?, कुतश्चागतोऽस्मि? कुत्र च गन्तव्यमस्ति? अहो! अहमेकदा निगोदे किलाऽऽसम्? इदानीमपारेऽत्र संसारे परिभ्रमामि। अमुष्य जीवस्य सत्यात्मकं स्थानं मुक्तिरेवास्ति। येनासावजरामरतामुपैति। इत्यनायासेनैव जानात्यसौ जीवः। ततश्चानन्तज्ञानदर्शनचारित्र्य-वीर्यादयो गुणा आत्मनो निसर्गजाः सन्तीति ज्ञात्वा तानात्मीयगुणान् प्रकटयितुं प्रयतन्ते जीवाः खलु। पश्चादित्यपि जानाति, यदह-मात्मशक्तिं परावर्त्य मोक्षमधिगन्तुमर्हामि। इत्थमज्ञानपटले दूरीकृते

1. अर्धपुद्गलपरावर्तकालेऽपि अनन्तोत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालः कथितः।

स्वात्मज्ञानमुदियात्। तदैव निश्चयसम्यक्त्वमधिगतं भवेज्जीवानामेषाम्। तस्मिन् ज्ञाते सांसारिके विषये मनागपि जीवा नो रज्यन्ति।

ये खलु भवन्त्यात्मवेदिनस्ते मानापमाने नो गणयन्ति, न वा कामयन्ते कीर्त्तिम्। ते सर्वदा रागद्वेषादिसमुज्झिता मोक्षमेव लक्ष्यीकृत्य स्वात्मन्येव रमन्ते। केवलमेतान्यष्टकर्माणि भस्मसान्नेयानीत्येव तेषां लक्ष्यबिन्दुर्भवति। अनारतं प्रयतन्ते च पापानुबन्धीन्यष्टादशपापस्थानकानि विहातुम्। *निजात्मानमेव देवं मन्यन्ते निश्चयसम्यक्त्ववन्तः। गुरुरपि तेषामात्मैव बोभवीति, यानि खलु धर्मतत्त्वानि गुणतत्त्वानि च तान्यप्यात्मन्येव प्रच्छन्नतया वर्त्तन्ते। एतेषां समेषां प्राकट्यं विधाय वीतरागबुभूषया तीर्थङ्करपदलिप्सया सदैव यतन्ते चैते।* दिवानिशमात्मतत्त्वेषु रममाणाः सांसारिकाऽऽश्रवैः सकलैश्च विमुक्ता निश्चयसम्यक्त्ववन्तः प्राणिनस्त्वस्मिन्नैव जन्मनि प्रसन्नचन्द्रराजर्षिवत्कैवल्यसुखमनुभवन्तितराम्। अथवा एकद्विरित्यल्पभव एव मुक्तिरमणीमवश्यमेते वृण्वन्ति। यतो हि निश्चयसम्यक्त्वधारका जीवा आश्रवमार्गमवरुन्धानाः सदैवाऽऽत्मन्येव रममाणाः किलैते कर्माण्येव निर्जरयन्ति। इत्थं निर्जरयतां तेषां बहुषु कर्मसु जीर्णेषु यथा यथाऽऽत्मध्यानेन तत्क्लिष्टकर्म क्षीणतां व्रजति, तथा तथा तदात्मा क्रमशः शुद्धः शुद्धतरो जायते, एवं विदधतां सर्वथा निःशेषकर्ममुक्तौ सत्यां कैवल्यमुत्पद्यते।

इह संसारे स्वेषां परेषां च यथार्थस्वरूपे ज्ञाते जडपौद्गलवस्तूनां मर्माणि स जानाति, ततोऽसौ पौद्गलिकसुखानि नैव स्पृहयति। उपरतासु तद्वासनासु सांसारिकसुखानि तु सुतरां नो कामयते सः। यावदेव प्राणिन इच्छन्ति, तावदेव धर्मात्मानो

जीवाः पुण्यानुबन्धीनि कर्माणि कुर्वते, ताश्च वासना वर्त्तमानभव एव फलन्ति, कदाचिदिह भवे न फलन्ति चेद् भवान्तरे खलु प्राणिनस्तर्पयन्ति। परन्तु आत्मतत्त्व-रममाणजीवानां तु मुक्तिस्त्री-करनिहितवरमालाया एव कामना जायते। मुक्तिजातमनन्तं सुखमेव वाञ्छति, तेषां मनो नेतरत्कदाचिदपि।

भो लोकाः! इदमपि जानीत, यदत्र संसारे व्यवहारसम्यक्त्वा-धिगमं विना निश्चितसम्यक्त्वासादनं कर्त्तुं जीवोऽसौ नो शक्नोति। यदि कश्चिद् व्यवहारसम्यक्त्वमुल्लङ्घ्य प्रथमं निश्चयसम्यक्त्वोपर्येव चटेत्, आत्मतत्त्वानि व्याहरेत्, पुनः संसारे खलु मिथ्यात्मके पुत्रकलत्रादिविषये संसज्जेत, तर्हि स पुमान् एकमप्यर्थमन-धिगच्छन्नुभयथा हि भ्रष्टतामुपयाति। यावदेष जीवः पुत्रकल-त्रादिव्यवहारपाशग्रस्तो भवेत् तावन्तं कालं व्यवहारसम्यक्त्व-मवनीयमवश्यमेव तैः। अस्मिंश्च सम्यक्त्वे सर्वथा लाभ एव वर्वर्त्ति, देवगुरुधर्मान् परया भक्त्या समाराधयतां प्राणिनां सांसारि-काऽनेकसावद्यकृत्यानुष्ठानाज्जातानि पापानि नश्यन्ति, ततश्चात्मा पूतो भवति। इत्थमेतद्धि सम्यक्त्वमनादिकालतो जननमरण-जरादिनानाक्लेशपरिपीडितानेताञ्जीवान् एतेभ्यो दुःखेभ्यः संमोच्य मुक्तिवध्वा उत्सङ्गेऽनन्तकालपर्यन्तं रमयतेतमामिति सविस्तरं सम्यक्त्वस्वरूपमश्रावयत श्रीपरमदेवसूरिः।

अमुष्मात्सम्यक्त्वस्वरूपप्ररूपणादनेके भव्यजीवाः प्रत्य-बोधन्। गुरोर्वदनात्सम्यक्त्वतत्त्वं यथावदवगत्य सपरिवारो जगडूशाहस्तत्सर्वं स्वान्ते निधाय गुरुवर्यं भक्त्या त्रिवारमभिवन्द्य स्वसदनमीयिवान्, गुरुरपि ततोऽन्यत्र विजहार।

इतश्च विपक्षीभूताऽशेषभूभुजामखर्वगर्वाऽन्धकारप्रशमाय भास्वानिव जाज्वल्यमानः श्रीपीठदेवक्षितीश्वरः प्रशस्तं थरपारकरं

देशं प्रशास्ति। यस्य नैदाघभानूपमाऽसह्यगुरुतरप्रतापेन सन्तप्तगात्राः प्रत्यर्थिनः सुधांशुधाम्ना पल्लवैः पङ्कजदलैर्वा जलार्द्रवातेन वा निर्वृतिं नाप्नुवन्ति। निजागण्यसैन्योत्थितधूलीपटलैरर्कबिम्ब-माच्छादयन् समग्रं कच्छदेशं क्षोभयन्, अकाण्डसर्पत्प्रलयार्णवश्रीः स पीठदेवो भद्रेश्वरनगरमाससाद। त्रासितारिपक्षः स चौलुक्यवंश-विभूषणेन बाणावलिना श्रीभीमदेवाख्यनरेश्वरेण पुरा कारितं भद्रेश्वरपुरस्यातिदुर्गमपि दुर्गमपातयत्। तत्र बलेन समं निजं प्रचण्डदोर्दण्डभवं पराक्रमं विस्तार्य स पीठदेवो भूपतिः पुनः समृद्धं थरपारकरदेशमाययौ।

तत्र भद्रेश्वरपुरे नवीनमतिदृढं दुर्गं निर्मापयन्तं जगडूकं कारान्तरन्यस्तविपक्षपक्षः स पीठदेव उच्चैरवेदीत्, तस्मिन्नवसरे तत्प्रेषितः कश्चन वाचालः सन्देशहारी पुमान् तत्र गत्वा तद्-दुर्गनिर्मापणे कृतप्रयत्नं जगडूकमित्थं स्फुटां वाचमुवाच-भो जगडूक! स जितारिवर्गः पीठदेवो भूजानिर्मन्मुखेन भवन्तमित्य-भिधत्ते, चेत्खरस्य मूर्धनि शृङ्गद्वयमुत्पद्येत तर्हि पुरेऽत्र दुर्गमपि जायेत। तस्य तादृशं वच आकर्ण्य धीमाननल्पतेजा असावेवम-जल्पत्। 'रे दूत! नूनमहं खरशिरस्यपि शृङ्गद्वयीं विरचय्य कृतप्रयासोऽत्र दुर्गमवश्यमेव जनयिष्यामि।' पुनरपि वाग्मी स दूतस्तमेवमवदत्-'भोः! द्रव्याऽखर्वगर्वेण त्वमधुना महीयसा बलीयसा मत्प्रभुणा सह सहसा वैरं बद्धवा मुधैव कुलक्षयं किं चिकीर्षसि? किञ्चाऽत्र लोके बलीयसा स्पर्धमानः कोऽपि पुमान् मङ्गलमापन्नस्त्वया व्यलोकि? स हि प्रदीपस्य प्रभामवलोक्य पतन् पतङ्ग इव विनाशमेवाधिगच्छति। अन्यदपि यः खलु लीलयैव प्रचण्डदोर्दण्डभृतां विपक्षीभूताऽशेषभूभुजां ज्वलन्तमपि प्रतापाग्निं शमयामास, स मामकः प्रभुस्त्वया सहेदानीं कलिवार्त्तयाऽप्यधिकं त्रपते। तस्मादेतद्दुर्गविधित्सया क्रियमाणममुं प्रयासं मत्प्रभु-

वाक्यतस्त्यज। स्वबन्धुवर्गेण विराजमानस्त्वमधुना शश्वदेतदतुल-कमलोपभोगं कुरुष्व।' इत्थं साभिप्रायं ब्रुवन्तं दूतं जगडूरित्यवदत्-'दूत! नूनमत्र नव्यं भव्यं दृढतरं दुर्गं कारयिष्ये, त्वदीयस्वामिनः कापि भीतिर्नास्ति।' तदनन्तरं पुरन्दरतेजसा तेन जगडूकेन नितान्तं तिरस्कृतः स दूतस्ततो गत्वा स्वभर्त्तुरग्रे दीनाननः सकलं वृत्तमवादीत्।

इतश्च, निजप्रतिज्ञापरिपालनाय प्रशस्तामुपदामादाय स जगडूरणहिल्लवाडनगरे [पाटण नगरे] गत्वा श्रीलवणप्रसादाख्यं क्षितिपालं ननाम। तदा चौलुक्यकुलैकदीपः स नरपतिरपि तमानतं गाढमालिङ्ग्य स्वसन्निधावेव सादरं वरासने न्यवीविशत्। अथ मुखेन्दुकान्तिवर्धिष्णुः सकलसभ्यजनप्रमोदसागरः क्षितीश्वरः सुधाकिरा गिरा सोलसुतं प्रीणयामास। तथाहि-'भोः कृतिन्! तव भद्रेश्वरपुरे कुशलं वर्त्तते?, त्वमधुनाऽस्मिन्नगरे निदेशेन विना सहसा किमर्थमागाः?, मोक्षार्थिनां मनः समाधिनेव, धरातलं मेरुमहीभृतेव त्वयैकेन नूनमिदं मदीयं राज्यं सुस्थिरं विराजते।' तदा मनसि प्रमोदपूरं दधद्रत्नाकरावासवरः स प्रशस्तधीरित्थं भूमिभृतस्तस्य गिरं श्रुत्वा सर्वसभासमक्षमिदमभाषत-'हे चौलुक्यकुलपूर्णचन्द्र! तावकीनातितीक्ष्णखड्गधारायमुनाजलौघे सकलो विपक्षपक्षः सुखेन प्राणं विहाय दुरापमिदं स्वा राज्यसुख-मनुभवति। देव! क्रूरातिक्रूराऽरातिकुलाटवीचयपरिपोषेण वर्धितोदये तत्रभवतां स्फूर्जत्प्रतापानले समस्तभूमण्डले व्याप्ते सति, यदेष लोको भूयसा तापेन नो तप्यते, तदेतन्महच्चित्रं प्रतिभाति। किञ्चाऽशेषमहीमण्डले शश्वदुदयशालिनमनस्तमितं तावकं प्रौढ-प्रतापाऽरुणं दृष्ट्वा दृष्ट्वा तेऽतीवकातरहृदो द्वेष्टारश्छन्नपलायनै-कमतयोऽपि कदाचिदपि छन्नं चरणौ नैव मुञ्चन्ति। अर्थाद्ये समुत्पन्ना जायन्ते, ते तत्कालमेव दहने शलभवत्प्रणश्यन्ति। ये पुनः प्रणतास्ते

भवद्यशःसुधाकरकरनिकरशिशरीकृताः प्रमोदमेव ध्रियन्ते। स्वामिन्! निखिलारातिविनाशनपटीयसि त्वयि धरातलमिदं शासति सति भद्रमन्दिरे मम गोत्रेऽपि च स्वस्तिवार्त्तां किं निगदामि?, नाथ! सकला अप्यरातयस्त्वया भूयसा बलौघेन विजितास्तथाप्येकः पीठदेवः कलिताऽखर्वगर्वस्तव शासनं नाङ्गीकरोति। लोकप्रमोदाय कृतोदयेन निरन्तरस्फारतरप्रभेण, त्वया समं स घूकवत्सदैव नितरामेव स्पर्धते। किञ्च यत्पुरा चौलुक्यवंशाऽवतंसो राजा भीमदेवोऽचीकरत्, तद् भद्रेश्वरपुरीयं दुर्गमं दुर्गं सलिलप्रवाहः सरित्तटमिव सोऽपीपतत्। यदि कदाचित्खरशिरसि विषाणयुगल-मुत्पद्येत, तदा त्वमत्र पुनरभिरामं दुर्गं विदधीथा इति प्रौढदर्पादव-गणितपरभूपगर्वस्तरस्वी पीठदेवो मामवादीच्च। राजेन्द्र! अहमपि निजसन्धापालनाय त्वदन्तिके शीघ्रमभ्यागतोऽस्मि।' 'अतस्त्वं साम्प्रतं मह्यं त्रिगुणितार्कमिताऽश्ववारान् परैरजय्यान् क्षत्रियोद्भटान् ददस्व, तत्र स्थापनाय। तदाकर्ण्य दास्यामीति स नरेन्द्रो बभाण।

अथ चौलुक्यवंशाम्बरदिवाकरात्प्रीतात्तस्माल्लवणप्रसादा-त्क्षितीशादुद्दामविक्रमं यथास्यात्तथा सकलक्षत्रियसद्वंशसम्भूत-कुलश्रेणीसनाथं तद्बलमादाय सत्त्ववान् सोलसूनुर्भद्रेश्वरं नगरमाययौ। तत्र भद्रेश्वरे लवणप्रसादभूजानिचम्वा विराजमानं तज्जगडूकमा-कर्ण्यैव स पीठदेवः स्वस्थानं परित्यज्य क्वाप्यन्यत्राऽनश्यत्। अथादभ्रजाग्रत्तरबाहुवीर्यः स दुर्गं कारयितुं प्रचक्रमे। तदुपरि निशिभङ्गकर्त्तुर्भद्रसुरस्य सद्माऽसूत्रयत्। तदनु महीयसा तेजसा निर्जिताऽरातिजातिः सोलपुत्रः षड्भिर्मासैस्तत्र दुर्गे जातेऽन्यक्षत्रिय-कुलानि तद्दुर्गरक्षायै तत्र स्थापयित्वा सर्वं सैन्यं भूभर्त्रे प्राहिणोत्। दुर्गैककोणे चाऽधः परिस्थापितपीठदेवमातृप्रसङ्गेन विभ्राजमाणं सशृङ्गं पाषाणमयं खरं स घटयामास। शृङ्गे च तस्य भूयसा स्वर्णेन विभूषयामास। यतः-'आत्मप्रतिज्ञापालनार्थं मानिनो जना

गुरुतरमपि यत्नं कुर्वन्त्येव।' अथास्य भीत्या स पीठदेवः परिम्लानवदनः क्वचिदपि स्थातुं नाऽशकत्। ततो गरीयस्तर-विक्रमिष्णुना तेन सह पीठदेवः सन्धिमकरोत्।

अथान्यदा तेन जगडूकेन समाकारितस्तत्कालमेव तत्रागतः पीठदेवो मुक्ताऽखर्वदर्पस्तस्मात् कृतज्ञात् सोलसूनोः सत्कृतिमवाप। तदनन्तरं सोलकुलावतंसः स कालवेदी स्वेन कारितं, परिस्फुरत्स-त्परिखाभिरामं, रजतगिरिसोदरं, तद्दुर्गं तं पीठदेवमदीदृशत्। अथ द्वाभ्यां स्वर्णशृङ्गाभ्यां शोभमानं, स्वमात्रा कलितं खरमालोक्य नितान्तसञ्जातदुःखान्मुखवान्तभूरिरुधिरः पीठदेवस्तत्रैव दुर्गैककोणे सहसाऽसूनहासीत्। अथ पीठदेवे निधनत्वमापन्ने स सिन्धुमही-पतिरुद्भूतप्रभूतभयस्तं जगडूकमधिकं दानमानोपदादिविधिनाऽ-भजत। यश्चेत्थं सुचङ्गचामीकरीयशृङ्गयुग्मकलितं खरेण शोभमानं दुर्गमं दुर्गमात्मशक्त्या निर्माप्य तत्र भद्रेश्वरे श्रीलवणप्रसादक्षितिपतेः षट्त्रिंशत्क्षत्रियवंशप्रभवभटजनश्रेणीमोजस्विनीमानीय पीठदेवं मानहीनं व्यधत्त, स जगडूरेवाऽद्वितीयसत्यप्रतिज्ञो विराजते नितराम्।

वैरिव्रजेन भग्नस्य भद्रेश्वरनगरप्राकारस्य पुनर्निर्माणमितरवीर-वरनरदुष्करमासीदथापि तत्सम्पादनेन गुर्जरसौराष्ट्रजनपदीयाऽ-शेषक्षितिपालेषु जगडूशाहस्य प्रभावः कश्चिदपूर्व एव प्रससार। अत एव तैर्महीपालैरसौ नितरां सत्कृतो जज्ञे। तदानीं भद्रेश्वर-पुरनिवासिनस्तत्प्रान्तीयाश्च भूयांसो महेभ्या एकत्रीभूय मिलितुं जगडूशाहसदनमायाताः। अयमपि समागताँस्तान् सर्वान् सम्मान-पूर्वकं स्वान्तिके सादरमुपवेशयामास। व्यापारोन्नतिकरीं विविधां वार्त्तां चिरमालप्य तानपृच्छत्सः। भो मान्यतमा वयोवृद्धाः! एतस्य कच्छदेशस्य गुर्जरदेशस्य चावनतिं समुन्नतिं च कदा कस्य कस्य च शासने के के कृतवन्तः!

एतदुत्तरं कश्चिदितिहासज्ञानपटीयान् महेभ्य एवमाख्यातुम-लगत्-'श्रेष्ठिवर्य! यथाहमितिहासत एतत्स्वरूपं वेद्मि तथा तत्र भवतामग्रे कथयामि, सावधानतया शृणु।

'विक्रमीयचतुर्थशताब्द्यां वल्लभीपुरीयमौन्नत्यं सर्वेषां श्लाघ्यतममद्भुतमेवाऽऽसीत्। परमेतत्पञ्चससत्यधिकत्रिशताब्द्यां काकुनाम्नो वैशस्य कलहेन नष्टभ्रष्टमजायत। यद्यप्येतस्य यत्किञ्चिदंश एव ननाश, यदग्रेऽपि द्वित्रिशताब्द्यामेतद्दृश्यमासीत्। (४७७)तत्पश्चात्सससत्युत्तरचतुःशताब्द्यां पुनः शिलादित्यक्षितिपतेः शासनकाले श्रीधनेश्वरसूरिरस्मिन्नेव वल्लभीपुरे शत्रुञ्जयमाहात्म्यं निरमिनोत्। एवं (५१०) दशोत्तरपञ्चशताब्द्यां श्रीदेवर्द्धिक्षमाश्रमणगणी वल्लभीपुरे जैनागमान् पुस्तकारूढान् व्यधत्त, तत एव वल्लभीवाचना लोके पप्रथे। परमेषा वल्लभीपुरसमृद्धिः सकलापि विक्रमीयचतुःशताब्द्याः पश्चात् क्रमशः कृष्णे पक्षे शशिकलेव ह्रसितुं लग्ना, न कश्चित्तत्र व्यापारस्तस्थिवान्, न वा महर्द्धिकत्वं व्यापारिणामासीत्, सर्वथा निःश्रीकतामेव समपद्यत।'

कियत्यपि काले गते विक्रमीयाष्टम्यां शताब्द्यामेतन्नगरमिव गुर्जरान्तर्गत-वढियारप्रदेशे पञ्चासरनामकं नगरं सर्वतः समुन्नतदशं किलाऽऽर्यावर्त्तीयसकलजनचित्ताकर्षणकारि तदासीत्। तत्रत्यचरमश्चावडा-जयशिखरी नरपतिः पराक्रमी समरविजयी कल्पतरुरिव समस्तसमागतमार्गणगणवाञ्छिताऽशेषप्रदः प्रजापालको न्यायनिष्ठ आसीत्। अमुष्मात्प्राक्, आसीदत्र राजा, को वाऽत्र राजधानीमकार्षीदित्यादिसर्वमविदितमेवास्ति सुविदुषामपीति। केवलमेतदेवाऽवगम्यते, यदस्य जयशिखरिणो राज्ञः शासनकाले पञ्चासरनगरमत्युन्नतावस्थमार्यावर्त्ते खलूच्चकोटिकमभूत्। वल्लभीनगर्यास्तेजसि क्षीणतामुपगते पञ्चासरनगरीयैधमानभाग्यमतितरां जजागार। पुरात्र वल्लभीपुरे बहुमाहात्म्यशालिनी पार्श्वनाथप्रभोः

प्रतिमा चिरन्तनी समासीत्। परन्त्वेषा प्रतिमा वल्लभीक्षतेः प्रागेवधिष्ठातृदेवताप्रभावादलक्ष्यीभूय पञ्चासरमायिष्ट, तत्रैव कियन्तं कालमर्चिताऽऽसीत्, तत एवैषा पञ्चासर-पार्श्वनाथेति प्रख्यातिमियाय सर्वत्र लोके।'

'अथ विक्रमीयाष्टमशताब्द्याः प्रायशो मध्यकालेऽमुष्य पञ्चासरस्याप्युच्चैस्त्वं दाक्षिणात्यकल्याणीनगर्यामागत्य भूवड-सोलङ्किनमभजत। यदसौ महत्या चतुरङ्गया सेनया सत्रा गुर्जरो-पर्याचक्राम। अस्मिन्नेव घोरतरे सङ्गरे युध्यमानो जयशिखरी ममार। तदान्तर्वत्नी तत्पत्नी रूपसुन्दरी स्वबन्धुना सुरपालेन सार्धं क्वचिदरण्येऽनश्यत्। वैदेशिके राजनि सति सर्वत्र गुर्जरे-ऽशान्तिः प्रससार! महती चानीतिरुदगच्छत्। सकला अपि प्रजा-स्त्रासमापेदिरे। ततश्चान्तर्वत्नीयं रूपसुन्दरी राज्ञी तस्मिन्नेव वने पुत्रं सल्लग्ने जनयामास। तस्य वने जातत्वाद् 'वनराज' इति नाम कृतवती। इयं राज्ञी कस्यचिज्जैनाचार्य-श्रीशीलगुणसूरेरा-श्रयमधिगम्य गुप्त्या तिष्ठन्ती दशवर्षाणि व्यतीयाय। तदनु राजबीजभूतो वनराजः प्रबलतरभाग्योदये सति निजमातुलालय-मागत्य सुखेनाऽतिष्ठत्। बहुधा खलु लोकानां पथि गच्छतां धनादिकं चोरयल्लुण्ठयंश्च शैशव एव दिग्जयिष्णुं दुर्द्धरपराक्रमं सर्वत्राऽपप्रथत्।

अथैकदा चाम्पराजनामा कश्चिज्जैनमहेभ्योऽमिलत्। अमुं वनराजो योग्यं मत्वा निजपार्श्वे प्रधानमिवास्थापयत। अथान्यदा चाम्पराजसाहाय्येन स वनराजो भूवडसोलङ्किनः सौराष्ट्रदेशाद्राज-ग्राह्यं करमादाय यान्तीं चमूमलुण्ठत्। असावित्थमेव लुण्ठनादि-कृत्यकरणेनाष्टमीं शताब्दीं व्यत्यैत्। नवम्याः शताब्द्याः प्रारम्भ एव गुर्जरोपरि स्वर्णादिवाकरः प्रकाशितुं लग्नः।

विक्रमीय ८०२ वत्सरे जाम्बापरनामधेयचाम्पराजमन्त्रिणः

साहाय्येन नवीनामेकामणहिल्लवाडानगरीं गुर्वीं कमनीयां न्यवासयत्। एषा गुर्जरदेशे सकलपुरवराणां मध्ये केन्द्रायिता जाता। एतन्नगरीगुणानाकर्ण्य श्रीमालपुरतस्तत्र निवसितुं श्रीमालिनो महेभ्या आयातुं लग्ना भूयांसः। तथान्येऽपि नानानगरादनेके जैनास्तत्र निवासाय समीयुः। तत्रैव तं वनराजं विधिवन्महता महेन राज्याभिषिक्तमकार्षुः। सिंहासनारूढः स तं चाम्पराजं महामात्यपदे न्ययुङ्क्त। 'निन्नग' नामानं धीमन्तं न्यायविचक्षणं मन्त्रिणं विदधे। एतत्पुत्रं रणकोविदाग्रेसरं लहीराभिधानं प्रसन्नो नरनाथः पट्टणपुरे न्यायाधीशमकरोत्। इतरानपि कियतो योग्यपुरुषान् कोषाध्यक्षतायामतिष्ठिपत्। कियतः प्रधानमन्त्रिप्रमुखानां राज्यकार्यकारिणामधस्तनाधिकारिणः कृतवान्। इत्थं तत्तदधिकारपदे तांस्ताञ्जनान् निपुणान् स्थापितवान् स क्षितिपतिः। इत्थमादित एव पट्टणपुरीया अशेषा अपि जैना महेभ्यादिजना राज्यकार्यकर्त्तारो जज्ञिरे। एते खलु राजानं तां राजधानीमप्यात्मीयां मन्वाना मनसा वचसा कायेन धनेन च निजनिजाधिकारं नयेन चालयितुं प्रावर्त्तन्त।'

'अथ पञ्चासरे या पार्श्वनाथप्रभुप्रतिमासीत्तां प्रतिमां तस्या नगर्या दुर्दशत्वे समुपागते सति महादोष्मान् वनराजो निजजनन्याः प्रत्याहिकार्चायै तत्र पाटणपुरे समानीय विशालं भव्यतमं मन्दिरं निर्माय तत्र विधिवत्प्रातिष्ठिपत्। असौ नरपतिश्चाम्पराजमहामात्यप्रभृतिजैनसमाजसंसर्गतस्तथा शीलगुणसूरिसदुपदेशतश्च जैनधर्मे श्रद्धालुर्भवन्नपि नृपत्वाद् धर्मान्तरेऽपि नित्योदारचेता अभवत्। वनराजभूपालात्परं तद्वंशे निरवच्छेदेन सप्तपुरुषान् यावद्राज्यमासीत्। तत्र सप्तमो राजा सामन्तसिंहाख्यो मद्यव्यसनित्वाद्राजयक्ष्ममहारोगग्रस्तो निरपत्यो ममार। अत एवाऽष्टनवत्युत्तरनवम्यां (९९८) शताब्द्यां चावडावंशीयमेतद्राज्यं सोलङ्किवंशीयस्य सामन्तसिंहनृपतेर्भागिनेयमूलराजस्य हस्तगतमध्य-

जायत। इत्थं षण्णवत्येकशतवर्षाणि (१९९) यावच्चापोत्कट-वंशीयवनराजप्रभृतिसामन्तसिंहपर्यन्ताः सप्तराजानो गुर्जरदेशं शासितवन्तः।'

'अथ मूलराजो गुर्जरीयस्वामित्वमुपेत्य नयेन प्रजाः पालयन् राज्यमवीवृधीत्। सौराष्ट्र-कच्छ-सिन्धप्रभृतिकतिपयदेशान् विजित्य स्वायत्तीकृतवान् सः। रणोत्साही महाप्रतापी मूलराजः खल्वेकदा तैलङ्गदेशे युध्यमानं 'वारय' नामानं सेनानीं दुर्दशं विधाय जिगाय च यथा स समरं विहाय कान्दिशीको भवन् पलायनमेवाङ्गीचक्रे। इत्थमेव साम्भरनगरनाथोऽप्यमुना सह योद्धुमाजौ समेत्यैनमजय्यं विज्ञाय रणाङ्गणमपहाय क्वचिदनशत्। चिरकालमेष गुर्जरदेशीय-राज्यसुखमनुभूय स्वपुत्रं चामुण्डराजं गुर्जरेश्वरं विधाय सुरलोक-मगात्। चामुण्डराजस्तु युवराजकालादेव सर्वत्र लोके स्वपराक्रमं प्राख्यापयत। असौ खलु लाटदेशाधिपतिं निर्जित्य स्वाधीन-मकरोत्।'

'एतदुत्तरमेतद्राजसिंहासने वल्लभराज-दुर्लभराजौ राजानौ बभूवतुः।

दुर्लभराजमृतान्तरं तद्भ्रातृपुत्रो युवराजो भीमदेवस्तारुण्य एव गुर्जराधिपत्यमाप। अयमेकदा मालवदेशाधिपं भोजराजं सहसैवाऽजैषीत्। एतच्छासनकाले गजनीपुराधीशः सुलतान-मुहम्मदाभिधानो यदाऽणहिल्लपुरमाक्रान्तवान्, तदा पराजितो भीमदेवः पलायाञ्चक्रे। ततो मुहम्मदः सौराष्ट्रमागत्य प्रख्यात-सोमनाथमहेश्वरदेवालयमभनक्, प्रचुरां सम्पत्तिं नीतवांश्च। विक्रमीय १०८० संवत्सरे सुलतानमुहम्मदः सोमनाथदेवालय-मभाङ्क्षीत्, लुण्टितवांश्च।

मुहम्मदस्य गजनीपुरगमनान्तरं पुनश्चिरकालपर्यन्तं बाणा-

वलीक्षितिपतिर्भीमदेवो गुर्जरमशशासत्। तत्रामुष्य मन्त्री सेनापति-र्विमलमन्त्री बभूव। अयं हि वनराजक्षितिपतेर्दण्डनायकलहिरा-ख्यवंशीय आसीत्। विमलमन्त्रिणः पिता वीरमन्त्री दुर्लभराजस्य मन्त्र्यासीत्। बाणावलीभीमदेवस्य द्वे राज्ञ्यौ बभूवतुः। एकोदयमती, द्वितीया बहुलादेवी। भीमदेवे देवलोकमुपेयुषि उदयमत्याः कुक्ष्युद्भुतः 'कर्ण' विक्रमीय ११२८ वत्सरे गुर्जराधीश्वरो जज्ञे। असौ द्वात्रिंशद् वर्षाणि राज्यं चकृवान्।

पञ्चाशदुत्तरैकादशशततमे विक्रमवत्सरे कर्णभूपस्य पुत्रः *सिद्धराजो* गुर्जरेश्वरो बभूवान्। अयं महापराक्रमिष्णुर्बलीयांश्चासीत्। अयमात्मीयातुलविक्रमेणाष्टादशदेशान् स्वायत्तान् कृत्वा तेषु स्वशासनं ग्राह्यकरं च स्थापितवान्। अस्य महामात्यो मुञ्जाल-नामाऽभूत्। अयं राजा जैन आसीत्। अमुष्य राज्यसमये सौराष्ट्रदेशश्चाम्पराजमन्त्रिकुलोत्पन्न*सज्जना*ख्यमन्त्रिणो हस्त आसीत्। *खम्भातपुरा*धिपत्यमुदयननाम्नि मन्त्रिण्यासीत्। वस्तुपालमहामात्यपूर्वज*श्चण्डप्रसादः* सिद्धराजमहीभुजः कोशा-ध्यक्ष आसीत्। अमुष्य पुत्रः सोममन्त्री सिद्धराजमहीभर्त्तुर्मन्त्र्यासीत्। अपरोऽपि कश्चित्कपर्दिनामा मन्त्र्यासीत्। एवमनेकजैनमन्त्रिभिः परिवेष्टितः सिद्धराजः क्षितीश्वरो जगत्प्रख्यातस्य हेमाचार्यस्य भक्तोऽभवत्।'

'सिद्धराजशासनानन्तरं तद्भ्रातृजः कुमारपालो गुर्जरराज-सिंहासनमारुरोह। एतद्राज्यसमये जैनानां प्राधान्येन प्राबल्यं सर्वेषां सुधियां विदितमेवास्ति। अहिंसामयधर्म-प्रधानानुरागिकुमार-पालोत्तरं विक्रम १२३० संवत्सरे अजयपालनाम जैनानामत्यन्तद्वेषी गुर्जराधीशोऽजायत। अनेन त्रीण्येव हायनानि राज्यमकारि। अयमकाल एव कुमृत्युमयाञ्चक्रे। अजयपालराजा कुमारपालेन

यानि यानि धर्मस्थानानि कारितानि तान्यशेषाणि द्वेषान्नाशितवान्। कपर्दिमन्त्रिणमतितप्ततैलपूर्णकटाहे निक्षिप्य मारितवान्। तथा हेमचन्द्रसूरेर्मुख्यशिष्यं रामचन्द्रकविमग्निसन्तप्ततामप्रपट्टोपरि निवेश्य घातितवाँश्च। तदनु गुर्जरप्रसिद्धसुभटशिरोमणिमाम्रभट्टमाम्बडा-परनामधेयमपि निहन्तुं भूयस उपायान् रचयामास। परमाम्रभट्टस्तेन सार्धं युध्यमानः शूरतां दर्शयन् स्वप्राणमर्पयामास। प्रान्तेऽ-जयपालोऽप्यचिरादेव वर्षत्रयमात्रं राज्यं कृत्वा मृत्वा दुर्गतिमनैषीत्। विक्रम १२३५ वत्सरे द्वितीयो 'भीमदेवो' गुर्जराधिराजो बभूव। अयं खलु महानिष्कपट आसीत्। अमुष्मिन् राजनि सति महान्ति परिवर्त्तनान्यभूवन्। अस्मिन्नेव समयेऽर्बुदाचले परमारजयन्तसिंहो राजाऽऽसीत्। शाकम्भर्यां (अजमेरपुरे) सोमेश्वरभूपालः, अस्यात्मज-पृथ्वीराजचोहाणो देहल्याम्, कन्नोजे (कान्यकुब्जे) जयचन्द्र-राष्ट्रकूटः-राठौडः, चित्तौरे (चित्रकूटे) समरसिंहप्रभृतिप्रबल-पराक्रमिणो राजान आसन्। हन्त! एतदार्यावर्त्तस्य दौर्भाग्योदयव-शादतुलभुजबलशालिष्वेतेषु भूजानिषु मिथोऽन्तराऽन्तरा महान् द्वेष उदपद्यत। तत्र हेतुरर्बुदाचलाधीश्वरस्य जयन्तसिंहस्य पुत्री 'इच्छनकुंवरी' जज्ञे। अनेनैव कारणेन भोलाभीमदेवस्य जयन्तसिंह-सोमेश्वर-पृथ्वीराजैः साकं घोरतरः सङ्ग्रामोऽजायत। युद्धेऽस्मिन् भोलाभीमदेवे पराजितेऽपि पृथ्वीराजो महता क्लेशेन विजयमलब्ध। अस्यानेके वीरसुभटा अस्मिन् समरे मृता महानिद्रां चक्रुः। अमुना परस्परायोधनेन शाहबुद्दीनस्य महानेव लाभो जातः। यद्यप्येनं युयुत्सया समराङ्गणे समायातं दिल्लीपतिः पृथ्वीराजः सप्तवारान् व्यजेष्ट। वारद्वयं भोलाभीमदेवोऽप्यमुं जिगाय। तथाप्येष समरोत्सा-हमत्यजन्नवसरं पश्यन्नस्मिन्नेवावसरे सहसैव भारतमेनमाक्रमितु-मागात्। तदानीं कान्यकुब्जाधिपतिः पृथ्वीराजेन सत्रा विरोधसद्-भावात्तस्मै साहाय्यं दत्तवान्। इह खल्वार्यभारते सर्वेषु पराक्रमिषु

क्षितिपेषु मिथो घोरयुद्धकरणात्परस्परमैत्रीभावत्यागात्क्षीण-धनजनपराक्रमेषु शाहबुद्दीनः ११९३ ख्रिष्टाब्दे भारतेऽस्मिन्महता सैन्येन सहागत्य पृथ्वीराजं विजित्य, दिल्लीं शाकम्भरीं च स्वाय-त्तीकृत्य, पृथ्वीराजं बद्धवा गजनीमानीय कारागारेऽस्थापयत्। अमुष्य भगिनीपतिं समरसिंहमपि समरे सपुत्रं निहत्य तद्राज्य-मग्रहीत्। (११९४) वेदनन्दरुद्रख्रिष्टाब्देऽशेषभारतीयनरपालीय-मिथोद्रोहतरुबीजं जयचन्द्रमपि जित्वा कान्यकुब्जमपि जग्राह। विजितो जयचन्द्रो नष्टराज्यः काशीपुरीमागात्। तत्र कियन्तं कालमुषित्वा राज्यस्थानं (राजपुतानां) आयातः।

विजयी शाहबुद्दीनस्तु देहलीं जित्वा तत्र निजप्रधानं कुतुबुद्दीन-मधिपतिं कृत्वा स्वराजधानीं गजनीमायातः। एष कुतुबुद्दीनः सन् ११९४ वर्षे गुर्जरमपि विजिग्ये। विजिते च गुर्जरे भोलाभीमदेव-भूपतिरात्मरक्षार्थं नंष्ट्वा क्वचिदपलायिष्ट। अमुष्य सेनापति-र्जीवनराजः कुतुबुद्दीनेन साकं भीषणशौर्यं प्रकटयंश्चिरमयुध्यत। परन्तु स काल आर्यावर्त्तस्याऽस्य भारतस्य पराधीनतार्थमेव विधिना निर्मापित इति हेतोरेव तस्य यवनस्य स्ववसरोऽमिलत्। यद्यपीयं गुर्जरीयाऽणहिल्लपट्टणराजधानी पराधीनतामुपेयुषी, तत्पतिना भीमदेवेनाप्यनिच्छया पलायनं शरणीकृतम्। परं च स यवनस्तदानीं तत्र पुरे स्वराज्यं तिष्ठापयिषुर्नाभूत्। केवलं लुण्टयित्वा देहलीमगात्, तत्र तत्स्थापितः कश्चिदेकोऽधिकारी प्रजास्वन्यायं कुर्वंस्त्रासयाञ्चकार। अत एव समस्ता लोकास्त्रस्ताः सन्तस्त्रायस्व त्रायस्वेति पूच्चक्रुस्तमाम्।

अस्मिन् विपत्त्यन्तरे भोलाभीमदेवस्य सामन्त-माण्डलिक-प्रभृतयो निजस्वार्थसाधनपरायणा आसन्। केवलमेक एव वाघेल-वंशीयराजानः स्वदेशस्येदृशीं दुर्दशामालोक्य मनसा दन्दह्यमाना आसन्। अर्णोराजो (आनाजी) गुर्जरेश्वरकुमारपालस्य मातृष्वसेयः

सामन्तश्चासीत्। कुमारपालभूपतिर्धवलकाय धोलकां तत्प्रान्तीयं प्रदेशं च व्यतरत्। अत एवैनं लोका माण्डलिकं गणयन्ति स्म। तथैव वाघेलास्थलमप्येतद्धस्तगतमासीदत एतद्वंशीयाः सर्वेऽपि 'वाघेला'उच्यन्ते। अर्णोराजस्य लवणप्रसाद (लुणोजी) प्रसिद्धाभिधानः पुत्रोऽभवत्। इमौ पितापुत्रावणहिल्लवाडायां (पाटणनगरे) विश्वस्तौ सामान्तावास्ताम्, एतयोरेव साहाय्यतो भोलाभीमदेवः पुनरपि गुर्जराधिपत्यमासुमर्हेत्खलु। एष समयो गुर्जरदेशाय नूनमन्धान्धमयतामापत्। यद्यपि पुनरसौ भीमदेवो गुर्जरीयाधिपत्यं लेभानस्तथापि तन्मन्दप्रभावत्वात्सर्वे सामन्ता मण्डलेश्वरादयः स्वतन्त्रा जज्ञिरे। न ह्येतावदेव, किन्तु पाटणराजधानीमपि करगतीकर्त्तुमीहाञ्चक्रिरे, तत्रावसरेऽतिभीषणे सकलजनताप्राणप्रयाणकारिकाले समुपस्थिते वाघेलवंशीया भीमदेवस्यात्यन्तं साहाय्यमकृषत, तावदकस्मादेवाऽ*र्णोराजः* कालमकरोत्।

एतदन्तरे कुमारपालो देवलोकादागत्य स्वप्ने भोलाभीमदेवं प्रत्यक्षीभूयैवमुवाच-'भीमदेव! *लवणप्रसादं* महामण्डलेशं विधेहि, तदात्मजं *वीरधवलं* युवराजं कृत्वा निजस्योत्तराधिकारिणं कुरुष्व।' इति सूचयित्वा स देवोऽदृश्योऽभवत्। तदनु भोलाभीमदेवेन लवणप्रसादस्तत्राणहिल्लवाडनगरे महामण्डलेश्वरोऽकारि, तत्पुत्रं वीरधवलं च स्वीयोत्तराधिकारिणं कृत्वा युवराजपदे विन्यस्तवान्। पाटणपुरीयाऽशेषसामन्ता अत्युद्धता मदोन्मत्ताश्चासन्। एतेषामानुकूल्यकरणमतिदुष्करमासीदत एव कया रीत्या खल्वेते मदधीना जायेरन्? इति पितापुत्रावनवरतमनेकविधविचारं कुर्वन्तावास्ताम्। प्रान्ते त्वेवं निश्चिक्याते-यन्मया लवणप्रसादेनाऽत्रैव महाराजभीमदेवपार्श्वे स्थित्वा सर्वं राजकार्यं करणीयम्। त्वया युवराजेन धवलक्कपुरं गत्वा नवं राजतन्त्रं स्थापयित्वा सैन्यबलमेधयता मदोद्धताः सामन्ताः साधनीयाः।' तत्पश्चादचिरादेव युवराजवीर-

धवलो धवलक्क (धोलका) पुरमागत्य राज्यमतिदृढयितुममण्डत्। तत्रान्तरे भोलाभीमदेवस्य मन्त्रिणोऽश्वराजस्यात्मजौ बृहस्पतिरिव सर्वकलापरायणौ विपुलबलवीर्यौ सर्वराजनीतिज्ञौ वस्तुपाल-तेजपालौ माण्डलपुरेऽतिष्ठताम्।'

'पुरा कल्याणीनगराधिपतिर्भूवडसोलङ्की गुर्जरं जित्वा स्वपुत्र्यै मीनलदेव्यै कञ्चुक्यर्थं व्यतरत्। ततस्तद्दिनादेतद्देशीयमायं सर्वमेषा राजकुमार्येव लातुं लग्ना। आयुषः क्षये सत्येषा मृत्वा व्यन्तर-देवीत्वेनोत्पेदे। गुर्जरोपरि मोहातिशयादेषा तदधिष्ठातृदेवी सर्वेषां भाग्यलक्ष्मीर्लोकैरशेषैरमन्यत। अथैकदा सा देवी युवराज-वीरधवलस्य स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा गुर्जरीयसमुन्नतिं विधातुमादिश्य वस्तुपालतेजपालयोर्मन्त्रिसेनापतिपदयोर्दातुमसूचयत। इतश्च सैव देवी लवणप्रसादमहामण्डलेश्वरमपि स्वप्ने प्रत्यक्षीभूय व्याहृत-वतीत्थम्-'महामण्डलेश! महान्मे शोको वर्वर्त्ति, यदहमधुना गुर्जराधिपतिषु मृतेष्वनाथा जाता, अतस्त्वं मामव। भविष्यति च भवतां विजयः। किञ्च वस्तुपालतेजपालयोरेकं मन्त्रिणं द्वितीयं चमूपतिं च कुरुष्व, इतीरयित्वा तत्कण्ठे पुष्पमयीं विजयमालां परिधापितवती।' तदनु युवराजोऽपि तदैव महामण्डलेश्वरमापृच्छ्य सोमेश्वरपुरोहितेन वस्तुपालतेजपालौ माण्डलपुरादानाय्य *वस्तु-पालाय मन्त्रिपदं तेजपालाय सेनापतिपदं* चादात्।

अथ वस्तुपालतेजपालयोः साहाय्येन वीरधवलो युवराजः शनैः शनै राज्यमूलं दृढीकर्तुमारभत। तावुभावपि भ्रातरौ प्रवर्त्तमानयुद्धेऽग्रेसरीभूतौ राज्यव्यवस्थायामपि पटीयांसौ बभूवतुः, अत एव युवराजः सुखेनारातीन् विजेतुमानुकूल्यमियाय। अयं युवराजः कियन्तं समयं समरे स्थित्वा गुर्जर-सौराष्ट्र-कच्छ-

सिन्धुदेशीयानशेषानपि मदोन्मत्तान् सामन्त-माण्डलिकप्रमुखान् विजित्य करदानकरोत्। तेभ्यो धनान्यादाय कोशसैन्ये प्रवर्ध्य सर्वत्र देशे शान्तिं व्यापारोन्नतिं चाततान। राज्यव्यवस्थां साधीयसीं विधाय युवराजो वीरधवलः स्वर्गवासमीयिवान्। अत एव महाराज-भीमदेवमहामण्डलेश्वरलवणप्रसादयोः स्वर्गवासानन्तरं वीरधव-लात्मजो *वीसलदेव* एव गुर्जराधिराजो बभूवान्। ततोऽसाव-कार्षीच्च-गुर्जरीय-सौराष्ट्रीय-कच्छदेशीय-सिन्धुदेशीयाऽशेषान् भूपालान् आत्मसेवकान्।'

एतद्वृत्तान्तमाकर्ण्य प्रभूतप्रमदो जगडूशाहस्तस्मा इतिहास-विज्ञाय पुंसे सम्मानपुरस्सरं पुरस्कारमदात्। तस्मिन्नवसरे कश्चिदेको विपश्चित्तं जगडूशाहमित्थं प्रशशंस -

लोके श्रेष्ठिन् सार्वभौमादिहोच्चैः, सर्वामृद्धिं प्राप्य लोकोत्तरां सः ।
एवैकस्मिन् भोगलीलाविलासे, प्ररव्यातः श्रीशालिभद्रो बभूवान् ॥१॥

सीमातीतैश्वर्यभोगप्रदानैः, सर्वाऽऽशासु ख्यातिमत्त्वं जगन्थ ।
तस्मादच्छां कीर्त्तिमस्याप्यनल्पां, लज्जां भूरि प्रापयामासिथ त्वम् ॥२॥

इत्थं प्रशंसान्वितं काव्यमाकर्ण्य सुप्रसीदन्नसौ सोलसूनुस्तस्मै कवये लक्षमुद्रामदात्, नानास्वर्णाभरणैर्महावस्त्रादिभिश्च तोषया-मास। अथ सोलसूनुजगडूमध्यमभ्रातृजाया राजल्लदेवी क्रमेण *विक्रमसिंहधन्धा*ख्यनामानौ तनयावजीजनत्। तौ तेजस्विनौ महामतिकौ शुभानन्दकारिणौ मेरुशृङ्गं पुष्पदन्ताविव स्वकुलं भूषयामासतुः। तदनु गोत्रानन्दकरीं गुणोज्ज्वलां *हांसी*नाम्नीं तनयां प्रसूय सा राजल्लदेवी नितरां रेजे।

अथैकदा समये येनाऽऽचाम्लवर्धमानतपस्यामविघ्नं पूर्णी-कृत्य करविन्दुगुणेन्दुवैक्रमेऽब्दे (१३२०) मार्गशीर्षशुक्लपञ्चमीघस्रे

कटपद्रपुरवासिनो *देवपालस्य* गृहे पारणाऽकारि, शङ्खेश्वरपुर-मण्डनपार्श्वनाथप्रभोर्भव्यमन्दिरे तिष्ठतः ससयक्षान् वशीकृत्य समस्तयात्रिकाणां दुःखोपद्रवानपाकृतवान्, झिञ्झुवाडापुराधीशस्य दुर्जनशल्यभूपालस्य निजोग्रतपःप्रभावेण कुष्ठरोगमपाकृत्य तेनैव महीपतिना शङ्खेश्वरपार्श्वनाथीयचैत्यस्य जीर्णोद्धारं कारितवांश्च। स महीयान्महाप्रभावकः श्रीपरमदेवसूरिरशेषमिदं महीतलं पवित्र-यन्, सदुपदेशैरनेकभव्यान् प्राणिनः प्रतिबोधयन्, तत्र कच्छदेशे प्रधानराजधानीं भद्रेश्वरनगरीमागात्। तदागमनेन प्रहृष्टो जगडूशाहो महतोत्सवेन महीयस्या भक्त्या च तं सूरिवर्यं नगरं प्रावेशयत्। याचकेभ्यश्चापरिमितं दानं प्रदाय शासनस्य समुन्नतिं व्यधत्त। सोलनन्दनस्य महताऽऽग्रहेण स सूरीश्वरः कियन्तं कालं तत्रैव भद्रेश्वरे तस्थिवान्। तत्रावसरे तन्नगरवासिनी भावसारकुलोत्पन्ना *काचिन्मदना* श्राविकाऽऽचाम्लवर्धमानतपः प्रारब्धवती। तदा तामवादीदेवं परमदेवसूरिः-'वत्से! इदमतिकठिनं तपो देवता-सहाय्यमन्तरा परिपूर्णतां नाञ्चतीति भवतीदं मा कृत, अन्यदेव तपो विधत्ताम्।' परमेवं गुरुणा निवारितापि सा तदनुष्ठानान्नो न्यवर्त्तत। कतिचिद्दिनानि तस्यास्तदनुष्ठाने निर्विघ्नताऽऽसीत्। अथैकदिने काचिद्दुर्देवता तस्यास्तथोपसर्गं कृतवती, यथा सा मदना ततस्तपसो भ्रष्टा सती लोकान्तरमेव श्रितवती।

अन्यदाऽसौ सूरिराड् व्याख्याने समूचिवान्-'यदत्र संसारे शत्रुञ्जयगिरनारतीर्थावतिपवित्रौ स्तः, यः कश्चन श्रीसङ्घेन सत्रा महीयसोरनयोर्यात्रां करोति, सङ्घवीयोपाधिं चाधिगच्छति, स पुमाननुपमं सुखं सत्वरमुपैति।' एतदुपदेशमाकर्ण्य जगज्जीवतोष-यिता सोलनन्दनस्तदैव स सङ्घस्तीर्थयात्राचिकीरभूत्।

तदनु महीयसाऽऽडम्बरेण श्रीसङ्घश्चतुर्विधं गमयितुं तदुपयोगि-नीमशेषां सामग्रीं सज्जितुममण्डत्। स्वदेशीयान् वैदेशिकांश्च नरान्

नारीश्च तत्र सङ्घे समायातुं सर्वत्राऽऽमन्त्रणपत्रिकाः प्रेषितवान्। येन सहस्रशो नरनारीगणस्तत्र सङ्घे सङ्गन्तुमुद्यतो जज्ञे। जगडूशाहस्तु नानाविधां व्यवस्थां कृत्वा पृथक् पृथक् तत्सङ्घीयसकल-कार्यसम्पादनाय योग्यतमाननेकान् पुरुषानधिकृतानकरोत्। तदा-नीमिन्द्रानुपदं सामानिकादेवा इव सोलात्मजस्य पृष्ठे सहस्रशः श्रीमन्तो जना अनुगमनाय समुत्सुका बभूवुः। भूयांसो विद्वांसस्तत्र सङ्घे सह गन्तुं ससज्जिरे। अथ परमदेवसूरिः शुभवेलायां सोलात्मजस्य जगडूशाहस्य 'संघवी' इत्युपाधेस्तिलकं कारितवान्। ततः सर्वखेटानुकूल्ये[1] शुभे मुहूर्त्ते सङ्घः श्रीभद्रेश्वरपुरात्प्रतस्थे। प्रयाणसमये नानाविधानि वाद्यानि माङ्गल्यमयानि द्यावापृथिव्यौ पूरयन्तीव विनेदुः। नागरिक्यः सौभाग्यवत्यः सर्वाभरणैर्मण्डिता-ङ्ग्यः सुकामिन्यो धवलमङ्गलं गातुमारेभिरे। महान्ति बहुविधानि निकेतनानि गजेन्द्रास्तुरगा रथाश्च चेलुः। शकटाः करभाश्चागणिताः प्रचेलुः। तत्र सङ्घे प्रयाते सति 'कलियुगममुं विहन्तुं साक्षाद्धर्मराजो बृहत्या सेनया किमेष प्राचलदिति कवीन्द्रा मेनिरे।' चतुरङ्गया सेनया शोभामपूर्वामधिवहन् ससङ्घो मार्गे महीयसीं कनीयसीं च यात्रां कुर्वन्ननुक्रमेण गुर्जरीयभूमावायातः। तत्राऽणहिल्लवाड (पाटण) पुरीयराजधानीमागतः स सङ्घाधिपतिर्जगडूशाहो वीसल-देवभूपालं प्रणम्य सारभूतरत्नानां श्रेणीमुपाहृतवान्। हृष्टो राजापि तमेनं समुचितं सत्कृतवान्। मार्गानुकूल्याय गजाश्वरथं सैन्यानि च तस्मै दत्तवान् राजा। अथैनं गुर्जरेश्वरं वीसलदेवं नमस्कृत्य सङ्घवी जगडूशाहश्चतुर्विधेन सङ्घेन सार्धमग्रे चचाल। मार्गे च प्रतिस्थलं जिनचैत्योपरि बृहतीर्ध्वजा आरोपयन्, पदे पदे च स्वर्णान्यर्थिसात्कुर्वन्नसौ तेषां मनांस्यतूतुषत्।

इत्थं स्थले स्थले तिष्ठन् क्षेमेण श्रीशत्रुञ्जयमहापर्वतमाससाद

1. खे अटन्ति = खेटाः ग्रहाः।

स सङ्घः। तत्र च सङ्घसहितो जगडूशाहस्तेन गुरुणा साकं महापावनं तीर्थाधिराजमेनं गिरिपतिं समौक्तिकैः स्वर्णपुष्पैर्नीराज्य समभ्यर्च्य तदुपर्यारुरोह। तत्राऽऽदीश्वरप्रभोरालोकनेनानेकजन्मार्जितकर्म-मलान्यनीनशत्तमाम्। पुनस्तत्र पवित्रीकृतदेहो विधिना भगवन्त-मानर्च। तत्रावसरे सूरीश्वरः शत्रुञ्जयतीर्थप्राच्यतां जीर्णोद्धाराद्यने-करहस्यविषयांश्च सर्वाँल्लोकाञ्छ्रावयामास। तदनु सोलनन्दनः परया भक्त्याऽष्टधां सप्तदशविधामेकविंशतिविधां च भगवतः पूजां विधाय स्वजन्म साफल्यमनैषीत्। भट्टेभ्यश्चारणेभ्यो याचकेभ्यश्च विविधानि दानानि प्रदाय तानशेषानतूतुषन्नितराम्। अनेकस्वामि-वात्सल्यप्रभावनादिकृत्येनाऽसौ तत्र तीर्थे सल्लक्ष्म्याः सद्व्ययम-करोत्, तदनु रैवताचलोपर्यागत्य भगवन्तं नेमिनाथं दर्शं दर्शं स्वं सफलीकुर्वन् भावपूर्वकं प्रभुसेवनभजनादिकृत्यं वितन्वन् ससङ्घो जगडूशाहः कृतकृत्यतामासवान्। कियन्त्यपि दिनानि तत्र स्थित्वा स सङ्घोऽसौ प्रभोः सेवाभक्त्यादिलाभमलभत। ततः पश्चादसौ सङ्घस्तदग्रे प्रतस्थिवान्। अनेकदीनदुःखिनिराश्रित-विकलाङ्गादिजनेभ्यो मुक्तहस्तेन नानाविधानि वसनाऽशनाऽऽदीनि तदीप्सितयाचिताऽन्यान्यपि ददसौ सङ्घाधिपतिः स्वधर्मिणामपि दुःखान्यपाकुर्वन् निजभद्रेश्वरनगरमायातः। तत्रागतदैशिकवैदेशिक-नरनारीगणं समस्तं योग्यं सत्कृत्य स्वस्वसदनं प्रापयामास।

१. अथाऽऽत्मगुरोः परमदेवसूरेरुपदेशेन शत्रुञ्जयमहातीर्थ-यात्राकरणानन्तरमसौ स्वलक्ष्मीं सुकृतपथे व्येतुमारभत। भद्राशयोऽसौ जगडूशाहस्तत्र भद्रेश्वरनगरे श्रीवीरसूरि-कारित-वीरप्रभुचैत्योपरि महान्तौ स्वर्णकलशदण्डौ समा-रोप्य मन्दिरस्य सुषमां प्रैदिधत्।

२. स्वपुत्र्याः प्रीतिमत्याः कल्याणार्थमपि-आरसोपलानि समानाय्य तैरेव रमणीयतराऽऽरसप्रस्तरैस्त्रीणि लघुचैत्यानि

कारयित्वा तेष्वर्हतां स्थापनां व्यधत्त। एवमष्टापदीय-महामन्दिरं निर्माप्य तत्रार्हतां चतुर्विंशतिं मूर्त्तिं महतामहेन विधिवत्प्रातिष्ठिपच्च। किञ्च त्रिखण्डापार्श्वनाथमूर्त्तिमप्यसौ स्वर्णपत्रेण विभूषयाञ्चक्रे।

३. स्वभ्रातू राजपुत्र्या *हांसी*तिप्रसिद्धाया उद्देशेनापि तत्कल्याणहेतवे रमणयीतराऽऽरसोपलैः ससत्यधिकशतं तीर्थकृतां मूर्त्तिं निर्माप्य यथोक्तविधिना विशालतरकमनीयतमे प्रासादे स्थापयाञ्चक्रे। एतेषामर्चायै तत्रैव नगरेऽसौ बृहतीमेकां रम्यां पुष्पवाटिकामपि निरमापयत।

४. पुरा गुर्जरेश्वरसोलङ्की-मूलराज-चौलुक्यवंशीयकुमारपाल-भूपालाभ्यां च बन्धापितं तटाकमासीत्। सोऽतिजीर्णतरोऽजायत। एनमप्यतिजीर्णमालोक्यासौ सोत्साहमुददीधरत। परितः प्रस्तरैरबन्धयत सोपानानि रम्याणि, तथैव गुर्जरेश्वरकर्णदेवस्य वापिकामपि जीर्णतरामुद्धारितवान्।

५. *ढङ्कानगर्यां* प्रभोरादीश्वरस्य महदेकं चैत्यं निरमीमपत्। पुनः सौराष्ट्रे झालावाडप्रान्तीय-*वर्धमानपुरे* तीर्थङ्कराणां चतुर्विंशतिजिनमूर्त्तिभिः समन्वितमष्टापदीयविशालं मन्दिरमकारि। तत्रैव नगरे मम्माणिकोपलैर्वीरजिनेन्द्रस्य मूर्त्तिं निर्माप्य महीयसोत्सवेन यथाविधि प्रातिष्ठिपच्च।

६. *शतवाटीनगरे* च द्विपञ्चाशत्तमदेवकुलिकाशोभितमुच्चैस्तममतिसुन्दरमृषभदेवस्वामिनो मन्दिरं कारयाम्बभूव। तथा शत्रुञ्जयमहातीर्थेऽप्येष ससमन्दिराणि (देवकुलिकानि) रचयामास।

७. *सुलक्षण*पुरसमीपवर्त्ति-*देवकुलाख्य*ग्रामे च षोडशतीर्थङ्करस्य *श्रीशान्तिनाथस्य* मन्दिरमकारयत। स्वग्राममोहं त्यक्त्वैवैष

देशे विदेशे चानेकानि जिनचैत्यानि विरचय्य जैनशासन-समुन्नतिमेधयन्नात्मगौरवमतनोत्।

८. *भद्रेश्वर*नगरे बृहतीमेकां पौषधशालामकारयत्। पुनरसौ पित्तलमयं कमनीयतरं मन्दिरं विरचय्य तत्र गुर्वर्थं श्रीशङ्खेश्वर-पार्श्वनाथस्य भगवतो राजतं चरणयुगलं स्थापयाञ्चक्रे। गुर्व्यां पौषधशालायामुपाश्रये च गुरोः श्रीपरमदेवसूरेः शयनार्थं ताम्रमयं महापट्टं विन्यस्तवान्।

९. परमदेवसूरेः पट्टाधिकारिणे *श्रीषेण*नाम्ने मुख्यशिष्याय महामहं विधायाऽऽचार्यपदं ददिवान्। अमुष्मिन् पट्टोत्सवे *जगडूशाहः* प्राज्यार्थव्ययं कृत्वाऽऽत्मलक्ष्मीं सफलां विधाय शासनसुषमामवीवृधत्। पुनरवादीद् गुरुं प्रति स्वामिन्! भवदीयपट्टपरम्परायां मद्वंश्या एवाऽऽचार्यस्थापनामहं कुर्वतामितरे नेति वचनं देहि? अथैतस्य धर्मिष्ठस्य भक्तिपेशलमदो वचस्त्रैकालिकज्ञानवान् सूरीन्द्रोऽपि प्रत्यपद्यत।

१०. पुराऽसौ यत्र सुस्थितदेवाऽऽराधनमकृत, तत्रापि सुन्दरामेकां देवकुलिकां निर्माप्य तद्देवप्रतिमामस्थापयत। एवं जगत्कल्याणकृतेऽसौ प्रतिग्रामे प्रतिनगरे च सुधास्वादुजलपूर्णान् कूपान् वापिकाश्च सहस्रशोऽचीखनत्। अमुना पारमार्थिकसुकृत्येन सर्वे जीवा अस्मा आशिषं ददिरे।

११. भद्रेश्वरपुरे म्लेच्छतो लक्ष्म्यासादनहेतुना खीमलीसंज्ञितमेकं *मस्जिदं* (यवनधर्मभवनं) निरमीमपत्। पुनरेवं *कपिलकोट्टपुरे* वेणीमाधवमन्दिरं, *कुन्नणपुरे* हरि-हरयोर्मन्दिरं च समुद्धार।

अथैकदा मोगलचमूश्चतुरङ्गा गुर्जरजिगीषया समाययौ। सा

खलु भद्रेश्वरपुरं तत्समीपवर्त्तिग्रामनगरादिकं लुण्टयन्ती लोकानुद्वेजयामास। तदानीं केऽपि शौर्यं दर्शयितुं नैव प्राभवन्। परमेनां वार्त्तां श्रुत्वैव परोत्कर्षाऽसहिष्णू रणवीरो जगडूशाहस्तत्कालमेव वीसलदेवभूपालस्य बलानि लात्वा तस्यां घाट्यामागत्य लीलयैवाऽऽत्मशौर्यं प्रकटयंस्तां मौगलीयसेनां विजित्य सर्वत्र देशे शान्तिं व्यतनोत्। यतो 'विजिगीषूणां महीयसां प्रकृतिरेवेदृशी निसर्गादभिजायते, यया विपक्षोन्नतिं मनागपि नैव सहन्ते।' तदाह -

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान्, ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।
प्रकृतिः खलु सा महीयसां, सहते नाऽन्यसमुन्नतिं यया॥१॥

व्याख्या - ध्वनतो=गर्जतः पयोधरान् मृगाधिपः किमपि किञ्चिदपि फलं प्रयोजनमपेक्ष्य न प्रार्थयते=नो याचते। किन्तु खल्विति निश्चये महीयसामतिमहतां पुंसां सा=सैव प्रकृतिः=स्वभावो भवति, यया प्रकृत्याऽन्येषां समुन्नतिं नैव सहते=न सोढुमर्हति।

एकदा व्याख्यानं ददत्परमदेवसूरिर्दानमाहात्म्यं वर्णयितुमारभत। तथाहि-दानभेदा अनेके सन्ति, तत्राऽन्नदानवस्त्रदानयोः फलानि यथोक्तानि वर्णयित्वा पुनरभयदानसुपात्रदानोचितदानाऽनुकम्पादानकीर्त्तिदानेषु प्रत्येकोपरि व्याख्यातुमारेभे-भो लोकाः! अमुष्मिंल्लोकेऽभयदानसुपात्रदानेऽतिश्रेयसी मुक्तेर्निदान-भूते स्तः। उचितदानानुकम्पादानयोरपि न्यूनं फलं नावगच्छत। स्वज्ञातिभ्यः सम्बन्धिजनेभ्यस्तदितरेभ्यश्च योग्यं यद्दीयते तदुचितदानमवगन्तव्यम्। निःस्वार्थधिया जात्यादिभेदमगणयन् महिष्ठलघिष्ठदीनहीनदुःखिजनेभ्यो दयाधिया यद् दीयते, तदनुकम्पादानम्।

''यो हि जगज्जीवयति तस्यैव जीवनं गण्यते लोके। इह लोके भूयांसः श्रीमन्तो विलसन्ति, परन्तु यस्य लक्ष्म्या लोका उपक्रियन्ते, सैव लक्ष्मीः सफला। या लक्ष्मीर्लोकान्नोपकुरुते, सा

खल्वजागलस्तनमिव कृपणजनकरगतापि मुधैव। कृपणानां सदने स्थिता प्रचुरापि लक्ष्मीः क्षारसमुद्रेऽगाधजलराशिरिव वृथैव। यतः सा लक्ष्मीस्तेन नो कस्मैचिद् दीयते, न वा स्वेनाप्युपभुज्यते, अतः कृपणानां लक्ष्म्यः खलु नाशं व्रजन्ति, अथवा तस्मिन्मृते कश्चिदन्य एव तां लक्ष्मीमुपभुङ्क्ते। अत एव परानुपकुर्वन् यो जीवति स एव जीवति, अनीदृशस्तु जीवन्नपि मृतकल्प एवास्ति।''

''ये जना लक्ष्मीमासाद्य सामाजिकानां, देशस्य, जिनशासनस्य चोपकरणं दूरमास्ताम्, किन्तु स्वज्ञातीनपि मनागपि नोपकुर्वन्ति, केवलं स्वार्थमेव साधयन्तस्ते विविधानि पापकर्माण्येव बध्नन्ति, पापीयांसस्ते जनास्ता लक्ष्मीरत्रैव विहाय मृत्वाऽवश्यं दुर्गतिमेव लभन्ते। ये धनवन्तः स्वयं गजाश्वरथादिसमारूढाः सानन्दं सायं प्रातः पर्यटन्ति निजधर्मिणो निर्धनान् विधवाश्च आलोकमालोकं स्वचेतसि मनागपि दयां न धरन्ति, ते शठाः स्वप्नेऽपि जैनधर्ममधिगन्तुं नार्हन्ति। एतादृशानां पुंसां पाषाणदारुणं हृदयं वज्रादप्यधिकं कठोरमित्यवगन्तव्यम्।''

किञ्चास्माकं ससक्षेत्रीयाधारता ज्ञातीयजनतोपकारोपर्येव सन्तिष्ठते। यथा कृतेष्वप्यनेकमन्दिरेषु तदर्चकाऽभावे तद्रक्षणं नो सम्भवति, तथा जगति ज्ञातीन् विना स्वधर्मस्य रक्षणं कदापि नैव सम्भवतीति सर्वतः स्वज्ञातय एव रक्षणीया धनेन। तथा कर्त्तार एव जनाः क्षेत्रान्तरमपि पोषयितुमर्हन्ति, नेतरे जात्वपि।

इति तद्गुरोरुपदेशमाहात्म्यपरिवृद्धये जगडूशाहः परमार्हत्कुमारपाल इव निजवर्षग्रन्थिदिवसे कोटिसङ्ख्याकं द्रव्यं स्वज्ञातिबन्धुप्रमुखानामुपकृतये दातुं प्रारब्धवान्। कियतां मध्यवर्गीयस्वधर्मिणां विधर्मिणां च गुप्तदानप्रदानेन साहाय्यमकरोत्। कियतामनाथहीनदीनपङ्ग्वादीनां प्रत्यहं सुखेन भोजनार्थमन्नक्षेत्रं

स्थापितवान्। तत्रान्नपेयादिव्यवस्थामपि साधीयसीमकृत। कियतां निरुद्यमानां लोकानां व्यापत्तुं द्रव्यसाहाय्यं कृत्वा तान् नानाविध-व्यापारेऽयोजयत। शिशूनां विद्याध्ययनाय बृहद्बृहदनेकं *विद्या-लय*मस्थापयत। एवमनेकविधव्यापारादिकलासम्पादनाय *'व्यापा-रविद्यालयं'* प्रकाशीचक्रे, तथाऽनाथविधवाप्रभृतीनां कियतीनां गुप्तदानादिना तदीयदुःखमपहृत्य तदाशिषमगृह्णात्। इत्थं सदुपार्जि-तात्मलक्ष्मीसदुपयोगमकार्षीज्जगडूशाहः।

अथैकदा सोलात्मजं रहस्याकार्य परमदेवसूरिरिति व्याजहे-'महानुभाव! विक्रमीये (१३१२) करभूगुणेन्दुहायनेऽतीते सर्वत्र देशेषु वर्षत्रयीं (१३१३-१४-१५ वर्षपर्यन्तं) वृष्टेरपतनान्महादुष्कालो भविष्यति। अत एव प्रतिदेशं निजविश्वस्तजनान् प्रेष्य सर्वजातीय-धान्यानि प्रचुराणि सङ्गृहाण। सङ्गृहीतैश्चैतैर्धान्यैर्जाते च तत्र दुष्काले जगति लोकानां जीवितदानं दत्त्वा शाश्वतमतिनिर्मलं सुयशः सञ्चिनु।''

गुरूपदिष्टमेतदसौ सहर्षमुररीकृत्यात्मीयजनाननेकान् द्रव्यं दत्त्वा सर्वदिक्षु धान्यानि क्रेतुं प्रैषीत्। यत्र यथा मिलेत्तत्र तथैव महार्घममहार्घं वा सर्वं तत् क्रेतव्यमेवेत्यादिष्टास्ते पुरुषाः सर्वत्र धान्यानि क्रेतुमारेभिरे। तेषु क्रीणत्सु सर्वत्र धान्यं महार्घमजायत। तेषु महार्घतां यातेषु धान्यसङ्ग्राहका व्यापारिणः सर्वेऽपि स्वयोग्यं तद्रक्षित्वाऽधिकं धान्यं व्यक्रीणन्। महार्घाण्यापि तानि धान्यानि क्रीत्वा तत्तद्ग्रामे कोष्ठागारे न्यस्तवन्तस्तानि धान्यानि, इत्थं सर्वदेशीयधान्यराशिं समचिनोदसौ जगडूशाहः।

वैक्रमे १३१३ हायने जगति सर्वत्र मेघानां दर्शनं दुर्लभं जज्ञे, सर्वत्र हाहाकारः प्रववृते। सकलमेव जगदसौ दुर्भिक्षकालो जगज्जिघत्सुः प्रलयकाल इव करालतां दर्शयँल्लोकानशेषान्

दुःखितान् कर्त्तुमारभत। बालवृद्धाद्या समस्ता अपि लोकाः क्षुधा व्याकुलतां नीता अतिशयमक्लिश्यन्त। तेषामसहनीयां बाधा-मालोक्य सर्वेभ्योऽन्नानि दातुमारभे सोलात्मजः। देशे विदेशे चाऽऽत्मानुचरद्वारा तादृशदुर्भिक्षपरिपीडितमनुष्येभ्योऽशेषेभ्यो दातुं लग्नः। एतस्य महोपकर्त्तुरन्नदानेनाऽसङ्ख्याताश्च लोका अकाल-मृत्युकरान्मुमुचुः। अमुष्मिन् भारते सर्वत्र प्रसृतो दुर्भिक्षकालः सर्वेषां दुष्पारो जज्ञे। पितरौ पुत्रमपि हातुं लग्नौ, कोऽपि जगदेतदवितुं नालमभवत्। केवलमन्यदुःखाऽसहिष्णुर्जगडूशाह एव प्रतिग्रामं स्थापितधान्यराशितः सर्वांल्लोकानन्नप्रदानेन जीवयामास। इत्थ-ममुना वर्षद्वयं त्राता अपि लोकाः स्वाल्पामपि वृष्टिं नापश्यन्। तदानीमणहिल्लवाडपुराधीशो *वीसलदेवो* नाम राजा भुवं शासदा-सीत्। तस्यापि सर्वाणि धान्यागाराणि रिक्तान्यभूवन्। अत एवाऽसौ गुर्जराधीशः स्वप्रधानं नागडनामानं भद्रेश्वरपुरे सम्प्रेष्य सादरं सोलात्मजं स्वपार्श्वमजूहवत्। तदादेशं माल्यमिव सहर्षं शिरस्य-भिनीय कियद्भिर्व्यापारिगणैः साकमागत्य स सोलनन्दनस्तदुचित-रत्नोपहारं पुरो निधाय तं गुर्जरेश्वरं प्रणनाम। तत्रावसरे कश्चिच्चारणः क्षितिपतेराशयमवगत्य प्रसङ्गवशादित्थमेनं नुनाव-

"भोः सोलवंशावतंस! जगति त्वमिव कोऽप्यन्यः परोपकारी सुकृतनिचयकारी नैव दरीदृश्यते। यस्मादेतस्मिन्नसहनीये दुष्काले क्षुधाभिभूतानशेषाञ्जनान् प्रतिग्राममेकस्त्वमेव भोजनं प्रदाय जीवयसि।"

इति चारणीयप्रशंसया नृपादयः सकला अपि सभ्या नितरां प्रसेदुस्तदनु राजा जगडूशाहमित्यभिदधौ - 'महेभ्यवर्य! त्वमस्मिं-श्चिरकालिके महादुर्भिक्षेऽनाथेभ्योऽन्नादि ददद्शेषं जगद्रक्षसि, इयं ते देशसेवा श्लाघ्यतमाऽमूल्या वर्त्तते, तत्र कोऽपि संशयो नास्ति। अमुया परमार्थसेवयाऽहं त्वदुपरि नितरां प्रसीदामि। ईदृशं सकल-

लोकजीवयितारं माननीयं लक्ष्मीमन्तं सम्मन्तुं विशिष्टं किमपि स्वस्मिन्न पश्यामि। किमधिकं वच्मि, नूनं त्वमेवाधुना सकलं भारतं दुर्भिक्षपरिपीडनादुन्मोच्य सर्वान् पालयसि, अतस्ते धन्यवादं वितरामि। यत्कोऽपि कर्त्तुं नार्हति तत्त्वमधुना करोषि। सफला तावकीयाऽपरिमिता कमला, जन्मापि तावकं सफलमजनि।'

इत्थं नृपोक्तिमाकर्ण्य जगडूशाहो न्यगदत्-''राजन्! मम तु बुभुक्षितानाथादिजनेभ्यो भोजनदानमेव मुख्यं कार्यमस्ति। यस्माद-स्मत्सम्प्रदाये धर्मस्य मूलं दयैव न्यगादि। सा दया वाङ्मात्रेण भवितुं नार्हति, किन्त्ववसरे क्रिययैव। अतोऽहमवसरेऽस्मिन् परमार्थानुष्ठानेन स्वधर्ममेव पालयामि, नो चेदनया श्रिया जीवितेन च मे किं प्रयोजनम्, अजागलस्तनमिव वृथैवेति परमार्थः।'' पुनरवोचत्क्षितिपतिः-'जगडूशाह! नूनमस्मिंस्त्रैहायनिके घोरतरे दुर्भिक्षे प्रवर्त्तमानेऽशेषभारतीयप्राणिपरिपालनार्थमेव त्वमजनिष्ठाः खलु। अत्र धान्यानामालयाः ससैव विद्यन्ते, तव शतानि सन्तीति श्रुत्वा सम्प्रति कणकाङ्क्षिणा मया भवानाहूतः। इति राज्ञो वचः श्रुत्वा किञ्चिद् विहस्य सोलसूनुस्तमुचिवान्-राजन्! मम धान्यानि नो वर्त्तन्ते, मम वचसि संशयं बिभर्षि चेत्तर्हि तेषु धान्यकोष्ठेषु इष्टकान्तःस्थसत्ताम्रपत्राक्षराणि विलोकय? इति निगद्य कणकोष्ठगा इष्टकास्तत्राऽऽनाय्य हेलयैव भञ्जयामास। तदैव ताम्रपत्रस्थित-वर्णानवाचयद्राजा-अहो! धर्ममूर्त्तिः परोपकारिणामग्रेसरोऽसौ सोलभूः समस्तान्यपि धान्यानि रङ्कार्थमचीक्लृपदितीत्थं त्वया यानि सङ्गृहीतान्यपरिमितानि धान्यानि तानि सकलानि दीनहीन-जनार्थान्येव, सत्यपेक्षणे कथमहं तानि गृह्णीयाम्। वर्वर्त्ति च धान्यानामपेक्षा ममापि बाढं परं तावकमेतदशेषं धर्मार्थमेवास्ति, तदादानं राज्ञो नैव घटते।'' अथैवं गुर्जराधिराज-वीसलदेव-भणितमाकर्ण्य शौर्यौदार्यगाम्भीर्यपरोपकारकर्तृत्वादिगुण-विशिष्ट-

श्रीमालवंशसद्रत्नकल्पजगडूशाहस्तदैव राज्ञेऽष्टसहस्रमूढक-परिमितं धान्यं व्यतारीत्। तत्रावसरे तस्यां सभायां सन्तः कियन्तः सोमेश्वरादयः कविवरा ईदृशीमुदारतां वीक्षमाणा जगडूशाहमेव-मस्ताविषुः -

''श्रीश्रीमालमहोज्ज्वलविशालकुलोदयाचलालङ्कारदिवाकरो महाकरालकलिकालकालीयप्रमदविजित्वरदामोदरः, त्रिलोकी-प्रसृत्वरहिमकरतुषारसोदरकीर्त्तिनिकरः, सद्धर्म्मलतादृढत्वक्सारोऽ-खिललोकपरिपालकोऽसौ श्रीमालान्वयकोटीरो जगडूश्चिरं विजय-ताम्।''

पाताले क्षिपता बलिं मुरजिता किं साधु चक्रेऽमुना,
रुद्रेणापि रतेः पतिं च दहता का कीर्त्तिरत्रार्जिता ।
दुर्भिक्षं क्षितिमण्डलक्षयकरं भिन्दन् भृशं लीलया,
स्तुत्यः साम्प्रतमेक एव जगडूरुद्दामदानोद्यतः ॥१॥

व्याख्या - पातालेऽधोलोके बलिं=तदाख्यमसुरं क्षिपताऽमुना मुरजिता-श्रीकृष्णचन्द्रेण किं साधु-समुचितं चक्रेऽकारि, च पुना रुद्रेणापि महेश्वरेणापि रतेः पतिं-मदनं दहता-भस्मीकुर्वताऽत्र संसारे का कीर्त्तिरर्जिताऽधिगता, कापि नेत्यर्थः। क्षितिमण्डल-क्षयकरं-सकलभूमण्डलप्रलयकरं दुर्भिक्षममुं लीलयाऽनायासेन भिन्दन्-दूरीकुर्वन् उद्दामदानोद्यतः-निरपेक्षवारिदवत्सकलजनान्न-दानकरणतत्परोऽसौ जगडूरेक एव साम्प्रतमधुना स्तुत्यः स्तोतुमर्हः, ईदृक्कीर्त्तिकारी कोऽप्यन्यो नाऽभूदिति यावत्।''

''इन्द्रवरुणयमकुबेरा एकैकदिशायाः पालकत्वाद्दिक्पालत्वं बिभ्रति, अयं जगडूशाहस्तु सर्वासामाशानाम्परिपालनान्नाम्नोऽ-र्थतश्चान्वर्थमेव लोकपालत्वं बिभर्त्ति। वस्तुतस्तु तेषु लोकपालेषु सत्स्वप्यधुना दुष्कालक्लेशितं भूतलमदः कोऽप्यवितुमलं नाऽभूत्,

केवलमेष जगडूः पालक एव सर्वानत्रायत, तस्मादेष यथार्थ-लोकपालोऽस्तीति मन्तव्यं सर्वैः।'

''हंहो! अस्मिन् कलिकाले विष्णोर्यस्तार्तीयिकोऽवतारो वराहात्मकः, सोऽपि निर्बलतामापत्। शेषनागस्यापि शिरसां सहस्र-मतिनम्रतां बिभरामास। योऽपि विष्णोर्द्वितीयोऽवतारः कमठः, सोऽपि महाकर्दमे क्रीडितुं क्वचिदगात्। इत्थमशरणायितं जगदिदं महादुर्भिक्षकालपरिपीडितं केवलमेको जगडूशाह एव रक्षितुं शक्तिमानभूत्।''

''श्रीमन्! श्रीमालकुलकमलदिवाकर! त्वयि भूम्या भारं धृतवति य एष पन्नगपतिः स खलु संप्रत्यनुभवतुतरां निजवधूगण-परीरम्भ्यसमारम्भसंभूतप्रभूतानन्दमेव। येऽप्यष्टौ दिग्गजा विल-सन्ति, तेऽपीदानीमाशान्ते स्वर्गङ्गाऽमलसलिलान्तः करिणी-यूथेन सममनारतं सानन्दं केलिमेव वितन्वताम्।''

''अखर्वगर्वोद्धतस्य पीठदेवनृपस्य कामिनीजनलोचनयुगल-कज्जलश्रीचयमजीहरत्। हम्मीरादिप्रतिवीरविक्रमकथासर्वस्वा-ऽपलापोल्बणो वरीवृतीति। यश्चाधुना माद्यतां मुद्गलानां स्थानस्य प्रचण्डतेजसश्च निराकरणे तीक्ष्णांशुर्निगद्यते, सोऽयं गुर्जरराज्य-वर्धनकारी विजयी सोलकुलगगनशशधारी चिरं विजयताम्।''

अखिलजगतीतलस्य यद्दौःस्थ्यमपहर्तुं कल्पद्रुमचिन्तामणि-सुरधेनुप्रभृतयः केऽपि महान्तो न शेकुस्तल्लीलयैव सोलनन्दनो विधातुमशकत्। नूनमेतस्मिन् वामेतरे जगडूकरकमले जगदुद्विधी-र्षुर्विधाता जडतरेभ्यस्तेभ्यः सुरतरुकामकुम्भचिन्तामणिभ्यः किलाऽशेषवाञ्छितप्रदत्वमादाय विदधौ। यदीयाऽखण्डप्रचण्ड-प्रतापतपनेन विकस्वरेषु गाङ्गेषु पद्मेषु सद्भावभाजः सप्तर्षयः प्रत्यहं सायन्तनं समयमपि नो विदन्ति।''

''पूर्वगङ्गातः पापमेवैकं लोकानामपयाति, त्वत्तः पश्चिमगङ्गा-ऽऽभादशेषं दारिद्र्यं पातकं च प्रणश्यति। धीमतां सर्वेषामिति भागीरथ्या अप्यधिकमहिमास्ति ते। सोलकुलैकमण्डन! संसारे-ऽस्मिन् वारिदानां वृष्टिमापन्ना अपि लोकाः पौनःपुन्येन तां कामयन्ते। एवं सूर्यचन्द्रयोरालोकमपि पुनःपुनरुशन्ति, तथा रत्नाकरस्यापि सेवां वारं वारं नरा ईहन्ते, एवं रोहणभूभृता-मीप्सितानि फलान्यपि भूयो भूयः किलेच्छन्ति, परन्तु दारिद्र्य-विद्रावणं तावकीनं द्रविणमासाद्य केप्यर्थिनः साम्प्रतममुष्मि-ञ्जगतीतले पुनः स्पृहां नैव कुर्वन्ति।''

''यदमुष्मिंल्लोके मान्धातृ-पुरूरवः-शिबि-कार्त्तवीर्य-भरत-मनु-हरिश्चन्द्र-कर्ण-जनमेजय-वसुप्रमुखा अपारमहिमानः क्षिती-श्वरा अपि यन्नो प्रपेदिरे, तदशेषभूमीभुजां पालनादसौ सोलनन्दनः पितामहपदमयाञ्चक्रे। युगत्रयादप्यधिकाऽऽचारवानत्र कलौ जाते च महादुर्भिक्षे सर्वेषां राज्ञां सह लोकैः परिपालनादध्यजायत स जगडूर्महीयान्।''

''विश्वजनीनस्य प्रावृषेण्यधाराधरस्येवाऽनवरतं सर्वेभ्यो निरपेक्षं ददानस्य महीयसो जगडूकस्य कलितौन्नत्ये चिरतरस्थेमवत्या लक्ष्म्या सनाथीकृते स्वच्छतमे यशःप्रासादे नूनमेष दिवाकरः काञ्चनकलशायते, कल्पवृक्षो हि सुवर्णमयदण्डायते, स्वर्गङ्गीय-सलिलवदमलध्वजपटायते च स्फुरदम्बुदानां पटली, नूनममुं सोलनन्दनं व्याजीकृत्य धरायामस्यां पुनरवतीर्णो हि धन्वन्तरि-र्लोकानामार्त्तिहेतुमेनं दुर्भिक्षरोगं निहन्तुं भूयांसि धान्यान्येव महौष-धानि समजीजहत्।

''विधे! तवापि साधीयसी बुद्धिरुदपद्यत, येन सृष्टि-करणपटीयसा त्वया शश्वत्कलङ्कविकले श्रीमालकुले नररत्नमेष

जगडूनामा निरमायि। नो चेद् दुर्भिक्षव्यसननिपीडितमेतन्महीतलं कस्मात् स्थेमानं व्रजेत्। अर्थादमुष्मिन् काले स एक एवोदारचेताः किलेदं जगज्जाग्रत्यपि बलवति दुष्काले सुस्थिरीचक्राणः। इह संसारे श्रीसोलतनयत्रितयी छद्मना त्रिदशालयादवतीर्णेषु कल्पतरु-चिन्तामणिकामगवीषु तद्विरहभाजां तेषां निलिम्पानामद्यापि स्वास्थ्यानुभूतिर्नास्तीति केचन मेनिरे।'

अत्रान्तरे काचिद्विदग्धवनिता स्वपतिमाख्याति-'स्वामिन्! कामपि रम्यां कलां नो जानासि। राज्ञः सेवामपि यदि नो वेत्सि, कमपि व्यवसायं वा यदि न जानासि, चेत्कृष्यादिकमपि न वेत्सि, तर्हि जडमते! विश्वम्भराभारोद्धारधुरीणमद्भुतधियं सोलात्मजमपि कथं न जानासि? सम्प्रति येऽमुं न विदन्ति, तेषां मन्दधियां जनिर्मुधैव जातेति ध्रुवं विद्धि। दुष्कालकरालविलेशयेन[1] दन्दश्य-मानमेतदशेषमहीतलं प्रचुरान्नसुधया नितरामुज्जीवयामासिवानसौ जगडूक एक एवेति मन्तव्यम्।''

तैः कविप्रवरैरित्थं वर्ण्यमानमात्मनो यशः शृण्वन् स सोलात्मजस्त्रपया तस्यां सभायां वदनारविन्दं नम्रीचक्रिवान्। (चकृवान्) अथानन्तरं तान् कविवरानमेयवैभवप्रदानेन मानेन वचनेन च प्रीणयित्वा, गुर्जराधीशेन सत्कृतो नैजं नगरमायातः। तत्र महति दुष्काले देशे विदेशे च सर्वत्र जगतः परिपालनाय जगडूशाहस्यैव कीर्त्तिं सर्वे लोका जगुः। यस्य यस्य राज्ञो धान्यागारं रिक्तामुपगतं ते ते राजानः सकलविबुधकविवरगणैरनारतं तोष्टूय्यमानं सोलात्मजमेव धान्यमयाचन्त।

सिन्धुदेशाधीशाय *हम्मीराख्ययवन*भूपाय (१२०००) द्वादश सहस्रं धान्यानां मूढकमददत, *मेवाड़देशाधिपतये* (३२०००)

1. बिले शेते = विलेशयः सर्पः।

द्वात्रिंशत्सहस्रमूढकपरिमितानि धान्यानि ददिवान्, मालवदेशाधिप *मदनवर्मण*नृपाय (१८०००) धान्यमष्टादशसहस्रमूढकमदत्त, *कन्धारदेशाधिप*भूपालाय (१२०००) द्वादशसहस्रमूढकधान्यं वितीर्णवान्, काशीपुराधीश्वराय *प्रतापसिंह*राजाय सोलसूनुर्द्वात्रिंशत्सहस्रं(३२०००) धान्यमूढकानामददिष्ट, इन्द्रप्रस्थपुराधीश्वराय पुनरेकविंशतिसहस्राणि(२१०००) धान्यमूढकानां ददिवान्। इत्थमनेकेषां क्षितिपानां साहय्यं कुर्वता सोलसूनुना (११२) द्वादशोत्तरशतविशालदानशालाः कृताः, तासु प्रत्यहं पञ्चलक्षलोका भुञ्जाना आसन्। एवमार्पिपच्च निशायां स जगडूः स्वर्णदीनारयुतांल्लज्जापिण्डान् कोटिशस्तेभ्यः कुलीनेभ्यः प्राणिभ्यस्तस्मिन् दुःसमये। इत्थं तस्मिंस्त्रैवार्षिके दुष्काले स सौलिर्धान्यमूढकानां (९९९०००)नवनवतिसहस्राधिकनवलक्षम्, अष्टादशकोटीदीनारांश्चार्थिसाच्चक्रे। पुनरसौ साधर्मिकवात्सल्यादि देशान्तरेष्वपि निर्मलाशयः सोलसूर्निजपुरुषैरचीकरत्। तथैव नक्तं नक्तं प्रच्छन्नतया मध्यस्थापितोदारदीनाररम्यान्मोदकान् व्रीडयाऽनुक्तवचसे जात्यलोकाय कोटिशः प्रादात्। तेनाऽमुना सुकृतमतिनाऽतुलकृतिना सोलसूनुना तुल्यः कोऽप्यन्योऽमुष्मिन् क्षितितले नाऽभूत्, न वा भविष्यति, नैवास्तीति निश्चयं विदाङ्कुर्वन्तु लोकाः। यतः -

मीयतां कथमभीप्सितमेषां, दीयतां कथमयाचितमेव ।
तं धिगस्तु कलयन्नपि याच्ञामर्थिवागवसरं सहते यः ॥

व्याख्या - एषामर्थिनामभीप्सितं मनोगतं कथं मीयताम्= जानीयात्, एवमयाचितमीप्सितार्थाऽकथने कथं वा दीयतां = दीयेत, तं दातारमपि धिगस्तु, योऽर्थिनां वागवसरं = याचनं दातुमना अपि सहते।

अतस्तेनोत्तमः स याचनामनपेक्षमाण एव लोकेभ्यः प्रभूतं

धनमन्नं च दत्तवान्।

इत्थममुत्राऽवनौ तीव्रतरं त्रैवार्षिकं दुर्भिक्षं प्रभूतरैराशिकलितः[1] सकललोकपालनपरायणः सौलोऽसौ दलयामास। अर्थात्तस्मिन् सर्वेभ्योऽन्नं वितरति सति केऽपि लोकास्तं प्रबलमपि दुर्भिक्षं नाऽजीगणन्। नूनमेष तदानीमसीमदानकारः सुरपतिप्रेयसीमनोहारिशृङ्गारे दुर्भिक्षसन्निपाते त्रिकटुकौपम्यमभजत सोलभूर्जगडूः किल। सकलभुवनशासितुर्नलस्यापि येन बलिना कलिना पराभवोऽकारि, सोऽप्युच्चैस्तरः कलिस्तेन सोलात्मजेन जगतीतलं त्याजितः सुतरामितः।

अथाऽस्मिन्महीतले सर्वत्र भूयसीं वारिवृष्टिं विरचय्य ते पयोमुचः सपदि लोकानामखिलानामुरुतरदुस्तरदुर्भिक्षसमयोद्भूतं भयं शमयामासुः। तत्रावसरे नर्त्तितनीलकण्ठाः पयोधरा निजगर्जनच्छद्मभृदङ्गनादाः, सच्चातकव्रातमधुरालापव्याजेन जगडूयशांसि जगुस्तरामिति मन्ये। तदानीं प्रमुदोऽम्भोधरा अपि स्वगर्जनच्छलेन जगडूमित्याचचक्षिरे-भोः सुकृतिचूडामणे! त्वमेवास्मिन् प्रलयकालोपमे दुष्काले सकलमेतज्जगतीतलं चिन्तामणिरिव प्रचुरतरधान्यवितरणेन जीवयामासिथ, त्वादृशो वदान्यशिरोमणिस्त्वमेव सर्वेषां सुविदां दृष्टिपथमारोहसि। तदनु जाते च सुकाले वर्षत्सु च मेघपटलेषु समस्तेयं मही धान्यप्रवृद्धिसमृद्धिपरिपूर्णा जज्ञे, प्रतिदिवसं तस्य सोलात्मजस्य चारुतरयशस्ततिं गायन् सकलो लोको मोमुद्यते स्म।

अथान्यदा जगज्जीवोपकरिष्णौ श्रीपरमदेवसूरौ सद्गुरौ सुराङ्गनालोचनतर्पणाय स्वर्धाम गच्छति सति स जगडूर्मनसि शोशुच्यते स्म। अथाऽसौ करालकालः सर्वेषां दुरतिक्रम एवास्ति। असौ

1. रैराशि = धनसमूह।

महान्तमपि नैव जहाति, इति विचिन्त्य मनसि धैर्यमाधाय स सुकृती सकलसङ्घसमन्वितः सततसत्पात्रप्रदानकलया पवित्रीकृतधनप्रकरः सिद्धाचलरैवतकादितीर्थयात्रार्थमचालीत्। तत्र गत्वा सर्वं सम्पाद्य श्रीमद्वीतरागपूजनादिनाऽऽत्मानं सफलं मन्यमानः स सोलनन्दनो जगत्रयीविस्तारियशाः सुन्दरं निजनगरमागत्य निजसङ्घलोकेषु गुरुतरभक्तिं प्रतन्वानो नीतिललितः शरदिन्दुसमुज्ज्वलं स्वकुलमपुनीततराम्।

अथैकदा वीसलदेवमहीपतीन्द्रप्रहितो महामन्त्री नागडो भद्रेश्वरे समागतवान्। तमागतमालोक्य महीयसा प्रेम्णाऽऽसनाऽशनवचनादिना सोलभूः सच्चक्रे। तत्रावसरे मन्त्री जगाद-भो महेभ्याग्रेसर! मम राज्ञः सत्तुरङ्गमवती तरी समुद्रमध्ये मरुतातिवेगतः समन्ततो निमज्ज्य प्रावृषि भङ्गमाप। मृताश्चैकविंशतिरश्वाः, जीवंस्त्वेक एव तुरगो जलात्तीरमाप। तमश्वं जिघृक्षुरभून्नागडः सुधीः। तदा मन्त्रिवरमेवमाचख्यौ सोलभूः-मन्त्रीश्वर! मामकीनेऽमुष्मिन् हयोत्तमे जिघृक्षां जहीहि। परकीयवस्तुनि कृतिना त्रपिष्णुना च त्वया किमिति मनो निधीयते? तदनु नागडोऽवक्-कृतिन्! एष तुरगो मत्प्रभोरेवास्ति, तत्र मनागपि संशयं मा कृथाः, अन्यथा चेत्तत्स्थाने तुभ्यमहं हयवराणां विंशतिं ददानि। अथैवमस्त्विति स जगडूः प्रतिपद्य तस्य वाजिनः कण्ठदेशाच्चर्मणा कलितं निजनामविभूषितं पत्रमाशु जग्राह। तदालोक्य न्यक्कृताननं नागडं प्रसन्नमनाः स इत्यभिदधे-मन्त्रीश्वर! वरप्रदोऽसावब्धिरपि मामिकां श्रियं क्वचिन्नैव रक्षति किम्? पणीकृतान् विंशतिहयान् खल्वहं भवतो नैव कामये। आवयोः श्रेयस्करी भूयसी प्रीतिरेव विजृम्भताम्। अमुना सोलतनयवचनेन समुचितेन वीसलक्ष्माभुजः सरव्युत्तमः[1] स्वमानसे भूयसीं प्रीतिमाप, 'विवेकिनां गुणैरुदारैः

1. सरविद्यायां विशेषेणोत्तमः।

के जना न हृष्यन्ति।'

अथैकदा कियन्तो धीवरजातीया मधूच्छिष्टमयैरिष्टकैर्भृतं पोतं समुद्रमार्गेण तत्र भद्रेश्वरपुरं निन्यिरे। एतानि क्व विक्रेतव्यानीदानीमिति विचारणा तेषामुदपद्यत, विचारयतां तेषां मनःपथे श्रेष्ठी जगडूः समायातः। तदनु मधूच्छिष्टमयान्येतानीष्टकानि तस्मै दत्त्वा तन्मूल्यमादेयमित्यवधार्य ते सर्वे तत्पार्श्वमाजग्मुस्तत्रागतास्ते निजकृत्यं तमाचचक्षिरे-श्रेष्ठिन्! मधूच्छिष्टमयैरिष्टकैर्भृत एकः पोतोऽस्माभिरिहानीतस्तं श्रीमान् क्रीणात्विति तन्मुख्यो जगाद। इति समाकर्ण्य मूल्यं तस्मै दत्त्वा तानि मधूच्छिष्टमयानीष्टकान्यसौ चिक्राय। तदैव तदादिष्टाः पुरुषाः पोतान्तिकं गत्वा मधूच्छिष्टमयानीष्टकानि शकटे निधाय गृहमानीय बहिश्चत्वरे क्वचिदेकत्र कोणे सञ्चितवन्तः। एतच्चानुचितत्वाच्छ्रेष्ठिनः कुटुम्बादिवर्गो नाऽन्वमोदत, अतो मासत्रयं तथैव तानि तस्थुः।

पश्चादेकस्मिन् दिने प्रज्ज्वलितायां सकट्यां केनचित्कौतुकादिष्टकमेकं तत्राऽक्षेपि। दहनयोगादुपरितनमधूच्छिष्टानां द्रावे तत्स्वर्णमयमचकात्। तदालोक्य तत्पत्नी यशोमती तदैव जगडूशाहमाहूय स्वर्णेष्टकं दर्शयित्वा [1]सैक्थकमशेषं वृत्तमवोचत्। श्रेष्ठ्यपि तत्क्षणमेव कषपट्टिकायां तत्परीक्ष्य सकलानि तानि कनकेष्टकानि पञ्चशतानि गृहान्तर्न्यधात्।

इत्थं भाग्योदयादनायासेनाऽधिगतायां प्रभूतायां श्रियां सत्यां श्रेष्ठी स्वगुरूपदेशतस्तानि सर्वाणि स्वर्णेष्टकानि दीनाऽनाथपङ्गुरङ्कादीनामुपकृतये व्ययितवान्। यतः, विवेकजनशिरोमणिः सोलात्मज इदमवेदीत्-यदिदमनायासेन लब्धमपि धनं मम नास्ति, किन्त्वनेकाऽनाथादिजीवानामपि भागोऽस्मिन्नस्तीति हेतोरेतद्धनं परोपकृत्यै वितीर्यैवाहं कृती भवामि, अहं तु निमित्तमात्रमेवास्मि।

1. तण्डुलपचनसम्बन्धि।

यावदेव धनं धर्मार्थमहं व्येमि तावत्येव श्रीर्मामकीना, या च कोशागारेऽमिता सञ्चिता विद्यते सा तु परकीयैवास्ति। एकस्मिन् दिने सर्वमेतद्विसृज्य ममापि गन्तव्यमस्त्येव। इह लोके यः खलु परकीयाशेषदुःखभञ्जनो विक्रमादित्यनरपतिरभवत्सोऽपि सर्वमत्रैव हित्वा गतवानेव। भोजनृपकुमारपालभूपालप्रमुखाः समेऽपि स्वायुषः पूर्णतायामितो जग्मिवांस एव, नैव केऽपि तस्थिवांसः। अतः संसारेऽत्र जन्म लात्वा ये जना जगन्ति जीवयन्ति, दीनानुद्धरन्ति, परेषां दुःखानि वारयन्ति, त एव धन्यजन्मानो जीवा मृता अपि जीवन्त एव गण्यन्ते। तत्रापि यावती लक्ष्मीः सुपात्रेभ्यो वितीर्यते सैवानन्तफलदा जायते। अतः समधिगताः श्रियः परोपकृत्यादिधर्मकार्येऽवश्यमेव व्ययितव्याः प्रतिदेहमित-कमलाविलासकामुकैः सुपुरुषैरिति दिक्।

ततः श्रीषेणसूरिवरपादारविन्दसेविराजहंसः सद्दानोद्भूतप्र-भूतकीर्त्तिश्रिया विनिर्जितकल्पवृक्षः सुकृतिजनशिरोमणिः स सोलात्मजः स्वमनसि सदैव जिनाधिपतिप्रणीततत्त्वविचारमकरोत्। इतश्च तत्र भद्रेश्वरे भव्यैर्जनैरसङ्ख्यातैः सुमण्डितायां सभायां प्रातःकाले व्याख्याने श्रीषेणसूरीश्वरः सरीसृपाणां स्वरूपं सम्यग्व-दति सति तत्रागतो मत्सरी कश्चन दुष्टयोगी, तेन मुनीन्द्रेण समं सकलसभ्येषु निषण्णेषु विलक्षणविचक्षणेषु मनसि चमत्कृतिं दधत्सु च नागमतोरुवादमकार्षीत्। तदानीं तत्प्रहितेन केनचिन्नागेन विषोल्बणेन निर्मलाशयस्य तस्य श्रीषेणसूरेः कराङ्गुलीपेशल-पल्लवाग्रमदश्यत। तस्मिन् दुरात्मनि निर्गते स तदानीमेव तीव्र-तरदुःखाकुलीकृतचेतसस्तान् भव्यजनानिति जगौ यदत्र कोष्ठागारे विषं निनाशयिषुरहं ध्यातुं प्रविशामि। यतोऽसौ दुर्धीर्योगी सम्मोहिनीं विद्यां सिसाधयिषुर्मामकं कपालं कामयते, भवद्भिश्चात्र द्वारं नियन्त्र्याऽऽकृष्टखड्गैः स्थातव्यम्। मम हुङ्कारनादमाकर्ण्य गर्भधा-

म्नोऽस्य द्वारमुद्घाट्य सुकृतकामुकैर्युष्माभिः कमलासनासीनोऽहं द्राग् दर्शनीयश्च। तेऽपि तथास्त्विति तद्वचः प्रपेदिरे। तदनु स सूरिराड् गर्भगेहान्तरागत्य मुक्तदोषः सद्य एव निजं मनो विशुद्धे वरध्याने न्ययूयुजत्। अथ सद्ध्यानयोगेन विषापहैर्मन्त्रैर्जाङ्गुलिक इव स निजाङ्गे प्रसृतं विषमपसार्य हुङ्कारनादमकरोत्। तदाकर्णयन्तस्ते सर्वे सभ्या भव्याः प्रमोदमापेदिरे। तदा तेषु सर्वेषु पश्यत्सु स सूरिः स्वयमेव नखल्वा छेदं कृत्वा कराङ्गुलीपल्लवदेशभाजो विषस्य बिन्दून् पतद्ग्रहान्तः पातयामास। तदैव सोऽपि योगी तत्रागत्य विषार्त्तिमुक्तं तं सूरिराजं भक्त्या प्रणम्य चारुतरं तदीयमध्यात्मरूपार्थयुतं गीतमुज्जगौ। तदा करुणावरुणालयः स सूरीश्वरोऽप्येनं योगिनमित्याख्यातवान्-'योगिन्! अद्यतनदिवसात्सप्तमे दिनेऽमुष्मात्सर्पाद्दष्टो मृतिमधिगमिष्यसि, एतत्सत्यमेव विदाङ्करोतु भवान्।' अथ कन्थकोटपुरमागत्याऽन्येन केनचिद् योगीन्द्रेण सह विवदमानः स योगी पुरा सूरिवरेण निगदिते दिवसे तस्मादेव सरीसृपात्सन्दष्टो ममार। तदा श्रीषेणसूरेरित्यद्भुतम्प्रभावं पश्यन् स सोलजन्मा मानसे भूयसीं चमत्कृतिं दधानो भृशममोमुदीत्।

अथामुष्य गुरोरादेशमादाय भूयांसि श्रीसङ्घयात्राप्रभृतिधर्मकार्याणि चक्रिवानसौ कलिमलपटलक्षयकारी धरित्र्याश्च शृङ्गारहारः। इत्थं चिरं नानाविधधर्मकृत्यविधानेन मानुष्यं सफलीकृत्य जगज्जनोद्धारकः श्रीषेणसूरीश्वरमुखारविन्दतः सुधास्यन्दिधर्मतत्त्वं श्रावं श्रावं स सोलभूः स्वायुषः क्षये हरिलोचनपावनाय संसारममुमसारं मन्वानः स्वर्धाम निनाय। अमुष्मिन्निधनत्वमुपागते लोका एवमूचिवांसः-

'हन्त! नूनमद्यैव वैरोचनिरेतस्माज्जगतीतलादमरपुरमियाय? किमद्यैव सुकृती राजराजेश्वरः शिबिरपि स्मरणीयमासवान्?,

जीमूतवाहनोऽप्यद्यैव किमशेषं जगत्तुच्छमवगत्य सुरलोकमगमत्?, किमन्यन्नूनमद्यैव राजा विक्रमार्कोऽपि सर्वमपहाय सुरगणयुवति-रिरंसया ययिवानमरनगरम्?, हा! हा! अमुष्मिन् जगडूदिवाकरे बलवता जगज्जिघत्सुना कालेन सहसापहृते क्षणादेव जगतीयं सकलाऽप्यपगतप्रमोदा शोकसागरे निमग्नाऽजनि? इति शशङ्किरे कवयः।

यः खलु निजारातिकुलकौशिकानां प्रमदभरं नितरामशीशमत्। येन जगडूदिवामणिना निजैरसङ्ख्यातैर्वसुभिः सकलदारिद्र्य-तमःस्तोमो निरासि। अपि च तस्मिन् दिवं गते सति गुर्जरेशो नरेशस्तत्कालमेव शोकातिरेकाच्छिरसो मौलिमुत्तारयामास। महीयान् राजाऽर्जुनोऽपि तन्मृत्युमाकर्ण्य बाढमरोदीत्। एवं सिन्धुपाललोकपालोऽपि तदीयदेहान्तं निशम्य दिनद्वयमुपवासं चक्रिवाञ्छोकार्णवे निमग्नः सन्। किमधिकं कथयामि-अस्मिन्महीतले ये ये क्षितीश्वरास्तदीयां परलोकवार्त्तां शुश्रुवुस्ते सर्वेऽपि तदीयोदारगुणावलीं स्मारं स्मारं समुद्भूतप्रभूतप्रहर्षाः शोकसागरे निपेतुः।

तदानीमेको मोहमहीपतिरेव केवलं स्वचेतसि प्रमोदातिशयं दधार। प्रोल्लसन्नेष कलिरपि तत्र स्वर्याते प्रौढप्रतापी बभूव। धर्मस्तु क्षितेरमुष्या अत्यन्ताऽभाग्योदयात्तस्मिन् सोलनन्दने जगदिदं विमुच्य सुरयुवतिजनै रिरंसति सति नितरामातङ्कमेव बिभरामास। अहो! श्रीनिलयस्याऽस्य जगडूकस्याऽमुष्मिन्भूतले किं प्रेष्ठं श्रेष्ठं नाभूदपितु सर्वमेव। तथाहि-तदीया सती महती सुकीर्त्तिः शारदपूर्णचन्द्रप्रभाभासुरा वरीवृत्यते, मतिरपि तस्य श्रीमदार्हत-भाषिताऽहिंसामयस्य मर्मग्राहिणी देदीप्यते, साहसमपि तदीयं समेषां सुमनसां महावीराणां च मनांसि समुल्लासयति विस्मापयति

च, सद्दानमपि विश्वम्भरोद्धारकरमभूत्, ओजोऽपि तस्य सर्वेषां सपत्नपक्षाणामखर्वगर्वदलने पटीयोऽभवत्।

अथ गुरोः सारतरबहुतरवचनैस्तदीयमशेषं शोकमपहाय तद्बान्धवौ भूपतेर्मान्यतमौ *राजपद्म*नामानौ सद्धर्मविधाने धुरन्धरावभूताम्। पुनरिमौ प्रेङ्खच्छारदपार्वणेन्दुकरनिकरावदात-परिस्फुरत्कीर्त्तिश्रीप्रचयेन निर्मलीकृताऽशेषमहीमण्डलौ श्रीषेण-सूरीश्वरीयचरणकमलयुगलाऽनवतरसेवनतत्परौ श्रीसङ्घमुख्यौ तौ श्रीमद्वीसलसत्कुलं चिरतरमशूशुभताम्। श्रीमतः श्रीषेणसूरे-रतुलोपमोपदेशात्तावपि भ्रातरौ जगडूवदेव सद्धर्म्मकृत्येष्वमित-लक्ष्मीं व्ययीकुर्वाणौ निजजीवनं सुकीर्त्तिमयं सफलं चाकुर्वाताम्।

भो भो भव्याः! अमुष्मिञ्जगडूचरिते सम्यगाकर्णिते भव्यानां मनांसि नितरां प्रमोदभर*मिम्रति*, कर्णौ च श्रवणादेतस्य पवित्रौ जायेते, दुःखत्रयं चैतच्छ्रवणादह्नाय विलीयते, अन्तःकरणे कश्चिद-वाच्य एव हर्षः परिस्फुरति सतां सुधियाम्। अत एतदालोच्य सर्वैरेव लौकिकपारलौकिकसुखातिशयलिप्सुजनैस्तद्वदेव स्वजीवनं सफलं करणीयं दिवानिशम्।

अथ प्रशस्तिः -

सञ्जैनागमपुण्डरीकनिकरप्रोल्लासनैकः क्षितौ,
साक्षाद्धंस इहोदियाय जगदानन्दप्रकर्षप्रदः।
सौधर्मोरुतपःसुगच्छविबुधानन्दप्रदे नन्दनाऽऽरामे,
कल्पतरुर्बभूव विजयी *राजेन्द्रसूरीश्वरः* ॥१॥

एतच्चिर्म्मलसद्गुणौघकुसुमाऽऽमोदं पिपासुः प्रधीः,
श्रीमच्छ्रीधनचन्द्रसूरिरभवद्वादिप्रभाजित्वरः ।
श्राव्याऽदभ्रसुदेशनाऽमृतरसैर्भव्याननेकाञ्जनान्,
उद्धे जिनशासनोन्नतिकृतामग्रेसरः क्ष्मातले ॥२॥

एतत्सर्वजगत्प्रसारिजनताजेगीयमानाऽमलो-
दाराऽपारगुणाकराऽतिरुचिराऽऽरामं भृशं सिञ्चतः ।
दर्भाग्रोपमशेमुषीपरिलसद्भूपेन्द्रसूरेः प्रभोः
सद्राज्ये जगदद्वितीयविदुषस्तिष्ठञ्जनल्पश्रियः ॥३॥

(१९८४) वेदाष्टनन्दशशभृत्तुलिते सुवर्षे,
गूडाभिधाननगरे मरुदेशरम्ये ।
सम्पूर्णमेतदनघं मृदुगद्यपद्यं,
चक्रे यतीन्द्रविजयो जगडूचरित्रम् ॥४॥

।। श्री धर्मनाथजिनेन्द्राय नमः ।।

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय स्वच्छाम्बरविहारिसुविहितसूरि-कुलतिलकसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-शासन-सम्राट-परमयोगिराज जङ्गमयुगप्रधानजगत्पूज्य-गुरुदेव-श्री-श्री १००८ श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरचरणार-विन्द-सेवा-हेवाक-व्याख्यानवाचस्प-त्युपाध्याय-श्री-यतीन्द्रविजय-(श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी) संदृब्धा

गद्यसंस्कृतभाषात्मकं

श्री कयवन्ना चरित्रम्

गद्यसंस्कृतभाषात्मकं

श्री कयवन्नाचरित्रम्

श्रीमन्तं वर्द्धमानं जिनवरमनघं त्रैशलेयं प्रपूज्यं,
नामं नामं सुविद्वत्प्रवरनिजगुरुद्वन्द्वपादारविन्दम् ।
भव्यात्मस्वान्ततुष्टयै क्षितितलमहितं सच्चरित्रं तदेतत्
सद्गद्यं बोधिबीजप्रदमतिललितं निर्मिमीते यतीन्द्रः॥१॥

इह खलु भरतक्षेत्रे प्राच्यदिग्विभागे सकलर्द्धिशालिनी समृद्धिशालिजनाऽशेषभोग्यपरिपूर्णा *राजगृही* नाम प्रख्यातनगरी जागर्त्ति, तत्र रामचन्द्र इव न्यायनिष्ठः *श्रेणिको* नाम भूजानिरासीत्। अमुष्य नरनाथस्य पञ्चशतप्रधानमुख्यः "श्री-अभयकुमार"-नामा मन्त्रीश्वरोऽभवत्तमाम्। तस्यामेव नगर्यां *धनदत्त* नामा महेभ्यः प्रधानव्यापारी निवसति स्म। तारुण्ये खल्वेतस्य कापि सन्ततिर्नोदपद्यत, किन्तु चरमे वयसि भाग्ययोगादेकः सूनुरजायत। तदा श्रेष्ठिनः सूनुजा प्रीतिः काचिदसीमैव समुत्पेदे। अत एव पुत्रजन्मनि महोत्सवं नानाविधं वितन्वानः षड्दिनानि बहूनि दानानि च ददानः प्रमोदभरः श्रेष्ठी द्वादशेऽहनि जातस्य सूनोर्महता महेन *कयवन्नेति* नाम व्यधात्। तस्य पुत्रस्य ललाटफलके काचिदद्भुतैव भाग्यरेखा दीप्यमानासीत्। एष बालः सितदले पीयूषमयूख इव ववृधे। पञ्चमे वर्षे पित्रा लेखनशालायां प्रवेशितः। अल्पीयसा कालेनैव स सर्वासु विद्यासु नैपुण्यमीयिवान्। अयं

खलु प्रत्यहं विद्याविनोदेनैव कालं गमयन् मातापित्रोर्मानसमाह्लादयन् मनसा चानवरतं शुभं भावयन् वैराग्यवासनाप्रवाह एव निमज्जन्नासीत्। व्यावहारिक-लौकिककृत्ये तु स्तोकमपि तन्मनो नो लगति स्म। केवलं साहित्यचर्चातदभ्यासयोरेव सुखममन्यत। तदुक्तम्-

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा ॥१॥

ततोऽनेन कुलजा रम्भोपमा सकलकलाकुशला नाम्ना *जयश्री*र्महामहेन पित्रा परिणायिता, परमेतस्यां तारुण्यपूर्णायामपि मनोवृत्तिर्मनागपि तेन नाऽदायि, केवलमात्मीयवैराग्यवासनाया विघातिनीत्येव मेने। अत एव कदापि तां *जयश्रियं* प्रेमभरेण रहसि नाऽश्लिक्षन्नो लुलोके, न वा किमपि जजल्प। मन्मथराजधानी जयश्रीस्तु प्राणनाथमात्मसात्कर्त्तुकामाऽनवरतकटाक्षेक्षणसस्मितमधुरालापादिहावभावान् वितन्वानाऽऽसीत्, परमेतस्याः सकलोऽप्युपाय ऊषरभूमौ बीजवाप इव बभूव। ततः सा सर्वमेतन्निजश्वश्रूं निगदितुमैषीत्। यद्यपि लोके कियती श्वश्रूः परपुत्रीति मत्वा दिवानिशं वधूं दुःखीकरोति, दास्यादिकृत्यं दुष्करमपि तयैव कारयते, कलहायते च सदैव तया सह वध्वा तादृशी श्वश्रूः। जगति स्तोकैव तादृशी भाग्यशालिनी वधूरस्ति, या तादृशकलहजां पीडां नानुभवति, यदीदृशी भर्त्तुर्भ्राता भगिनी वा स्यात्तर्हि तादृश्यां तस्यां कियन्तं सद्भावं वधूः कुर्यादिति विज्ञाः स्वयमेव तर्कयेयुः। अस्याः श्वश्रूस्तु तादृशी नाऽसीत्, सा खलु सदैव निजवधूं मधुरयैव गिराभाषत, स्नेहमयेनैव चक्षुषा व्यलोकत, निजदुहितरमिव भृशं लालयति स्म, सत्यवसरे सुखदुःखयोर्वार्त्तामपि पृच्छति स्म, उत्तमं भोज्यं तस्यै दत्त्वैव स्वयं भुङ्क्ते स्म, कुपितापि सा तां कदापि भ्रुवौ क्रूरां दृशं वा नाऽदर्शयत्, तस्यां भर्त्तुरनुरागो मनागपि

नास्तीति जानानापि परमनया वार्त्तया वध्वा बहुदुःखं भविष्यतीति धिया तदग्रे कदापि तां वार्त्तां न व्याजहे।

अथैकदा विच्छायवदनां चिन्तातुरां *जयश्रियं* विलोक्य श्वश्रूरपृच्छत्-वत्से! कथमद्य तवाऽयं वदनशशी शोकस्वर्भानुना ग्रस्तप्रायो दृश्यते? किं ते मातापितरौ स्मृतिपथमायातौ? अथवा किमप्यपूर्वं वसनं भूषणं वा परिधातुमना औत्सुक्यं वहसि?, कापि दासी दासेरो वा तवाऽऽज्ञामभनक्?, अथवा मत्पुत्रेणा-वज्ञातासि? वत्से। सदैव तवाननं प्रसन्नमालोकि, तदेवाऽद्य चिन्तातुरं विच्छायं दरीदृश्यते कथम्? सत्यं विद्धि-अहं खलु तव सुखदुःखाभ्यामेव सुखिनी दुःखिनी वा भवामि, त्वामहं पुत्रीतोऽपि विशिष्टां जानामि, अतस्त्रपां विहाय शोककारणं मां ब्रूहि। यतः-*'अज्ञातस्य दुःखस्य कापि चिकित्सा न जायते।'* इति श्वश्रूभाषितमाकर्ण्य जयश्रीरभाषिष्ट-अयि श्वश्रु! भवत्या अनुकम्पया विद्यते मे सकला सुखसाधनसामग्री, मातुः पितुर्वा वियोगो मनागपि मां नैव बाधते, दास्यादिवर्गोऽपि सहर्षं ममादेशं शिरसा वहत्येव, वसनाऽऽभरणादेरपि लिप्सा नैवास्ति। दुःखस्य कारणंत्वन्यदेवास्ति, यद् भवादृशगुरुजनाग्रे निगदितुमपि त्रपां बिभर्मि, अकथने च मनसि खेद एव नितरामुच्छलति, तदपि चिरादेव मामतितरां निपीडयति। अद्य भवती ममाऽनवरतमङ्गल-चिकीरत्याग्रहेण पप्रच्छ, अतोऽहं चिरदुःखिनी तत्रभवतीं निगदामि यन्मे तादृशदुःखहेतुरन्यःकोऽपि नास्ति, किन्तु भर्त्तुरप्रसाद एव महादुःखमस्ति। मातः! त्वामधिकं किं लपामि, अद्यावधि तदन्तिकं पौनःपुन्येन गतामपि मामेकदापि नाऽवीवदत्। अहो! लपनं तु दूरमास्ताम्, सस्नेहमपश्यदपि न, ज्ञानादज्ञानाद्वा तदीयमविनय-मद्यावधि मया नाकारि, निरन्तरं सप्रेम तदनुकूलमेवाऽऽचरामि, तथापि वज्रादपि कठिनं तदीयं हृदयं मयि निरागस्यबलायामद्यावधि

नैव प्रससाद। भवद्गृहागमनदिनादद्यावधि तावकः शिशुर्विह-सन्नेकवारमपि मां नाऽवोचत्। पूज्यतमे! यत्सुखं लिप्सन्ती माता-पितरौ निजसखीं च हित्वा भवत्याः सदनमागाम्, तत्सुखस्याऽलाभे कस्याग्रे पूत्कुर्याम्?, किं मे तं विना कोऽप्यन्यः सुखयिता सम्भवति? यस्मिंस्तादृक्सुखाशां कुर्याम्?, यदीदृश्येव दुःस्थितिश्चिरं तिष्ठेत्तर्हि बालविधवातोऽप्यधिकं दुःखमनुभविष्यामि। त्वं खलु शिरश्छत्र-मसि, अतो मामकं सोढुमशक्यं दुःखमवगत्य तन्निवारणोपायमचिरं विधाय मे नवोज्जीवनं प्रदेहि। यथाग्रे पुनरीदृशदुःखभाजनं न स्याम्, इतोऽग्रे यावन्निगदितुमिच्छति तावदनुभूतदुःखातिरेका-द्विदीर्णहृदया केवलमश्रुधारामेव मोक्तुं लग्ना सा जयश्रीः।

इत्थमाक्रोशन्त्याः पुत्रवध्वाः शोकेन शोकाकुलीभूता श्वश्रूरपि क्षणं रुदित्वा वध्वा अश्रूणि व्यपनीय तामवादीत्-वत्से! मा शोचीः, तवेदं दुःखं श्रोतृणामपि दुःसहं मन्ये, या ते विद्वेषिणी सापीदृशं दुःखं जातुचिदपि माऽनुभूत्। ईदृशं सर्वर्द्धिसदनमागत्यापि त्वमन्तर्गतदुःखाग्निना दन्दह्यसे तन्नो द्रष्टुं शक्नुयाम्। अतस्त्वं धीरा भव, दुःखं जहाहि। अद्यप्रभृत्येव तव दुःखविघाताय यतिष्ये, एतत्सत्यं विदाङ्करोतु भवती। यथाचिरादेव सर्वं मनोदुःखमपनीय त्वां सुखिनीं विधास्यामि, त्वमिदानीं निश्चिन्ता भव। यावत्ते दुःखं वरीवर्त्ति तावदहं दुःखमेवाऽनुभवामि, लेशतोऽपि सुख-मधिगन्तुं नार्हामि। इत्थं तामाश्वास्य तदैव सा निजपतेरभ्याश-मागत्य शोकातुरा तस्थौ। अथैनां म्लानवदनामालोक्य धनदत्तः श्रेष्ठ्यपि किञ्चित् साशङ्कोऽभवत्, सापि दुःखातिशयात्स्तब्धीभूता किमपि जल्पितुं नाऽशकत्। तावद्धनदत्तोऽजल्पत्-प्रिये! कथमद्य तव मुखं सखेदमालोक्यते?, किं कश्चिदुत्पातो जातः, अथवा किममङ्गलमजायत, येनेदृशं विच्छायं वदनं दधासि?, त्वामीदृशीं प्रेक्ष्य महान्मे संशयो जायते, अतः सत्वरं मनोगतं दुःखकारण-

माचक्ष्व।

इत्थं पत्युर्भाषितं श्रुत्वा पुनः शोकव्याकुलतामधिगता सती भृशं रुदती धैर्यमालम्ब्य साऽवदत्-प्रियतम! गृहे वधूः सदैव दुखं भुङ्क्ते, तत्किं नो जानासि? यद्यपि तद्विजानतस्ते तद्विषये यन्निगदामि तत्पिष्टपेषणमेव भवति, परन्तु तदसह्यं कष्टमेव निगदितुं भृशं प्रेरयति। यद्यपि मादृशी बुद्धिविकला स्त्रीजातीया भवादृशं मतिमन्तं किमप्युपदिशेदिति नैव घटते तथापि गत्यन्त-रमलभमानया मया वक्तव्यमेव, नो चेन्महती हानिः सम्भविष्यति। स्वामिन्! पश्य पश्य आवयोरेक एव चरमे वयसि सूनुरुत्पेदे, समृद्धिस्तु भूयसी वर्त्तते, परन्तु पुत्रस्य कौशल्यं व्यवहारे विषये वा मनागपि नैव विलोक्यते, दिवानिशं वैराग्यशास्त्रमेव त्यागीव भावयते। यदि तदेव योग्यं मनुषे तर्हि रम्भोपमया कन्यया सह तदुद्वाहः कथमकारि? मया तु वध्वा ईदृशं दुःखं सोढुं नैव शक्यते। तत्र भवतापि व्यवहारनिपुणेन तदुपेक्षणं नैव कर्त्तव्यम्, अतोऽहं प्रार्थये यथाऽऽशु कयवन्ना सांसारिके व्यवहारे मनो ददीत तथा प्रयतस्व। अत्राऽऽलस्यं मा गाः, यथा च वधूट्यां पत्न्यामनुरज्येत्तथाऽह्वाय[1] विधातव्यम्।

अथाऽमुना ललनालपितेन धनदत्तस्तस्याः कीयती धीरिति परिमाति स्म, तथा स्त्रीषु नैसर्गिकं मतिमान्द्यं प्रतिपादयत्सु नीतिवाक्येषु च प्रामाण्यं जग्राह। अत्रावसरे तत्प्रतिबोधनाय श्रेष्ठी न्यगादीत्-अयि सुन्दरि! तवेदं वचो वैषयिकलोकानामेवोपयुङ्क्ते, परन्तु आवयोः पुत्रः कयवन्ना तु तदसारमेव मनुते, वर्त्तते च परमार्थविचारे। यस्य लक्ष्मीरल्पीयसी भवति स एव सुतं गृहकृत्ये व्यवहारकृत्ये च योजयते। मम तु लक्ष्मीरपरिमिता तिष्ठति तर्हि कथमात्मकल्याणकारिपथादुत्तार्य मिथ्यात्वमये प्रपञ्चे तं पात-

1. शीघ्रम्।

येयम्?। स खलु किमप्यनुचितं नाऽऽचराति किन्तु, यदर्थं महात्मानो यतन्ते तदेवाधिगन्तुं सदैव पुराकृतसुकृतनिचयोदयादिहापि साधीयसीं भावनां भावयते, अतस्त्वं तदर्थं मा शोचीः। प्रिये! किमेतन्न वेत्सि यदेकस्य गृहस्य निर्माणे भूयान् कालो लगति, तस्यैव भङ्गने तु क्षणमपि न लगति। इत्थमेव निवृत्तिमार्गे शाश्वतसुखप्रदे प्रवृत्तिरेव कठिना। यतः पापीयांसस्तस्मिन्मार्गे नैव प्रवर्त्तन्ते, किन्तु सुकृतिन एव। भाग्ययोगात्तत्र प्रवर्त्तमानानामधःपातनं तु सर्वेषां सुकरमेव जानीहि। अत एव सन्मार्गे प्रवर्त्तमानं पुत्रं माऽधः पातयेथाः?, किञ्च स्वयं तत्र मार्गे प्रवर्त्तितुं न शक्नुयां चेदन्यस्य श्रेयसि मार्गे प्रवृत्तस्य विघ्नकरणे महापापीयान्, अधमाऽधमश्च स्याम्। अतः सुभगे! शुभेऽस्मिन् कृत्ये प्रस्तरं च मा क्षेपीरीदृशमलीकविचारं मा कृथाः।

इत्थं *धनदत्तेन* प्रतिबोधितापि सा *वसुमती* निजाग्रहं न तत्याज किन्तु रोष एवाऽधिववृधे, ततः कोपाटोपादवादीत्-स्वामिन्! किमिदं ब्रवीषि?, कः पुमान् सत्याममितलक्ष्म्यां त्वमिव विषयविमुखं युवानमुपेक्षेत तदुपायं वा न कुर्वीत, किमेतदर्थमेव सुचिरं पुत्रमचीकमथाः?, हा हा!! दिवानिशं नवोढा कामिनी गृहे रोरुद्यते, पुत्रस्तु यौवन एव वैराग्यं नीतः कथमेतन्मे धैर्यं नो विलुम्पेत्?, अतः कयवन्नापुत्रं विलासिजनसङ्गत्यां क्षिप, यथाऽऽशु व्यवहारे नैपुण्यमाप्नुयात्।

इत्थं पत्न्या अत्याग्रहादसौ धनदत्तो विज्ञोऽप्यज्ञ इव तथा कर्त्तुमुरीकृतवान्। ततः श्रेष्ठी निजपुत्रसमानवयसो यूनः पुंसो विलासिनः कतिपयानाकार्य शिक्षयामास-भोः, यथाऽसौ कयवन्ना विषयसेवने पटीयान् भवेत्तथा भवन्तो यतन्ताम्। ततस्ते विषयविलासिनः श्रेष्ठिनः पार्श्वात्प्रचुरं धनमादाय प्रथमं वसन्तोत्सवे श्रेष्ठिनः पुत्रमानिन्यिरे। तत्रानेकतरुण्यस्तनुश्रियाऽप्सरस इव

भासमाना अनङ्गमपि साङ्गं विदधाना मुनीनामपि मनांस्यधीराणि कुर्वत्यः सरागं गायन्ति स्म। यद्यपि श्रेष्ठिनः पुत्रः प्राक् कदापीदृशीं कामिनीजनलीलां नो प्रेक्षाञ्चक्रिवान्, तथापि संसर्गतस्तत्कालमेव मनसि चाञ्चल्यमध्यगच्छत्। ततस्ते तासां सङ्गीतस्थाने तं नीतवन्तः। तत्र तासां नाट्यं तारुण्यमद्भुतं लावण्यं मधुरं वीणानिनादं तथाऽऽलिङ्ग्यादीनां लयं च श्रुत्वा कयवन्नामनो वागुरायां मृग इव प्रतिबद्धमजायत। उक्तञ्च –

सुभाषितेन गीतेन, युवतीनां च लीलया ।
मनो न भिद्यते यस्य, स योगी ह्यथवा पशुः ॥२॥

व्याख्या – मधुरगानेन स्त्रीणां शृङ्गारजैः कटाक्षादिचेष्टितैर्यस्य मनश्चित्तं न भिद्यते = नो चलति स पुमान् योगी = जितेन्द्रियः, अथवा पशुरिति।

अथ तत्र वसन्तोत्सवे कयवन्नाभिधस्य श्रैङ्गारिकत्वकरणे युवतीनां नृत्यं हावभावादिरेव पर्यासो जज्ञे। ततः प्रभृति वैराग्यभावना तु तन्मनो विहाय दूरमगमत्, केवलं शृङ्गार एव सदनं चक्रिवान्[1]। किं बहुना, तदासक्तस्य तस्याऽशनपानादेरपि विस्मृतिरजायत। ततः स तैर्वयस्यैः सह वेश्यासदनमागत्य तदीयहावभावादिभिः कामकिङ्करोऽभवत्। यतोहि वेश्या विवेकयोर्ज्ञानाऽज्ञानयोरिव महदन्तरमस्ति, तर्हि तस्या वेश्मनि निवसतो जनस्य भक्ष्याऽभक्ष्यपेयाऽपेयाद्यपेक्षणं जात्वपि नैव सम्भवति। ततोऽसौ वारविलासिनी श्रेष्ठिपुत्रं वशंवदं विधाय मधुपानादिना प्रमत्तेन तेन सह स्वैरमनवरतं रममाणाऽऽसीत्। अहो! कुसङ्गदोषात्किं किं नाचरति?, यदाह –

आनन्दमृगदावाग्निः, शीलशारिवमदद्विपः ।

1. चकृवान् ।

ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः ॥३॥

व्याख्या - अयं खलसमागमः *कुसङ्गतिः आनन्दलक्षणमृगस्य दावाग्निः, शीलशाखिनः शीलरूपी यस्तरुस्तदुन्मूलनाय मत्त-मातङ्गः, ज्ञानदीपस्य निर्वापणे महावायुरस्ति, अत एव कुसङ्गत्या पुंसः शीलाऽऽनन्दविवेकादयो गुणा विनश्यन्ति। अतो नीति-वाक्यानि पौनःपुन्येनाऽऽहूयाहूय लोकान् बोधयन्ति यद् भो भव्याः! यूयं कुसङ्गादिदोषात्सत्सङ्गतिं मा त्यजत।*

अहो! क्व गोपीचन्द्रस्य मौनवती जननी क्व च कयवन्ना-माता वसुमती? एतयोरुभयोर्मेरुसर्षपयोरिवान्तरमस्ति। यस्मात्सा मौनवती विषयासक्तं स्वपुत्रं गोपीचन्द्रमेवं प्रतिबोधयामास। वत्स! कदाचिदेकदा जगज्जिघत्सुरसौ बलीयान् कालस्त्वामपि कवली-करिष्यत्येव, अत एव त्वदीयभोगविलासं दर्शं दर्शं मदीयं लोचन-युगलं दुःखाज्जलं जहाति। हन्त! एष एव भोगविलासस्त्वां मानुष्यमहत्त्वादधः पातयति, आरोहयति च बलाद् दुर्गतेः पन्थानम्। अत एनं नरकयातनानायकं विषयभोगं जहाहि, शाश्वतसौख्यप्रदं वैराग्यमेव जुषस्व?, इत्थं मातुस्तथ्योपदेशात्तत्कालमेव गोपीचन्द्रो विषयवैमुख्यमधिगत्य प्रतिबुद्धवान्। वसुमती तु निर्मले सन्मार्गे प्रवृत्तमपि सूनुं महताऽऽयासेन गर्हिते दुर्गतिदायके पथि प्रावर्त्तयत। हंहो! सदाचारेण पुत्रस्य मातापित्रोः स्वस्य च महानेव लाभो जायते, कुमार्गप्रवृत्त्या तु कियती हानिरुदेतीतिप्रायः समेषां विदितमेवास्ति। अतो मातापितृभ्यामात्मजः सन्मार्ग एव प्रवर्त्त-नीयः, न जात्वपि कुपथे वसुमतीवत्।

अहो! मोहमाहात्म्यम्-यः खलु कयवन्ना पुराऽनवरतं शास्त्रच-र्चायामेवाऽरंस्त स एवाऽधुना कुसङ्गत्या मदिरां पायं-पायं प्रमाद्यति। आसीच्च यस्य पुरा काव्यादिविनोदपरिशीलनैव सदा-

ऽभूत्तस्यैव सांप्रतं वाराङ्गनाऽऽलिङ्गनचुम्बनगायनादिविनोदेनैव कृतकृत्यता। यस्य च प्राग् वैराग्यादन्यत्किमपि नैवारोचत, स एवाऽधुना श्रैङ्गारिकसङ्गीतरसे किलाऽऽकण्ठं निरमाङ्क्षीत्। यश्च पुरा निजप्रेयसीमपि राक्षसीमिव वैराग्यवासितहृदयदूषितकाममंस्त, स एवाऽद्य रूपाजीवाविलासभूमौ पातं पातं परमानन्दं मनुते। यः पुरा धर्मकथयैव तृप्यति स्म, सोऽयमद्य कुटिलकामिनीभोग-विलासेनैवात्मानं तृप्तं मनुते। यतः -

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवनं,
व्यापारैर्बहुकार्यभारनिकरैः कालो न विज्ञायते,
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥४॥

व्याख्या - आदित्यस्य=सूर्यस्य गतागतै=र्गमागमैः, अहरहः= प्रत्यहम् जीवनमायुः संक्षीयते=नश्यति, च पुनः बहुकार्यभार-निकरैः=अनेककार्यसंकुलैर्व्यापारैः कालो न ज्ञायते=कियान् कालो यात इत्यपि नो वेत्ति, लोकानां जन्म जरां विपत्तिं मरणं च पश्यतां त्रासो भीतिर्नोत्पद्यते, अतोऽनुमीयते-यदिदं जगत् मोहमयीं=मोहात्मिकां प्रमादमदिरां प्रमत्तकरीमदिरां पीत्वा=निपीय उन्मत्तभूतमभूत्। अत ऐहिकामुष्मिकनानाविधां विडम्बनां पश्यन्तः शृण्वन्तश्च लोका धर्म एव न प्रवर्त्तन्ते।

अत एव कयवन्ना शीलशालिनीं नवोढां निजकामिनीमपि विस्मृत्य वेश्याया एव किङ्करीभूय तद्रागपाशेन बद्धः पशुरि-वैकपदमपि गन्तुं नाऽशक्नोत्। यश्चासीत्प्रथमो विलासी सोऽपि वेश्यारागपाशे श्रेष्ठिनः सुतं गाढमाबद्ध्य श्रेष्ठिनः पार्श्वात्तुष्टिदानं गृहीत्वा कृतकृत्यो जातः। यस्यां वेश्यायां कयवन्ना सानुरागो जज्ञे, सा देवदत्ता इति नाम्ना प्रसिद्धाऽऽसीत्। इयं खलु

नृत्यादिकुशला भूत्वापि सदाचारिण्येवाभूत्। पुरुषान्तरं नाऽभजत, केवलं कयवन्नाभिधमेव। अनया सह रममाणस्यामुष्याऽपेक्षितानि द्रव्याणि माता वसुमती प्रेषयति स्म। इत्थं तया सत्रा रममाणस्य कयवन्नाकस्य रात्रिन्दिवस्यापि भानं नाऽभूत्।

अथैकदा तया सार्धमट्टालिकायां सानन्दमासीन आसीत्तदा शारदीचन्द्रिकापि तदनुरागमेधयन्ती किलाऽऽसीत्। अत्रान्तरे कश्चिदनुचरोऽधस्तादवोचत्-स्वामिनि! कश्चिदेकः पुमान् कयवन्नाभिधेन सत्रा मिलितुमागात्, भवत्या आदेशश्चेदुपरिष्टात्प्रेषयेयम्। 'अथाऽऽयातु स पुमान्' इति तयोक्ते समायातं भृत्यं तत्राऽऽनयत्। तदा पुरुषोऽवदत्-भोः! मन्मुखेन तव मातापितरौ यदूचाते तन्निशाम्यताम्-हे वत्स! ते स्वस्त्यस्तु, गृहं त्यक्त्वा तत्र निवसतस्ते द्वादशवर्षाणि गतानि परमद्यावधिगृहागमनाय नेहसे, त्वादृशस्य योग्यतमस्य गरीयसि कुले सम्भूतस्य सत्पुत्रस्यैवं नैव घटते, आवां ते मातापितरौ साम्प्रतं जरया जर्जरीकृतौ स्वः। अत एव त्वां द्रष्टुमत्यन्तमुत्सुकौ स्वः। अतः शीघ्रमायाहि, गृहस्थितमापणीयं च सकलं द्रव्यं सम्भालय। अद्य श्वः परश्वो वाऽऽगमिष्यसीति मनोरथं कुर्वाणावावां द्वादशवर्षाणि व्यत्यैष्व। तत्रानागमने महदेवास्त्यावयोर्दुःखम्, अतस्तूर्णमत्रागत्य सर्वं गृहकृत्यं विलोक्य, आवां सुखिनौ विधेहि च, त्वदन्यः कोऽपि द्रष्टा नैवास्ति धनस्य गृहस्य चेति त्वामाह्वातुमागतोऽस्म्यहम्।

इत्यनुचरेण निगदिते कयवन्नाऽवादीत्-

अरे! किमेवं जल्पसि?, किमत्र निवसतो मे द्वादशवर्षाणि व्यतीतानि?, अहं तु तावतीं रजनीमेव जाने। माता तु प्रेमबाहुल्यान्मामकं विरहं चिरं सोढुं नैव शक्नोति, अतस्तावतीं रात्रिमपि तावन्ति वर्षाणि जानाति। तदा पुनः सन्देशहारी सचकितमाह-श्रेष्ठिन्! 'तव जनन्या द्वादशदिनेषु द्वादशवत्सरस्य

विभ्रमो नास्ति, किन्तु मारपारवश्येन दिवानिशमेतया वार-विलासिन्या ज्ञानविवेकादिमहारत्नमोषिण्या सह रममाणस्त्वमेव द्वादशवर्षाणि गतान्यपि तावन्मात्राणि घस्राणि जानीषे।' इति दूतोदितां गिरमाकर्ण्य श्रेष्ठिसूनुराह-भोः! अस्त्वेवमेव परन्तु त्वमधुना याहि, मम मातापितरौ सप्रणाममेतत्कथय यदागमिष्यति कियद्भिर्दिनैर्वा पुत्रः कामपि चिन्तां भवन्तौ मा कृषाताम्, युवां वीक्षितुमहमप्युत्सुको वर्त्ते, किन्तु सम्प्रति सहसा सुखमेतद्विहाय तत्रागन्तुं मनः खिद्यतेतमाम्। इति कयवन्नोक्तिं लात्वा स दूतो यथागतस्तथा प्रतस्थे, आगत्य च सर्वमुदन्तं तौ व्याजहार।

तत्रावसरे महादुःखं कुर्वन् वृद्धतमो धनदत्तो वसुमतीमाह-प्रिये! पुरा त्वं मदुक्तिं नाजीगणस्तत्फलमधुना पश्य, पुत्रं विलासिनं विधित्सती साम्प्रतं पुत्रादपि निरस्ता जातासि। किमधिकं तन्मुख-मपश्यतोरावयोर्गतेष्वपि द्वादशवत्सरेषु कुसङ्गात्तत्रैव त्रपां विहाय यदर्थं त्वया सर्वमेतदकारि तां वधूमपि विस्मृत्य निवसति। पुत्र-शिक्षायै तथाऽऽचरन्ती भवती वधूश्च सर्वं प्राप्तवती। इत्थं त्रयोऽपि ते ततो निराशाः पश्चात्तापं वितेनिरे। कथं पुनरयं तां विहाय गृहमेष्यतीति विमृशन्तावपि तौ कमप्युपायं नैव लेभाते। ततस्तौ तच्चिन्तयाऽनवरतं खिद्यमानौ जराजीर्णौ नीरक्तकृतौ निरशनौ भवन्तौ पुत्रशोकादेव मृत्युं निन्याते।

तदनन्तरमेकाकिनी *जयश्रीः* सततं महादुःखं भुञ्जानाऽऽसीत्। इतश्चापणीयकोशात्ते कार्यकर्त्तारो यथाभागं सर्वमात्मसाच्चक्रिरे, यदासीत्सदने तदपि जयश्रीः पत्युरादेशेन तत्रैव वेश्यालये प्रेषितवती। इत्थं नष्टार्था सा जयश्रीरात्मोदरपूर्त्तिमपि विधातुं दुःखमपश्यत्। तदोपायान्तरमलभमाना तर्कुणा तन्तूनुत्पाद्य कालं गमयामास। हन्त! कीदृशं दुर्दैवविलसितमभूत्, येन सुखलिप्स-याऽनुष्ठितः सकलोऽपि तस्याः प्रयासः कष्टायैव यातः। दैवे

प्रातिकूल्यमुपगते महतामपीदृश्येव दुःस्थितिर्जायते, *'यस्मादमी जीवाः सुखदुःखे भाग्यानुसारादेव लभन्ते, यदा यदा पतति तदा तदावश्यं भोक्तव्यमेव सर्वैरपि।'*

अथैवं स्वीयां दुःस्थितिं विचारयन्ती *जयश्रीः* शोकसागरे ममज्ज। यदिदानीं मया किमनुष्ठेयम्, कथं वा धर्माऽविरोधेन जीवनं निर्वाह्यमित्यादि बहुधा विचिन्तयन्ती प्रान्ते सा किलेदृशीं युक्तिं सस्मार-यदियं सारिका पक्षिणी पत्या चिरं प्रतिपालिता सुपाठिता नरभाषाभाषिणी गृहे तिष्ठति, एनामेव सन्देशहरीं विधाय तदन्तिके प्रेषयेयं चेदिष्टं सेत्स्यतीति मन्ये। इति निश्चित्य तदन्तिकमागत्य मेनां शिक्षितुं लग्ना-अयि प्रियसारिके! बहुदिवसादस्मिन् सद्मनि बालेव सुचिरं मम भर्त्रा प्रतिपालिता तिष्ठसि, सति च तस्मिन् बहून् भोगानभुङ्क्थाः, अत इदानीं तत्प्रतिकारं विधेहि, मम तव च पालयिता सम्प्रति वेश्यासदने वर्त्तते, तत्र गच्छ, मदुक्तं यथावत्तं ब्रूहि-'हे नाथ! या ते सहचरी जयश्रीर्वर्त्तते, सा खलु द्वादशवर्षैस्तव वियोगाग्निना दन्दह्यते, तद्दिनादद्यपर्यन्तं त्वामपश्यन्ती निद्रां शृङ्गारं शरीरशुश्रूषणं च त्यक्तवती, किमधिकं वदामि तस्या दुःस्थितिं रसनापि नो वक्तुमुत्तिष्ठति, मन्मुखेन त्वामेवं निगदति स्म। यत् - त्वं खलु मदर्थं हंसो भूत्वापि कथङ्कारं काकतामयासीः। नूनमहं स्वर्णधिया त्वामुपेयुषी, परन्तु प्रान्ते पित्तलमेव खल्वभूः। प्राणेश! मदीयेदृशकर्कशया गिरा कोपं मा गाः किन्तु मन्तुमेनं क्षमित्वा त्वदेकशरणामनाथामनन्यगतिकामव[1], तावकीनदर्शनपीयूषपानकाङ्क्षिणीं मां चिरं यत्खेदयसि किमेतदुचितं मनुषे? भवान् गुणवान् विचारवानस्ति, अतो मे ज्ञानादज्ञानाद् वा यातमपि मन्तुं क्षमेथाः। झटिति निरपराधिनीं चिरविरहिणीं जीविताऽऽशामपि त्यजन्तीं दासीं

1. अव= त्वं रक्ष इत्यर्थः।

मामवलोकयेथाः। बहुकालिकतावकीनविरहानलदन्दह्यमाना भवन्ती साम्प्रतमधीरा कथमपि धैर्यं मनसि मनागपि धर्त्तुं नैव पारये। अनवरतं नयनयुगलसम्भूतप्रभूतवारिणा क्लिन्ना तिष्ठामि, किञ्च महति कुले सम्भूय कुलत्रपायै तिलाञ्जलिं दत्त्वाऽतिनिकृष्टवेश्यागारे निवसनं त्वादृशां श्रुतिशालिनां पुंसां लज्जामेव जनयति, अहं तु मतिविकला काचिदबला तत्रभवतां दास्यस्मि, अत एव किमधिकं जल्पामि। प्रियतमे! मेनके! तूर्णमुड्डीय तत्र याहि, सर्वमेतत्सन्देशं भर्त्तारं यथावत्कथय, इति तां सन्दिश्य गवाक्षे समागत्य तस्थौ जयश्रीः।

तत्रावसरेऽत्यायतं विशालं सदनमालोक्य निर्धनत्वात्प्रेतावासमिव भयङ्करं मन्वाना परितः प्रेक्षमाणा दुःखपूर्णहृदया भृशं सुचिरं रुरोद। तस्मिन्नवसरे कोऽप्याश्वासनकरोऽपि नासीत्, अतश्चिररोदनेन तदीयाञ्चलमपि नितरां चिक्लिद, सातत्येन रोदनात्तदीये नयनेऽप्युच्छूनेऽभूताम्[1]। तत्रैकाकिनीं जयश्रियमधिकं क्रन्दन्तीं पुनः पुनरञ्चलेनाऽश्रुधारामपनयन्तीं वीक्षमाणा मेनापि दुःखातुरा रोदितुमलगत्। अस्या रोदनेन जयश्रीरधिकं खेदमाययौ, अत एव धैर्यमवलम्ब्य तस्या अश्रूणि निजाञ्चलेन पुच्छयामास। तस्मिन्नेवाऽवसरे जयश्रियाः शुभसूचनाय वामाक्षि तीव्रं पुस्फोर। तथा चोक्तम् -

सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे ।
राजीव हेमज्वलनोपमानि, वामानि नेत्राणि परिस्फुरन्ति ॥५॥

व्याख्या -सुग्रीवरामयोः प्रणयस्य=सखित्वस्य प्रसङ्गे=समये सीतायाः कपीन्द्रस्य=वालेः क्षणदाचरस्य=दशाननस्य च राजीव हेमज्वलनोपमानि=कमलकनकदहनाकाराणि वामानि नेत्राणि परिस्फुरन्ति स्म। एतेनायातं यत्स्त्रीणां वामाक्षिस्फुरणं तत्काल-

1. स्फीते।

भाविशुभफलसूचकम्।

दुःखस्यान्तमवगच्छन्ती जयश्रीस्तदोर्ध्वमपश्यत्, अकस्मादेव कश्चित्पुमांस्तत्रागतः प्रैक्षिः। असौ खलु साधारणवेषं विदधत् सव्रीडः सशोको लोचनाभ्यामश्रुधारां मुञ्चन्नासीत्। एनमालोक्य सा मनस्येवं तर्कयति-यदसौ कः केन हेतुना सहसाऽत्राऽऽयातः?, तदा सोऽजल्पत्-अयि प्रेयसि! शङ्कां कामपि मा गाः। स एवाहं दुर्दैवविपाकयोगात्त्वामनुरक्तां सुशीलां विहाय कुसङ्गदोषादजवद् गर्हिताचारी निस्त्रपः कयवन्नाभिधोऽस्मि। अहो! कियाँस्ते मया क्लेशोऽदायि, पुराऽप्येकदापि त्वां सुखिनीमकृत्वाऽद्यावधि दुःखाम्बुधावेव न्यमज्जयम्। निजं सुनिर्मलमपि कुलं कलङ्कयन् स एव निर्लज्जोऽस्मि, कुलजामपि स्वीयां वनितां त्यक्त्वा वेश्यागारे तदनुरागाच्चिरं निवसन्नवश्यमस्म्यहं नराधमः। मातापितरौ च वियोगाग्निना भस्मसात्कुर्वाणो नूनं नरपिशाच एवाऽस्मि। एवमात्मीयकुलाचारधर्माचाराभ्यां जलाञ्जलिं प्रदाय दुर्गतिप्रदायके कुमार्गे प्रवर्तमानः स एवाहमज्ञानान्धोऽस्मि। प्रेयसि! त्वं च मे गृहदेवतेव पूज्यतमा वर्त्तसे, कुलजासि, धर्मवत्यसि; धैर्यं दधानाऽसि, सङ्कटे पतित्वापि नूनमुभयकुलनिर्मलकरी विद्यसे, नूनमहं तावकीनाऽतिसमुज्ज्वलशीलप्रतापात्पुनरागतोऽस्मीति जाने। तवेदृशप्रेम्णः परिपूर्णतैव बलादाकृष्य मामत्राऽऽनीतवती। देवि! यदपराद्धं मया तत्क्षमस्व इति भर्त्तुः कथितेन सखेदानुनयवचनेन व्रीडया क्षणं नम्रानना जयश्रीः पतिं किमपि वक्तुं नाऽचीकमत, किन्तु कृताञ्जलिः सती भर्त्तारमेवमवादीत्-

स्वामिन्! अद्यापि किमपि नो गतम्, सकलं पुनरुक्तं भवितुमर्हति तत्सत्यं जानीहि। इयता विशेषणेन मां गुर्वीं मा कार्षीः, यदहं तादृशोक्त्या व्रीडामेव बिभर्मि। अहं ते दास्यस्मि, अतस्तदुचितवचसैव मां भाषेथाः। यच्चाद्यावधि मया दुःखमभोजि

तत्रापि लेशतोऽपि तत्रभवतां दोषो न दीयते, किन्तु पुराकृतनिज-कर्मणामेव। अतः क्षमाप्रार्थनमपि तव नैव घटते। दैवादागतोऽ-स्यधुना, तेनानुमीयते यदवशिष्यते मद्भाग्यमपि। यद्यप्यधुना तत्रभवतां गेहे दुर्दशा जातास्ति, परमायतौ सर्वं परिपूर्णतामेष्यति तत्र संशयो नो कार्यः। यदावयोरन्तरात्मा विशुद्धः शुभभावकश्च वर्वर्त्ति। इत्थं कृतपश्चात्तापं भर्त्तारं सा जयश्रीराश्वासयामास।

इतश्च सा देवदत्ता वाराङ्गना कयवन्नोपरि भूयसीं प्रीतिं कुर्वाणाऽऽसीत्, तर्हि किमभूत्, येन तामनुरक्तामपि त्यक्तवान् कयवन्नेति? इत्थं जानीत-

यदाऽमुष्य गृहे निःस्वतां नीते तत्प्रेयसी स्तोकमपि धनं तस्यै प्रेषितुं नो शशाक, तदा तं निर्धनं जानाना तदक्का देवदत्तामेवं प्राह-वत्से! एतस्य सदनात्कोऽपि किमपि नैव प्रेषयति, अत एनं रङ्कं जहीहि, सदनाच्च निष्काशय, या खलु त्वादृशी रूपाजीवा विलसति सा जात्वपि निर्धनं नो भजते, किन्तु सधनं दातारमेव। यथा शाखापत्रादिना वियुक्तं वृक्षं चिरमुषिता अपि पक्षिणस्त-त्कालमेव जहति, जलैर्विहीनं सरो वा पथिका उज्झन्ति। वेश्या तु धनलिप्सयैव मुधा प्रेमाणं बहिराविष्कुरुते, न कदाचिद् वास्त-विकम्, यावदेवं धनं प्रभूतं प्रयच्छेत्तावदेव तस्मिन्ननुरागिण्या भवितव्यमित्येव वेश्यानां कुलपद्धतिर्वर्त्तते, निर्धनतामुपगतस्य पुरुषस्य मोहे तु नैव पतितव्यमिति वृद्धोक्तिं सा देवदत्ता साधीयसीं नाऽमंस्त। यस्मादेषा तेन सत्रा यावज्जीवं प्रीतिमकार्षीत्सा खल्वन्यादृशीव धनमात्रकाङ्क्षिणी नाऽसीत्, किन्तु प्रेम्ण एव कामुकी। अत एव सकोपं तामाह-अक्के! यथा भणसि तथाकर्त्तुं नाहं शक्नोमि, मनुष्याणामुत्तमानां चित्तं द्वैविध्यं न धत्ते, किन्त्वेका-कारमेव। येषां मनः प्रतिक्षणं विविधसंयोगवियोगविधित्सया चक्रवत्परिभ्राम्यति, तत्तु न मानवीयं किन्तु पाशवमेव विदाङ्कुरु।

मया तु यावज्जीवं निजमनस्तस्मिन्नेकस्मिन्नेवाऽऽर्पितम्, तत्र वैपरीत्यं कदाप्यहं नैव करिष्यामि। या च तथा चिकीर्षति, साऽधमाधमतामन्धतां च लोके प्रथयतितमाम्। ततोऽहमन्यं दातारं गुणिनं वा नैव कामये। इत्थं कयवन्नां जिहासन्त्या तयाङ्कया सह पौनःपुन्येन सा देवदत्ता कलहायमानाऽऽसीत्।

यदाऽसौ वृद्धोक्तं नैव चक्रे, तदा साऽङ्का तन्निष्काशनोपायं शोचन्ती प्रान्ते चैकस्मिन् दिवसे कयवन्नां परुषमेवमाचचक्षे-'अरे! कीदृशोऽसौ निस्त्रपो मनागप्यस्य शरीरे लज्जा नोदेति। हंहो! मातापित्रोर्मृत्यौ सत्यामप्यसौ स्वगेहमेतुं नेहते ईदृशस्य पशुकल्पस्य जन्मना केवलं क्षितिरेव भाराक्रान्ता बोभवीति।' इति दुःसहां कटूक्तिं समाकर्ण्य तत्कालमेव स्वगेहं प्रत्यचालीत्सः। निर्याते चामुष्मिन् सर्वमेतद्विदित्वा चेखिद्यमाना सा देवदत्ता अङ्कायै भृशं चुकोप।

इतश्चाऽसौ निजप्रेयस्या जयश्रिया साकं यावदालपति तावत्सर्वाऽऽभरणमण्डिता काचिदेकाऽबला तत्रागत्य पुरतस्तस्थौ। अभ्यधाच्च-प्राणेश! शशाङ्कं विना चन्द्रिका चेत्तिष्ठेत्तर्हि त्वां विनाऽहमपि तिष्ठेयम्। त्वं च मां सुखेनाऽत्याक्षीः, अहं तु भवन्तं प्राणनाथं नैव त्यजामि, यावज्जीवं तत्रभवतो दासीभूयैव तिष्ठासामि, अभ्यर्थये चैतदेव यत्पुनरग्रेऽप्येवं मा त्याक्षीः।

अये सुज्ञाः! सा देवदत्ता अङ्कया सह कलहं विधाय कयवन्नां प्रेयांसमपश्यन्ती तदालयं वनमिव दुःखदमवगच्छन्ती सारभूतान्याभरणानि महार्हाणि वसनानि च लात्वा कयवन्नासदनमागात्। तत्रागत्य कुड्मलीकृत्य च पाणी निधाय च तदग्रे तान्याभरणानि न्यगादीदेवम्-जीवितेश! एतानि पुरा त्वयैव दत्तानि, अग्रेऽपि सह देहेन चैषां स्वामी त्वमेवाऽसि, अत एतानि विक्रीय गृहव्यवस्था विधीयताम्। इत्याश्चर्यमालोकमाना जयश्रीर्यावच्चकिताऽभवत्ताव-

त्तामपि देवदत्ता सादरं ज्यायसीं भगिनीमिव प्रणनाम, मधुरया गिरा व्याजहार च, तत्रावसरे उभे ते सोदरे भगिन्याविव मिथः काञ्चिदगदनीयामेव प्रीतिं प्रापतुः, सापत्न्यं च विहाय मनसीर्ष्यालवमपि नानीय द्वे अपि नितरां मुमुदाते। तदा तयोः प्रमोदसागरः सीमानमौज्झत्, ते च प्रमुदिते विलोकमानः कयवन्नाऽपि नितरां तुतोष, प्रेममूर्तिभ्यामाभ्यां सह सुखमनुभवन् समयं व्यत्येतुमलगत्।

अथैकदा कयवन्ना देवदत्ताऽऽनीताऽऽभरणं क्वचिदापणे विक्रीय तदर्धं पत्नीद्वयनिर्वाहायाऽतिष्ठिपत्, अर्धेन च व्यापर्त्तुमैषीत्। अथैकस्मिन् दिवसे कस्यचिदेकस्य [1]सांयात्रिकस्य पोतो जिगमिषुरस्तीति श्रुत्वा तस्मिन्नेवोपविश्य व्यापारविधित्सया देशान्तरं यियासुरभवत्, अत एव गृहव्यवस्थां विधाय द्वे अपि पत्न्यौ समाहूय वक्तुमारेभे-अयि देव्यौ! सम्प्रति धनोपार्जनाय देशान्तरं जिगमिषामि, अतो युवां तावन्मामकं वियोगं सुखेन सहेथाम्, निजाचारपालनतत्पराभ्यां भवतीभ्यामवसरे धर्मोऽप्याराधनीयः, यथावकाशं सामाजिकाः स्त्रिय एकत्रीकृत्य स्वीयसद्विचारः प्रवर्त्तनीयः। प्रेयस्यौ! त्वादृशकलाकुशलचतुरतरललनाः किमन्यत्कथयामि?

इत्थं स्त्रीद्वयमाभाष्य सायङ्काले स गेहाच्चचाल। तत्रावसरे स्त्रीभ्यां भणितः - प्राणनाथ! 'याहि' इति निगदितुं जिह्वा कथमपि नोत्तिष्ठति, परमेतर्हि माङ्गलिकेऽवसरेऽपशकुनं मा भूदिति तदपि सुखेनैव जल्पावः-इदानीमानन्दजातमपि नयनजलममङ्गलमिति भिया तदपि नैव मुञ्चावः। केवलमेष एवाऽऽन्तरहर्षोद्गारो विलसति, यद् भवान् कुशलीभवन् निजेष्टसिद्धिं विधाय तूर्णमत्रागत्यावामाह्लादयतु, शासनदेवताश्च ते पन्थानं सुखमयं कुर्वन्तु विघ्नांश्च निघ्नन्तु, देशान्तरे च सदैव सावधानेन त्वया स्थातव्यम्, मनागपि

1. जलपोतद्वारा व्यापार करनेवाला।

अस्मदर्थमुन्मना मा भूः, गृहाद्यर्थमपि चिन्ता नो कार्या, आवां जात्वपि मा विस्मार्षीः। जाने तदेतत्साक्षाल्लक्ष्मीसरस्वत्योराशिषमिव मन्वानः कञ्चनाऽननुभूतमेवानन्दमियाय, अत एव प्रमुदितोऽसौ कयवन्ना तदानन्दकल्लोलितस्ततः प्रययौ।

पोतश्च प्रभाते यास्यति निशायां क्वचित्स्थित्वा विश्रान्तिः कार्येति धिया नगराद् बहिरेकत्र देवालये प्राविशत्। तत्र चैको भग्नप्रायो मञ्चको जीर्णतरा कन्था च प्रैक्षि, ततस्तामेव कन्थां मञ्चकोपरि संस्थाप्य सुष्वाप।

अथाऽसौ सुखसुप्तः स्वप्ने गृहलीलां व्यापारं चालोकमान आसीत्। अथार्धरात्रे परितस्तस्मिन्निचये प्रसृते सकलेषु मनुष्येषु निद्रादेव्या उत्सङ्गे प्रसुप्तेषु विलुप्तलोकारवेऽतिभीतिप्रदे मध्यरात्रि-समये किञ्चिद्दूरे समागच्छन्तीः पञ्चस्त्रियः प्रेक्षाञ्चक्रे, तत्रैका करे दीपं दधानाऽऽसीत्। इतस्ततः प्रेक्षमाणास्ताः कान्ताः पञ्चापि तन्मन्दिरान्तिकं समाययुः, तास्वेका वयोवृद्धा चतस्रश्च तारुण्य-परिपूर्णा आसन्। वृद्धा च धृतपाणिदीपा तत्र देवालये समागत्य मञ्चकोपरि सुप्तमेकं पुरुषमद्राक्षीत्, आकृत्या च तं पुमांसं कुलिनं भव्यं चाऽबुध्यत। तदनु सा वृद्धा ताश्चतस्रोऽपि तरुणीराकार्याऽऽ-ज्ञापयाञ्चकार-अये तरुण्यः! अद्य भगवान् प्रससाद, सिद्धश्च मे मनोरथः, यूयं तूर्णं सखट्वमेनं पुरुषं सुखसुप्तमुत्पाट्य स्वीयं सदनं नयत, विलम्बं मा कृषत (कुरुत), इति वृद्धोक्तिमाकर्ण्य तत्कालमेव तास्तथा विदधिरे, सा वृद्धा च दीपेन मार्गं दर्शयन्त्यग्रे चचाल। ताश्च तां खट्वां मनागप्यकम्पयन्त्यो मौनमेव भजन्त्यस्ता-मनुजग्मुः। वृद्धाया भीत्या द्रुतमेव तास्तं मञ्चकं सपुरुषं स्वसदनं निन्यिरे।

भो भव्याः! ता युवत्यः का आसन्? इति निवेदनमन्तरा वः कथास्वादो नोदेष्यतीति मत्वा तासां परिचयो दीयते-इमाः खलु तस्या वृद्धायाः पुत्रस्य पत्न्य आसन्। तस्यामेव रजन्यां द्वित्रिघट्याः

प्रागेव तस्या एकस्तरुणो निरपत्यश्च पुत्रः सरीसृपेण दष्टो ममार। गृहे च तस्याः समृद्धिर्महीयसी ववृते। तदानीन्तनराजभीत्या[1] मृते च निरपत्ये सुते सर्वं धनं राजाऽऽत्मसात् करिष्यति, लुण्टाको वा सर्वमेतदपहरिष्यतीति भिया सा वृद्धा किलैवं प्रायतत। सा खलु स्त्रीजातीया भूत्वापि निजौजसा मत्या चैकवारं महौजसमपि पुंमांसं जयन्ती समासीत्। पुत्रवधूष्वपि निजप्रतापं तथा पातयामास यथा तदादेशमन्तरा पदमेकमपि चलितुं न शेकुस्ताः, तस्याः पुरस्तात् किमपि वक्तुमपि ता नैव प्रभवन्ति स्म, अस्या आदेशादेव ता इदमप्याचेरुः। अस्या मार्जारनयनमिव नयनं, राक्षसीसममाननं विलोक्यैव ता युवत्यो नितरां बिभ्यति स्म, अत एव दास्य इव तास्तदादेशमशेषमकार्यमपि कृतवत्यः। ततः प्रभाते जाते भानौ निजैः कनकतुलितैः करैरशेषां क्षितिं स्वर्णाभां वितन्वाने कयवन्ना जजागर। तदा दृशमुन्नीय चतुर्दिक्षु पातयन्नैकस्मिन्नतिभासुरे मनोहरे दिव्यागारे स्वं सुखासीनमपश्यत्, पर्यङ्काऽधस्तादुपविष्टाश्चतस्रो युवतीरनिमेषं स्वमेव प्रेक्षमाणा अदर्शत्। यतो हि सा वृद्धा तेन सहालापादि कर्त्तुं ता आदिष्टवती। एकमपूर्वं देवविमानोपमं भवनं, द्वितीयां तत्राऽद्भुतविधायिचित्रादिशोभां च विलोक्य विलोक्याऽसौ चकितो जातः। तदा दध्यौ किमयं स्वप्नः सत्यं, असत्यम् वा? अर्थादहं जागर्मि?, निद्रामि वा?, पुरा कदापि या नालोकितास्तास्तरुण्य एताः काः? भवनं चादः कस्य?, इयती सम्पत्तिः, एताः कान्ततमा मनोरमा विमानकल्पं भवनं च मम नैवासीदित्येवं यावद्विमर्शं करोति तावत्तत्रागत्य सा वृद्धा जगाद- वत्स! अद्य ते जागरितुमियान् प्रमादः कथं जातः? प्रत्यहं सूर्योदयात् प्रागेव किलोत्थाय प्राभातिकं कर्म कुर्वन्नासीः, कथमेतास्ते कान्ता अपि कामविलासायासशिथिलास्त्वां न जागरयाञ्चक्रुः?, पुत्र!

1. उस समय के राज नियम के भय से।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, आह्निकं कर्माशु विधेहि?

इत्थं वृद्धायाः प्रपञ्चकल्पना तु कयवन्नामनःप्रोद्भूताश्चर्यो-दधिमुच्छालितवत्येव, अत एव स गम्भीरविचारे पपात यदहं सदनस्यास्य न प्रभुः। निगदति चेयं वृद्धा मां पुत्रम्, परमेतज्ज्ञात्वपि नैव घटते। कथमेतां रम्भोपमां स्त्रीचतुष्टयीं स्वीयां मंस्ये, मम तूभे पन्त्यावेव स्तः। ते अपि ताभ्यो भिन्ने एव। कथमीदृशो व्यत्यासः सहसैवाऽजनि?, किमहं स एव कयवन्नाख्योऽस्मि, अन्यो वेति संशये समुदिते कतिपयात्मीयविनिर्णीतलक्षण-दर्शनान्निश्चीयते-यत्स एवाऽस्मीति, परन्तु किमर्थं केन वेदृशमहा-द्भुता मायारचनाऽकारीति नो ज्ञायते, सुषुप्तौ खलु तादृशस्वप्ना-वलोकनाद्भविष्यतः कल्पनां कुर्यां चेत्तदपि नो घटते। यतः स्वप्नो हि निद्राणस्यैव संभाव्यते, अहमधुना प्रबुद्धोऽस्मि भ्रान्तिर्वाऽज्ञाने जायते। नाहमज्ञानी, इत्थं नानाविधकल्पनया यत्समाधेयं तदबोधि कयवन्नाख्यः।

इतश्च ताश्चतस्रो युवतयो रहसि गत्वा किमपि मन्त्रणां मिथः कर्तुं लग्नाः। तासु *प्रथमा* जगाद-'भगिन्यः! एषा रण्डा सर्वा अपि नः स्वसदृशीरेव विधित्सति किम्?, कथमानीतमेनं पुरुषं पतिं कर्त्तुमर्हामः? *द्वितीया* न्यगादीत्'-अरे! एवं जातुचिदपि न भवितुमर्हति, किमेकस्मिन् भवे भवद्वयेन भवितव्यम्, कुलजानां ललनानां तु कदाऽप्येवं नो युज्यते, याश्च नीचकुले जायन्ते तासा-मेवैवं घटते, वयं तु सत्कुले समुत्पेदिमहे तर्हि येन केनापि पुंसा सत्रा पतिसम्बन्धं कथं कुर्मः, *तृतीया* जल्पितवती-'सख्यः! सर्वमेतत्सत्यमस्ति परमेषा रण्डा यद्वक्ष्यति तदेव सर्वासां करणीयं भविष्यति, तद्विरुद्धं त्वेकपदमपि चलितुं नैव प्रभवामः। न वा तस्या अग्रे किञ्चिदपि वक्तुं शक्तिं बिभराम [बिभृमः]।' *चतुर्थी* जगाद-'वयस्यः! एषा नरपिशाची त्वस्माकं हृदयमपि कृन्तेत्तदापि

तदग्रे किमपि कर्त्तुं न पारयामः।'

इत्थमालपन्तीषु तासु सा वृद्धा तत्रागतवती, तामालोक्य ता मौनं भेजिरे। परमेषा तासां मुखादिचेष्टया ज्ञातवती, यदेताः किमपि परामृशन्तीति तेन प्रचण्डतां वितन्वती सा ता इत्याख्यतम्- अत्र मिलित्वा किं वण्टयथः! सत्यं जानीत यन्मत्परोक्षे भवतीभिः कृतोऽपि विमर्शः कदापि नैव फलिष्यति, यदनुष्ठेयम्, तन्मत्समक्ष एव मन्त्रयत। मदाज्ञामृते भवतीभिरेकपदमपि गन्तुं नैव शक्यते। अद्यावधि ममेव वस्तावन्ति वर्षाणि नैव जातानि, अत एव व्यावहारिकं कौशल्यं भवतीनामिदानीं कथमुदीयात्? अद्य यद्ययं पन्था मम न स्फुरेत्तर्हि श्वर्भोक्तुमपि वः काठिन्यमेव जायेत, सकलं धनभवनादिकं राजसादेव स्यात्, अत एव मया यदकारि तद्विमृश्यैव, तत्र लेशतोऽपि मा संशयीध्वम्, न वा शिरांसि धुनत, किन्तु मामकीमायतौ श्रेयस्करीं शिक्षां सहर्षमुरीकृत्य यूयमानीते योग्यतमपुरुषेऽस्मिन् भर्तृधियं कुरुत, अमुं बह्वीमति-गाढप्रीतिं दर्शयत। अहमपि पुत्रस्नेहमेव वितनिष्यामि, यथाऽयमाशु भवतीनां चिरतरबहुतरपरिचयेन गाढप्रेम्णा निजमतीतं सर्वमेव विस्मरिष्यति, परकीये सदने वर्त्ते, विजातीये वा निवसामीत्यादि-कल्पना सकलापि मानसे कदापि नोदेष्यति। यत्र गृहे पुराऽऽसं तदिदं नास्ति, एते मदीयकुटुम्बवर्गादन्ये सन्तीत्यादि सर्वापि भावना यथा स्वप्नवद् भासेत, तथा भवतीभिर्विधातव्यम्। एष एव ममोपदेशः परिणामहितकरः सर्वाभिरवश्यमेव ग्राह्यः, नो चेदायतौ महती हानिर्बोभविष्यतीति तथ्यं जानीत।

इत्थं श्वश्रूवचसा ताश्चतस्रो युवतयस्तद्भीत्या नवनीतमिव मार्दवं नीताः शनैः शनैः प्रवृद्धपरिचयरागोदयादिना कयवन्नाख्ये तस्मिन् पुरुषे दाम्पत्यभावं वितेनिरे। ततो भवितव्ययोगप्राबल्यादसौ पुमान् परिपूर्णतारुण्यलावण्याम्बुवापिकाभिस्ताभिश्चतसृभिः सार्धं

भोगं भुञ्जानो द्वादशमुहूर्तवद् द्वादशवर्षाणि व्यत्यैष्ट, जज्ञिरे च तासु तस्य चत्वारः पुत्राः, एषु चैधित्वा लेखनवाचनादौ पाटवमुपगतेषु सा वृद्धा मनस्यशोचत्-यन्मे सत्सु चतुर्षु योग्येषु पौत्रेषु कथमपि मामकं धनभवनादिकमवनीजानिर्लातुं नार्हत्यतः पुमानयं गृहाद्बहिरेव कर्त्तव्यः, इत्यवधार्य ता आख्यत्-

वध्वः! यदर्थमयमानीतस्तत्त्वसेधीत्, सम्प्रति यातेषु भवतीनां पुत्रेषु पुंसोऽस्यापेक्षणं नैवास्तीति हेतोर्यतः स्थानाद्यथाऽर्कवर्षात्प्रागयमानीतस्तथैव तस्मिन्नेव स्थानेऽसौ मोक्तव्यः। तदा ता ऊचिरे-अये श्वश्रुः! किमेवमघटितं भाषसे? यं निजगृहमानीय पतिं मन्यमाना वयं पुत्रवत्योऽभूम, धनसदनयो रक्षां च कृतवत्यः, येन सत्राऽर्कमितानि वत्सराणि पत्येव निस्त्रपाः सुखमन्वभूम, तमिदानीमधमा इव कथं त्यजामः?, इत्थं ताभिर्निगदिते सा वृद्धा महाकोपाटोपं दर्शयन्ती जगाद-अरे! किमेवं भवत्य एव ममापि श्वश्रूवोऽभूवन्? यद्येनं चिरमत्र स्थापयिष्यथ, तर्हि नूनमयमेव सकलधनभवनादेर्नायको भविष्यति, अतस्तूर्णमेवाऽसौ निष्कासनीयः सदनादस्मात्तथा करणे मनागप्यालस्यं मा विधत्त। किन्त्वस्यां रजन्यामेवैतद् विदधीध्वम्। ततस्तास्तथैव करिष्याम इति तामाभाष्य गुप्त्या चान्तः क्षिप्तमहार्हरत्नाँश्चतुरो मोदकान्निर्माय ताँश्च तदुत्तरीये बध्वा निशीथे गाढनिद्रायां मग्नमेनं तस्यामेव खट्वायामारोप्य तामुत्थाप्य तस्मिन्नेव देवालये गत्वा मुमुचुः।

उषसि देवालये सञ्जातघण्टारवश्रवणात्कयवन्नोऽजागरीत्तमाम्, तूर्णमुत्थाय तत्राऽऽसीनः परितो विलोकमानस्तस्यामेव खट्वायामतिमलिनजीर्णकन्थायां पतितं स्वमपश्यत्। तत्रावसरे दध्यौ-किमयं स्वप्नस्तथ्योऽतथ्यो वा? यदिदानीं ता मे चतस्रः प्रेयस्यो न दृश्यन्ते, न वा ते चत्वारः शिशवः प्रेक्ष्यन्ते? प्रागहं सांयात्रिकेन सार्धं देशान्तरे व्यापर्त्तुं रात्रौ गृहान्निर्गत्यात्रैवाऽस्वाप्सम्,

तदपि नालीकं, किन्तु तथ्यमेव, तर्हि यदभून्मे मनोरमाचतुष्टयी-सुखानुभूतिः पुत्रैश्चतुर्भिः सह चिरमाह्लादस्तदेतत्स्वप्नोपममेव मन्येत किम्? नहि नहि स्वप्नावलोकितं जाग्रत्कोऽपि नो वीक्षते, मया तु जाग्रतापि ताः कान्ताः पुत्राश्च चिरं लालिताः, तर्हि भ्रान्तिर्वा कथं मन्येत? इत्थमुत्कटकोटिकया कल्पनया भ्रान्तोऽसौ कयवन्ना-स्तद्देवालयार्चकेनोपलक्षितः स्वसदनमानीतः। तत्रागत्य सदनान्तः प्राविशन्नेकं द्वादशवर्षीयं डिम्भमद्राक्षीत्।

वाचकाः! कोऽयं शिशुरिति युष्माभिर्नावेदि। अतो वेदयामि-यदाऽसौ कयवन्ना विदेशमगमत्तदा जयश्रीरन्तर्वत्नी किलाऽऽसीत्, सैव काले पुत्रं प्रासोष्ट, स एवाद्य द्वादशवार्षिको जातः। समायातं कान्तमालोक्य प्रमुदिते ते द्वे पत्न्यौ तदभिमुखमागत्य सत्कृतवत्यौ। तत्रावसरे महताऽऽनन्देन निजानुभूतमत्यद्भुतमुदन्तं पत्न्यग्रे वक्तुं प्रववृते सः। तावच्छालां यियासुः शिशुर्भोजनमयाचत, तदाऽसौ ग्रन्थिमुन्मुच्यैकं मोदकं तस्मा अदात्। तं नीत्वा शिशुर्लेखनशाला-मायय्यौ, याते च मध्याह्नावकाशे द्वितीयेन छात्रेण साकमेकत्रोपविश्य मोदकमभनक्, तन्मध्यादेकममूल्यं महारत्नमुच्छल्य किञ्चिद्दूरेऽप-सत्। अतिभासुरं तद्रत्नं गृहीत्वा कोऽपि कान्दविकशिशुः पलायञ्चक्रे, तदनुपदं स्वकीयं तदादातुं कयवन्नात्मजोऽपि दधाव। कियद्दूरं गत्वा स शिशुः स्वापणे प्राविशत्तदा तत्रापणेऽसौ रोरुद्यमानोऽति-ष्ठत्, कुतश्चिदागतः कान्दविकस्तत्कारणं विदित्वा निजपुत्रस्य पाणौ बहुमूल्यकमलभ्यं रत्नमालोक्य तल्लात्वा गुप्तस्थाने न्यस्य रुदन्तं तं बालकं प्रचुरमिष्टान्नदानेन प्रासीसदत्। इतश्च मध्याह्न-वेलायां पत्नीभ्यां सहितः कयवन्ना चिखादयिषया मोदकाँस्तान-भांक्षीत्तदा तन्मध्ये रत्नत्रयीं बहुमूल्यकामपश्यत्। तदनु तानि रत्नानि विक्रीय नानाविधान्महतो व्यापारान् प्रकुर्वन् बहूनि द्रव्याण्यर्जयन्नत्यल्पेनैव दिनेन महेभ्यपदवीमियाय। अथैवं सकल-

र्द्धिकस्ताभ्यां सुशीलाभ्यां पत्नीभ्यां परमं सुखमनुभवन् सुखेन कालं व्यत्येतुं लग्नः।

अथान्यदा राज्ञः श्रेणिकस्य प्रेयान् सेचनकनामा द्विपेन्द्रः सरसि जलं पिपासिषुरायातः। तत्रान्तः प्रविशन्नेकेन बलीयसा जलजन्तुना गाढमाक्रामि। तदवस्थं तमालोक्य तन्मोचनाय लोकैरनुष्ठिताः सकला अप्युपाया मुधैव जज्ञिरे। ततः खिद्यमानेन नरनाथेन प्रतिचतुष्पथं तत्र नगरे पटहो वादितः-यः कोऽपि सेचनकमेनं गजेन्द्रं ततो मोचयिष्यति, तस्मै बहूनि धनानि निजां पुत्रीं च दास्यामि। तच्छ्रुत्वा स कान्दविको दध्यौ-यन्मया महार्हं रत्नं लब्धं तदस्मिन्नवसरे समुपयुज्येत चेन्मे महानेव लाभो जायेत। इति निश्चित्य तद्रत्नं लात्वा तत्रागत्य तद्रत्नं जले प्राक्षिपत्। तत्प्रभावाद्वारीणि दूरमुपगतानि, तदनु गजपार्श्वे तन्मुमोच। तत्प्रभावात्ततोऽतिदूरं गते नीरे तत्कालमेवैनं मुक्त्वा स जन्तुः पलायत[1]। यतो यादसां बलं पयस्येव तिष्ठति, ततोऽनामयः सेचनकः स्वस्थानमागात्, नरनाथश्च तदुपरि भूरि प्रसीदत्तराम्। परमेतदत्याश्चर्यं प्रेक्ष्य कुशाग्रधीरभयकुमारो व्यमृशत्-'यदीदृशसाधारणकान्दविकौकसि किलेदृशमहार्हरत्नेन जात्वपि नैव सम्भवितव्यम्, [2]धन्वभूमौ कल्पशाखिनेव। किन्त्वमुष्य रत्नस्य केनचिदन्येनैव प्रभुणा भाव्यम्' इत्यवधार्य तमन्विष्यमाणः प्रान्ते तन्नायकः कयवन्नाख्य इत्यबोधि सः। अत एव राजकन्यां तेनैव पर्यणीनयत्, प्रभूतं धनादिकं च ददिवान्। ततोऽसौ सर्वत्र कयवन्नाशाह, इति नाम्नाऽपप्रथत्, मान्यश्च सर्वेषां पौराणामध्यजायत। तदनु रतिमपि लज्जयन्तीभिस्तिसृभिः प्रेयसीभिः सत्रा कयवन्नाशाहः स्वैरं भोगं भुञ्जानः प्रामोमोदीत्तमाम्। ततः प्रभृति प्रधानमन्त्रिणाऽभयकुमारेण साकं गाढं सौहार्दमप्यैधिष्टतमामेतस्य।

1. परा+अ+अय् (१ गण आत्म.)। 2. मरुभूमौ।

अथैकदा कयवन्नाशाहस्य प्राग्भूतानां चतसृणां रमणीनां तावतां पुत्राणां स्मृतिर्जाता, तदवलोकनाय नितरामौत्सुक्यमप्यजायत, परं तदालये तिष्ठन्नपि द्वादशवर्षाणि गृहाद्बहिः कदापि नाऽगात्। तदावासमजानानः सर्वमेतदभयकुमाराय सुहृत्तमाय व्याचख्यौ। तदैनं कुमार एवमवादीत्-सखे! धैर्यमाधेहि किञ्चित्कालमपेक्षस्व, अवश्यमहमचिरादेव त्वां तत्पुत्रकलत्राभ्यां सङ्गमयिष्यामि। यद्यप्येतदतीवदुष्करं जानामि तथापि केनाप्युपायेन तत्साधयिष्याम्येव। तदुक्तम्-

उपायेन हि यत्कुर्यात्तद्व शक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण, कृष्णसर्पो निपातितः ॥१॥

तत्कथा चैवम्-कस्मिंश्चित्तरौ वायसदम्पती निवसतः। तयोश्चापत्यानि तरुकोटरावस्थितकृष्णसर्पेण खादितानि। ततः पुनर्गर्भवती वायसी ब्रूते-स्वामिन्, त्यज्यतामयं तरुः। अत्र यावत् कृष्णसर्पस्तावदावयोः सन्ततिः कदाचिदपि न भविष्यति। वायसो ब्रूते-प्रिये! न भेतव्यम्। वारं वारं मयैतस्य महापराधः सोढः, इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः। वायस्याह-कथमनेन बलवता सार्द्धं भवान् विग्रहितुं समर्थः? वायसो ब्रूते-अलमनया चिन्तया। वायसी ब्रूते-तर्हि यद् कर्त्तव्यं तद् ब्रूहि। वायसोऽवदत्-प्रिये! अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः सततमागत्य स्नाति, स्नानसमये तदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्चवा धृत्वाऽऽनीयास्मिन् कोटरे धारयिष्यामि। अथ कदाचित्कनकसूत्रं दृषदि संस्थाप्य स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम्। अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृतैः राजपुरुषैस्तत्र कोटरे दृश्यमानः कृष्णसर्पो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि, उपायेन हि यत्कुर्यादित्यादि।

तदनन्तरमभयकुमार एकं रमणीयतमं भवनं सुसज्जितं

कारयित्वा तन्मध्ये समुचितासने कयवन्नाशाहस्यानुरूपां मनोहरां मूर्त्तिं संस्थाप्य सर्वत्रनगरे पटहं वादितवान्-यदयं चतुर्वदनो महावीरः साक्षाच्चिन्तामणिरिव सकलमनोवाञ्छितं ददाति, अतः सर्वैरेवाऽऽबालवृद्धस्त्रीपुरुषैरत्रागत्य द्रष्टव्यः। तदैकं प्रत्यक्षफल-दातृत्वं तत्रापि राजशासनमिति सकला अपि बालवृद्धस्त्रीपुरुषा-स्तत्रगमागमौ कर्त्तुं लग्नाः। तस्मिन्नवसरे प्रागेवाभयकुमारः कयवन्नाशाहश्च तत्रागत्योपाविशताम्। क्रमिकागतांल्लोकान्प्रेक्षमाणः कयवन्नाशाहः प्रथमं तां वृद्धां, तदनु ताश्चतस्रः कान्ताः ससुताः सम्प्रेक्ष्य समुपलक्षयाम्बभूव, परमेताः किमपि नाऽभाषिष्ट, मौनमेव शिश्राय। ता अपि तां मूर्त्तिमालोक्य किञ्चिद्विहस्यौदास्यमापेदिरे। तत्रैवावसरे ते चत्वारः सूनव आलोक्य समाश्लिष्यन्तः पिताजी पिताजीति जल्पन्तस्तदीयं वसनमाक्रष्टुं प्रारेभिरे। तत्रैकोऽवक्-तात! अद्य किमभवत्, येन न भाषसे न वा हससि?, द्वितीयो जगाद-पितः! पुरा त्वं क्षणमपि निजोत्सङ्गान्मां नो पृथक् कुर्वीथाः, एतावन्ति दिवसानि क्वाऽगाः? तृतीयोऽवदत्, अये पितः! पितामही मां प्रत्यहं भीषयते, तां कथं न वारयसि?, तुरीयोऽवक्-मया विना पुरा जात्वपि नाऽभुङ्क्थास्तर्हि सम्प्रत्येकाकिना त्वया कथं भुज्यते? इत्थं लपन्तस्ते चत्वारः शिशवस्तां मूर्त्तिमुत्थापयितुं लग्नाः। तात! उत्तिष्ठ, निजगृहे चल, अत्रैवमुपवेष्टुं न दास्याम इत्यूचिरे च। एतदाश्चर्यविलोकनेन विस्मितोऽभयकुमारः सत्यमेते शिशवः स्त्रियश्चैताः कयवन्नाशाहस्यैवेति निश्चिकाय। तदनु तां वृद्धां ताः कान्ताश्च पृथगेकत्र भवने लात्वा सकोपं पप्रच्छ-अरे! कस्यैते शिशवः, इमा वनिताश्च कस्येति? तथ्यं ब्रूहि, असत्यं वदिष्यसि चेच्छूलिकां दास्यामि। इति श्रुत्वा सा वृद्धा यथाजातं तत्सर्वं सत्यमवादीत्! ततः स कुमारो धनभवनादिसहिताः ससुतास्ताः कान्ताः कयवन्नाशाहाय दापितवान्, परं कृपालुः

कयवन्नाशाहः 'वृद्धेयं दुःखं माऽधिगच्छत्वितिधिया धनादिकं तस्या एव मुक्तवान्। ततः सप्तरमणीभिः सत्रा सुखमनुभवन् कयवन्ना प्रत्यहं सतां प्रीतिमिव सम्पत्तिमेधयन्नासीत्। यत्र पुण्यमस्ति तत्र सर्वमित्थमेव जाजायते। उक्तं च -

सुकुलजन्म विभूतिरनेकधा, प्रियसमागमसौख्यपरम्परा ।
नृपकुले गुरुता विमलं यशो, भवति धर्मतरोः फलमीदृशम् ॥

व्याख्या - येन पुंसा धर्मतरुरारोप्य प्रावर्धि तस्येदृशं फलं भवति-किलोत्पद्यते। तथाहि-सुकुले जन्म, अनेकधा-बहुप्रकारा विभूतिरैश्वर्यम्, प्रियजनसमागमेन सौख्यपरम्परासातत्येन सुखा-नुभूतिः, नृपकुले-राजसभायां गुरुता-मान्यता, विमलं यशः-कीर्त्तिः, अतो धर्मः सर्वैराराधनीयः।

अथैकदा चरमतीर्थङ्करः *श्रीमहावीरप्रभुः* सकलं महीतलं पावयन् राजगृहे नगरे समवसृतस्तत्र देवतया समवसरणं विरचितम्। तदैव वनपालो वीरागमनं श्रेणिकक्षितिपतिं व्यजिज्ञपत्। तदाकर्ण्य हर्षातिरेकात्पुलकिततनुरुहो राजा वर्धापनाय पारितोषिकं प्रदाय सहान्तःपुरैः, सानुचरः प्रधानादिवर्गानुगः प्रभोर्वन्दनायै चचाल। तदनुगः पुरवासी नरनारीगण आबालवृद्धः सप्तप्रेयसीसहितः कयवन्नाशाहश्च प्रमुदाऽचालीत्। तत्रागता नृपादयः क्रमशः प्रभुं त्रिः परिक्रम्य ववन्दिरे, यथोचितस्थाने समुपाविशंश्च। ततो मेघगम्भीरया गिरा धर्मदेशनां प्रारेभे भगवान्-

अये भव्यप्राणिनः! अमुष्मिन् संसारे सर्वमसारमेवास्ति। यदपि पुत्रकलत्रधनपरिवारादि लोकं लोकं देहिनः प्रमोदन्ते, तदपि परिणामे दुःखनिदानमेव वित्त। अत ईदृशे विद्युदाभे जगति भवजलधिपोतप्रायं स्वर्गापवर्गप्रदं धर्ममेव प्रशंसन्ति। अस्मिंल्लोके महासागराकारे ये प्राणिनः पुनः पुनर्भ्राम्यन्तः सुकृतशतैर्महताऽऽ-

यासेनापि दुरापमिदं मानुष्यं निर्धना भूगतं निधिमिव समासाद्य स्वकल्याणं न कुर्वन्ति, नूनं ते जीवाः प्रान्ते पश्चात्तापं लभन्ते। अत एवाऽतिभीषणदहनज्वालावलीढे सद्मनीव शोकमोहजराऽऽधिव्याधिसमाकुलेऽस्मिन् संसारे भव्याशयैः प्राणिभिः क्षणमपि नैव स्थेयम्। तत्र चिन्तामणिरत्नमिवातिदुरापमिदं मनुष्यजनुरित्वा विज्ञैः कदापि नैव प्रमादो विधातव्यः। महता कष्टेन लब्धं कोटिद्रव्यमेकस्याः काकिण्या अर्थे यथा महामूढास्त्यजन्ति तथा कियन्तः प्राणवन्तस्तीर्थेश्वरप्ररूपितं शाश्वतं विशुद्धं नित्यानन्दसुखप्रदमार्हतं धर्मं हित्वा क्षणिकं वैषयिकं सुखं वाञ्छन्ति। येयं विश्वमोहिनी लक्ष्मीः प्रेयसी भाति, सा तु जलधिजलकल्लोललोला दरीदृश्यते, आयुरपि देहिनां कुशाग्रलग्नजलबिन्दुकल्पमस्ति, सौन्दर्यमपि विद्युद्विलाससोदरमेवास्ति, एवमाधिपत्यमपि स्वप्नलीलैव भासते। यच्च-सांसारिकं सुखं तदपि सन्ध्याभ्ररागमिव क्षणभङ्गुरमेव वरीवृत्यते, अतः सर्वैः सर्वप्रपञ्चं विहाय शर्मप्रदो धर्म एव समाराधनीयः।

भगवतोऽमृतमयीं धर्मदेशनां पायं पायं द्वादशपर्षदः प्रमोदं कमप्यगदंनीयमेव लेभिरे, यथाशक्ति भूयांसो भव्या व्रतनियमादिकमपि जगृहुः। देशनान्ते च कयवन्नाशाहः प्रभुमेवमपृच्छत् - स्वामिन्! *मया भवान्तरे किमकारि सुकृतं येनात्र जन्मनि ममेदृशी सम्पदुदभवत्?* तदाऽब्रवीद् भगवान् -

श्रेष्ठिन्! सर्वमेतत्सुपात्रदानस्यैव प्रभावमवेहि। पुरा जन्मनि *शालिग्रामनगरे* कस्यचिदाभीरस्य पुत्र आसीः, पितर्युपरते तव माता रङ्कतामुपगता, एकदा कुत्रचित्पर्वदिवसे सर्वेषामोकसि क्षीरपाको जज्ञे, त्वमपि मातरं पायसं ययाचिषे। यद्यपि निर्धनत्वात्किमपि कर्तुं न शशाक तथापि पुत्रवात्सल्याल्लोकानां पार्श्ववर्त्तिनां

सदनात्तत्सामग्रीं पयःशर्करादिकामानीय संपच्य स्थाल्यां परिवेष्य त्वन्माता कुत्रापि कस्यापि हेतोरगमत्। तत्रावसरे कश्चिन्मुनि र्गोचर्यै तत्रागत्य धर्मलाभं दत्तवान्। तमालोक्य महता हर्षेण तस्मै तत्क्षीरपाकं प्रचुरं प्रदत्तवान्, पयसो बाहुल्याद् द्रुतं तदधिकं तत्पात्रे पपात, तदपि तव मनसि मनागपि खेदो नाऽभूत्, प्रत्युत महान् हर्ष एव जज्ञे। धर्मलाभं प्रदाय गते तस्मिन् समायाता माता तत्पात्रं लिहन्तं पुत्रमवलोक्य मनस्यशोचत्-अरे! मम पुत्रस्य कियती क्षुधाऽऽसीत्, यदेतत्सर्वमश्नात्। तदनु स्तोकेनैव कालेन स्वायुषः क्षये मृत्वा भवेऽस्मिन् धनदत्तश्रेष्ठिनः पुत्रोऽभूः। स त्वं कयवन्ना पुराकृतसुपात्रदानमाहात्म्यादिहाऽपरिमितां श्रियम-लब्धाः।

इत्थं भगवत आस्यादात्मनः पूर्वभववृत्तान्तमाकर्ण्य सञ्जात-वैराग्यपरिपूर्णतमः कृताञ्जलिः कयवन्ना भगवन्तमित्याख्यत्-भगवन्! अहमिदानीं संसारमसारं महाघोरफलदातारं जानामि, अत एतस्माद्यथाऽहं सुखेन तरेयं तथा कृपामानीय तूर्णं विधेहि। प्रभुरपि योग्यं मत्वा संसारकान्तारविच्छेदविधानदक्षाऽभिरूपां दीक्षां दातुमुररीचक्रे। ततः प्रमोदभागसौ प्रभुमभिवन्द्य गृहमागत्य पुत्रेभ्यः सर्वं समर्प्य प्रेयसीसमीपमागत्य जगाद-प्रेयस्यः! अस्मिन् संसारे महानेव क्लेशो दृश्यते, अतोऽहं सकलदुःखक्षायिकां शिवसुखदायिकां दीक्षां लातुमना अस्मि, तदा ता ऊचिरे-स्वामिन्! वयमपि तामेव कामयामहे। इत्थं दीक्षां जिघृक्षुः सप्रेयसीयुक्तः सकलदीनानाथेभ्यो भूरि दानं ददत्कयवन्ना महोत्सवेन वीरप्रभुपार्श्वे दीक्षां ललौ। निरतिचारं संयमं परिपाल्य विविधं दुष्करं तपः समाचरन् प्रभुणा सह विहरन् ध्यानानलेन चितकर्मकाष्ठं भस्मसाद्विधाय कयवन्नाख्यो महामुनिः कैवल्यज्ञानमाप। ततः शिवसुखमन्वभूदिति। अहो! ईदृशाऽद्भुतप्रभावशालिसुपात्रदानं

सर्वेषां श्लाघ्यं नमस्यमिति सर्वैरेव सुखलिप्सुभिर्भव्यैस्तदवश्यं सहर्षं विधेयमेवेति शम्।

बाणाष्टनन्दधरणीमितविक्रमाऽब्दे,
शुक्ले द्वितीयनभसि प्रतिपत्सुरेज्ये[1] ।
ख्यातं चरित्रमनघं परिपूर्णमेतच्चक्रे,
यतीन्द्रविजयः कृतिनां सुखाय ॥१॥

[वि. सं. १९८५ द्वितीय श्रावण शुक्ल प्रतिपदा गुरुवार दिवसे]

1. सुराणामिज्य इति बृहस्पतिः गुरुवासरः।

।। श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छस्वच्छाम्बरविहारि-सुविहितसूरिकुलतिलक-
सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शासनसम्राट्-परमयोगिराज-जङ्गमयुगप्रधान
जगत्पूज्य-गुरुदेव श्री श्री१००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-
चरणारविन्द-सेवाहेवाक-व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-
श्रीमद्यतीन्द्रविजय-निर्मितम् ।।
[श्रीयतीन्द्रसूरीश्वर-निर्मितम्]

गद्यपद्यसंस्कृताऽऽत्मकं

श्री-चम्पकमाला-चरित्रम्

गद्यपद्यसंस्कृताऽऽत्मकं

श्री चम्पकमाला-चरित्रम्

यस्योदारगुणावलीमनुपमां लोकत्रयीव्यापिकां, गायं
गायमकल्मषाः शिवपदं प्रापुः कियन्तः परे ।
तेजःपुञ्जमयं प्रणम्य तदहं भास्वत्प्रभाजित्वरं,
कुर्वे चम्पकमालिकासुचरितं सद्धीमतां प्रीतये ॥१॥

अथादौ शिष्टाचारपरिपालनाय विघ्नविघाताय च निजगुरु-गौरवपदनमस्कारात्मकं मङ्गलमातन्वानः सूचीकटाहन्यायेन प्रारिप्सितकथायाः प्रधानाङ्गत्वेन च प्रथमं शीलमाहात्म्यं वर्णयति-

यद्यपि प्राक्तना विद्वत्तमाः शिष्टाश्चतुर्विधेषु धर्मेषु सर्वजीवोपकारित्वाद् दानस्य प्राधान्यमाचचक्षिरे। तथापि सकलशास्त्रपारदृश्वानो महान्त आसतमास्ततोऽपि दुष्करं शीलमेवोचिरे, ध्रुवममुष्य गरीयसः शीलस्याऽवनायैव नवधा गुप्तीर्निर्ममिरे च ते। वरीवृत्यते च येषामखण्डितमाबाल्याच्छीलमदः समुज्ज्वलम्। बोभूयन्ते च त एव जीवा धन्यवादार्हाः परत्र चामुत्र च। किञ्चादः शीलमेव चारित्र्यवपुषः प्रेयः प्राणमस्ति। प्राणं विना शरीरं यथा न शोभते, तथा शीलं विना सदपि चारित्र्यमकिञ्चित्करमेव जायते। अपि चान्येषां व्रतादीनां भग्नत्वेऽपि पुनः सन्धानं जातुचिज्जायते-तमाम्, एतच्च भग्नतामुपगतं चेत् परिपक्वतां नीतं मृण्मयभाण्डमिव पुनः सन्धातुं केनापि नैव शक्यते। किं चामुष्य शीलस्य सम्यगाराधितस्य लोकोत्तरोऽत्यद्भुतः प्रभावो जगत्त्रये समेषां भव्यानां सुप्रतीत एव जागर्त्ति दिवानिशम्। इत्थममुष्य सच्छीलस्यापि

प्राधान्यं जगत्यामासतमानां मुखादालोकमानोऽप्यहमपि यथामति संक्षिसमुपवर्ण्य सम्प्रति प्रस्तुतां कथां वर्णयामि। तथाहि -

अस्मिन् जम्बूद्वीपे भरतखण्डे लक्ष्मीदेव्या मनोहरागारमिव सकलदेशललामभूतो मालवो नाम जनपदो वरीवर्त्ति। यस्याऽनुपमविभूतिलवलेशोऽपि दिवा नाऽऽलम्भि। भृशमेष स्वीययाऽतुलया धियाऽमरपुरं ह्रेपयमाणो विचकास्ति। अतः स्वर्गादपि गरीयानेष मालवो जनपदः सदैव चाचकीतितमाम्, स्वर्गे यथा विमानानि शोभन्ते, तद्वद् यत्र नगराणि महत्तराणि [1]निलिम्पानामपि चेतोहराणि शोशुभ्यन्ते। किञ्च यत्र नगराणि विशालतराणि सकमलानि शश्वदमलजलपरिपूर्णानि सरांस्यसंख्यानि दरीदृश्यन्ते। लसन्ति च तेषु नगरेषु सकलशास्त्रपारङ्गता [2]विद्याचणाः कर्मठाः सुरा इव भूयांसो [3]भूसुराः। विभ्राजन्ते च तेषु गगनचुम्बीनि ससाष्टभौमानि सौधानि। मदयन्ति च येषु नगरेषु वैमानिका अप्सरस इव सौन्दर्यगर्विताः सच्छीलमण्डिताः सुस्थिरयौवनाः सकलाश्च कान्ताः। ध्रुवमत्र देशे [4]ग्रामटिका अपि देशान्तरीयनगराद् दीर्घतरा एव समुल्लसन्ति विषयग्रामा इव। विषयग्रामे यथा विविधविषयाः सुखार्हा अतिसुन्दराः सन्ति, तथैव यत्र मालवीयपुर्यां कियत्यः कान्ता बालाः सुकोमलाः, कियत्यस्तडिद्गौरवर्णाः सुतारुण्यपरिपूर्णा यूनां मनोहराः सुसज्जिताः सदैव विराजन्ते। किञ्च नानाविधकमनीयाराम-वापी-कूप-तटाकानेकमणिमयजिनेश्वरीयगगनलिहचैत्यैः सुमण्डिता लघुग्रामा अपि विदुषां चेतःसु द्रुततरमाह्लादं जनयितुं पटीयांसः सन्ति, चेत्तत्र महानगराणि सुरनगरतोऽप्यधिकानि स्युस्तत्र किं चित्रम्। किं बहुना, यत्र याताः कवयो मोमुद्यमाना द्यामपि नैव कामयन्ते। तन्मन्ये सुरासुरगणैर्मा-

1. देवानाम्, 2. विद्यया ज्ञाताः, 3. भुवि सुरा इव, 4. तुच्छग्रामाः

मथ्यमानो रत्नाकरस्तद्भीत्यैवाऽन्तर्गतानि सारतराणि रत्नानि पीयूषं च तत्रैव स्थापयाञ्चक्रिवान् [चकृवान्]। तद्देशीयाः पुमांसोऽल्पविद्याभ्यासेनापि प्रकटितकुशाग्रधियस्ते झटित्येव परेङ्गितज्ञाः सन्नीतियुक्तिसूक्तिनिपुणा विद्यन्ते। यत्रोद्भूता लोकाः परस्परमैत्रीभावमेव समाश्रयन्तः सर्वप्राणिषु साधव इव कारुण्यमेव दर्शयन्तितमाम्। उपेक्षन्ते च दुर्जनसङ्गतिम्। सेवन्ते च महीयसां सद्गुरूणां वचांसि। चेक्रियन्ते च सर्वदा निजदेवगुरुभक्तिम्। समुद्धरन्ति चातिदीनजनान् दुःखसन्ततेः। पालयन्ति च शश्वदार्हतं धर्मम्। त्यजन्ति च नितरां सावद्यकर्माणि। आकर्णयन्ति च प्रत्यहं गुरुमुखात्सद्धर्म्यवाक्यानि।

तत्र मालवे भूदेव्याः शिरश्छत्रमिव निःशेषभूजाततापमपाहरन्ती सुरपुरीमपि जयन्ती खलूज्जयिनी नाम महीयसी राजनगरी शोशुभ्यतेतमाम्। यामभितः सुरसरिदिव विविधजन्मजातदुरित-क्षयकरी सकलसुखकरी विमुक्तिनगरी सहचरीव मनोहरा शिप्रा- नाममहानदी समुल्लसतितमाम्। तां परित आनन्दकन्दजनकानि नन्दनवनानि बहून्युपवनानि चेतोहराणि सन्ति। मन्ये स्वस्मादधिकानि तान्यालोक्यैव व्रीडां भूयसीं विदधत्तन्नन्दनं वनं मेरुमशिश्रियदिति। कयाचित्प्रीतिमत्या युवत्या जुष्टः प्रीतिमान् पुमानिव यस्यां प्रमत्तालिकुलसुजुष्टकमलकुलविलसितशीतलाऽगाधजलसंभृताभिः परिखाभिर्दुर्द्धर्षाभिः परेषामभिश्रितः प्राकारो नितरां शोभामाधत्ते। यत्र पुर्यां स्वर्णकलशलक्षितशिखरशोभमानमुच्चैस्तममाकाशलेहिनैकजिनमन्दिरं नवोदितजगच्चक्षुः संस्पृष्टकनकाचलानुकारि भातितमाम्। यस्यां नगर्यां महेभ्यानां प्रासादशिखरोपरिसंस्थापिता कोटीश्वरत्वमनुमापयन्ती समुल्लसन्ती वैजयन्ती परिस्फुरतितमामसंख्याता। दातारोऽपि तत्र नगरे भूयांसो महीयांसश्च याचकगणाय प्रार्थिता-

दप्यधिकं तथा वितरन्तितमां यथा कल्पतरुश्चिन्तामणिर्वा नो दद्यात्। तस्यां नगर्यां निजौजसा महीयसा सहसा वित्रासिताशेष-विपक्षपक्षः समस्तजगतीतलप्रसारिनैदाघभानुकल्पाऽनल्पतेजा रणविक्रमी 'विक्रमादित्यो' नाम क्षितिपति-रन्वर्थनामा धरामेता-मशेषां शास्ति।

असौ किल धीरतया बलबुद्धियोगेन चाऽग्निवेतालनामानं व्यन्तरदेवं वशंवदं व्यधादुपासनया महत्या, सर्वदैव स देवस्तदादेशं सम्पादयति, तत्प्रभावादगम्यदेशेऽप्येष सुखेन गच्छति, अजय्यमपि विद्विषां कुलमनायासेन जयति, दिव्यमपि सुखं मर्त्येऽस्मिन् (लोके) भुङ्क्ते। स किलाजन्मनिर्मलमखण्डितं शीलं परिपालयन्, रिपुकुलं परिभवन्, दीनानुद्धरन्, सेवकान् कुटुम्बांश्च सुखयन्, गुणिजनान् सत्कुर्वन्, कलिकालेऽप्यमुष्मिन् परस्त्रियं भगिनीं जानन् भुवं नयेन शास्ति।

इत्थं विशिष्टस्यास्य भूजानेरान्तरं मिथ्यात्वतमस्तोमं निराकृत्य महाद्भुतप्रभावशाली श्रीमान् सिद्धसेनदिवाकराचार्यः सम्यक्त्व-रूपभानूदयं तदन्तष्करणभवने भावितवान्। अयं हि निज विरचिताऽपूर्वपवित्रस्तोत्रमहिम्ना शिवलिङ्गमध्याच्छ्रीपार्श्वनाथ-प्रभोर्मनोहरं बिम्बं प्रकटयामास। तच्च बिम्बं प्रत्यहं विक्रमार्को राजा समर्चयन् भूयसीं चमत्कृतिं लेभेऽस्यां जगत्याम्। स हि खलु सुवर्णमयपुरुषादुत्पन्नं कृत्स्नं स्वर्णं लोकेभ्यो वितातार। तथा जगज्जीवसदनामिमां पृथ्वीमनृणां विधाय स्वनाम्ना सम्वत्सरं सर्वत्र स्थापयाञ्चकार। किं चायं स्वयं नानाविधां क्लेशपरम्परां सहमानः परेषां दुःखानि साकल्येन दूरीकुर्वञ्झीमूतवाहनादिकथां सत्यापयामास। कलाचार्य इवाऽशेषकलापारदृश्वा भवन्नपि स्वल्पकलाज्ञानवतोऽपि जनानधिकमादरयन्नासीत्। इत्यादि-बहुविधसद्गुणगणगरीयान् श्रीमान् विक्रमादित्यभूजानिः सकल-

शास्त्रवित्तविद्यावज्जनमण्डितायां समग्रगुणगणविभूषितायां सभायां सुखासीनः सुधर्मसभासीनः सुरेश्वर इव विराजतेतमाम्। तस्यां सभायां कियन्तः पण्डिताः कलाविषयिणीमतिदुर्गमां चर्चां कुर्वन्तः क्षितिपतिं सभ्याञ्जनांश्च मोदयन्ति स्म। अपरे विद्वद्वरास्तर्ककर्कसतत्त्वविचारणया समग्रसभ्यान् रञ्जयन्तः शुशुभिरे। एवं शस्त्राऽस्त्रादिविषयिणीमतिविषमां विचारणां शृण्वन् राजोचिवान्- "भो भोः पण्डिताः! यूयं कथयत, यदहं कां विषमां कलां नो विजानामीति?।" ईदृशीं नृपोक्तिमाकर्ण्य मुख्याः सभ्या ऊचिरे। स्वामिन्! याः कलाः सुरगुरुर्दैत्याचार्यो वा नो वेत्ति, ता अपि विषमाः कला भवान् वेद, किं चात्र लोके शस्त्रजाः शास्त्रजास्तथा बुद्धिकल्पिताः सकला अपि कला भवदन्तष्करणे सुखेन निवसन्तितमाम्। इत्याकलय्य कश्चित्पटीयान् सुविद्वान् शिशिरे काले शिरस्यभिषिक्तो नर इव शिरः कम्पयन्नवसरोचितां गिरं जजल्प- राजन्! अमी सकला अपि पण्डिताः सत्यं नैव निगदन्ति, केवलं मधुरालापसंलापेन श्रैमतं मन एव रञ्जयन्ति। यतः -

अवास्तवैर्वास्तवैर्वा, संस्तवैः संस्तवैषिणः ।
ये प्रियोक्तिप्रियान् नाथान्, रञ्जयन्ति जयन्ति ते॥१॥

व्याख्या - सम्यक् स्तोतुमिच्छन्ति स्वामिनमिति यावत्, ईदृशाः स्वामिस्तुतिकर्त्तारो जनाः, प्रियोक्तिप्रियान्=मधुरालापमात्रतुष्टान् नाथान् = स्वामिनः वास्तवैर्यथार्थैः, अवास्तवैरयथार्थैः, संस्तवैः= स्तोत्रैः - प्रशंसनैर्ये रञ्जयन्ति = मोदयन्ति ते जना एव जयन्ति। अतः, जलार्थी चातको नीरदमिवैते धनार्थिनो विद्वांसो मधुरोक्त्या भवन्तं रञ्जयन्ति, तत्त्वं किमपि न विमृशन्ति।

देव! सत्यं पृच्छसि चेदहं वाचालतया तदुत्तरं समुचितं ददामि। यतः-'वाचालं विहाय कोऽप्यन्यः क्षितिपतेरुत्तरं दातुं

नैव शक्नुयात्।' प्रभो! सकला अपि कला भवान् वेत्ति, तत्र नास्ति सन्देहस्तथापि स्त्रीणां चारित्र्यकलायामनभिज्ञतामेव बिभर्षि। यः खलु सर्वेषां तर्कालङ्कारप्रभृतिशास्त्राणामतिगूढार्थमवगच्छति, व्यवहारेषु चाऽसीमं चातुर्यं धत्ते, तेनापि स्त्रीणां मानसीवृत्तिर्जात्वपि नैव ज्ञायते। योऽपि ''विद्वान् पुमान् निजबुद्धिचातुर्या देवानपि वञ्चयति, सोऽपि मनोऽनुकूलं विविधं रममाणया युवत्या लीलयैवाऽवञ्च्यत।'' इदमत्र तात्पर्यम्-विषयक्रीडया महान्तमपि कियन्तं धीरं नरं सादरं वञ्चितवती युवतिः, ताश्च निजविविध-विलासचातुरीकलाकलापेनैन्द्रजालिकवन्महतामपि मनांसि संमोह-यन्ति, धीरानपि किङ्करीभूतान् कुर्वन्ति, तर्हि ये खलु स्वरूपतो मूढाः सन्ति नरास्तेषां कियती शक्तिस्तच्चरित्रमवगन्तुमिति?, ''स्त्रियो हि क्षणादेव पीता सती मदिरेव जनानुन्मादयन्ति।'' यदुक्तम् -

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां,
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥२॥

तथा सति यथा मरुभूमौ जलपूर्णा नदी दुर्लभा विद्यते, तथा तयोन्मत्तीकृतानां पुंसामन्तष्करणे तत्त्वविचारणायाः प्रादुर्भा-वोऽपि दुराप एव संभाव्यते। तस्माद् हे नाथ! गगने समुत्पततां खगानां चरणौ यथा केनापि ज्ञातुं न शक्येते, जलेषु च सञ्चलतां मीनानां चरणपङ्क्तिर्ज्ञातुमशक्यास्ति, तथा स्त्रीचरित्रमपि धीमतापि पुंसा ज्ञातुमशक्यमेव। अतो मया जल्प्यते यद् भवान् कलान्तरेषु विज्ञतमोऽपि स्त्रीचरित्रेऽनभिज्ञतामेव बिभर्त्तितमाम्। अतोऽमी सभ्या भवदग्रे प्रियं रुचिरं वच आलपन्तस्तत्रभवतां मनो रञ्जयन्ति। इत्येतन्निशम्य तद्वचसि श्रद्धालू राजा मनस्येवमचिन्तयत्-यदसौ

पुमानखिलनीतिवाक्यविदामग्रेसरो वर्त्तते, अयं खलु सर्वं तथ्यमाचष्टे, नीतिशास्त्रे यथा भणितं तादृशमेव कथयत्यसावपि। "अपारस्यापि पारावारस्य मतिमन्तः पारं गन्तुमुपायेन शक्नुवन्ति, किन्तु कुलटायाः पारं केऽपि नापुरिति सकला अपि नीतिज्ञा आहुः।" यदीदं तथ्यमस्ति तर्हि मयाऽवश्यमेवैतत्परीक्षणीयम्। यतः लोके खलूत्तमस्य स्वर्णस्यापि परीक्षणं किं नो कुर्वन्ति? परीक्षितान्येव तानि सन्तो गृह्णन्ति। तथा चोक्तम्-

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते,
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषं परीक्ष्येत
श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥३॥

व्याख्या - यथा खलु लोकैः कनकं स्वर्णं चतुर्भिः प्रकारैः परीक्ष्यते=सदसज् ज्ञायते, निघर्षणं = कषोपरिविलेखनं, छेदनं =वेधनं, तापोऽग्निसन्तापनम्, ताडनं = कुट्टनम्, एतैश्चतुर्भिः परीक्ष्य यथा सदसदिति लोका विदन्ति, तथा श्रुतेन शास्त्रेण ज्ञानेन वा, शीलेन = ब्रह्मचर्येण स्वभावेन वा, कुलेन = विशुद्ध-वंशेन, कर्मणाऽऽचारेण च पुरुषं = पुमांसं स्त्रियं वा परीक्ष्येत = तत्परीक्षां कुर्वीत।

तथाऽहमपि परीक्षिष्याम्येवैतदित्यवधार्य स पृथ्वीपतिर्विक्रमार्कः समागतां भोजनवेलामालोक्य सभां विसृज्य मनोहरे स्नानागारे स्नातुमगमत्। तत्र विधिवत्स्नातानुलिप्तो नृपो मन्दिर-मागत्य जिनेश्वरमभ्यर्च्य भोजनालये यथारुचि बुभुजे। पुनः सभामागत्य विद्वद्वृन्देन सत्रा समालपन् दिवसं व्यत्यैत्। इत्थं दिनेऽतीते पत्या चन्द्रमसा सङ्गन्तुमौत्सुक्यवतीं रजनीमभिलक्ष्य गगनलक्ष्मीरपि सन्ध्यारागच्छलेनाङ्गरागमिव नितरामशोभत।

यस्यैकदा खलूदयो जायते तस्यान्यदाऽवश्यमस्तमपि जायत एवेति सूचयन्निव तत्र समये दिवसमणिरपि शनैःशनैरस्ताचलशिर आरुरोह। अस्तमितं दिवानायकमालोक्य तद्वियोगदुःखमसहमाना विहगा अपि परितश्चुक्रुशुः। जगदाह्लादकारिणि भानावस्तं गते चौरवल्लोकापकारी गाढान्धकारः सर्वासु दिक्षु नितरां प्रससार। तदा तत्कालमेव प्रेयांसं सहस्रांशुमस्तमुपेयिवांसमालोक्य तदीय-विरहखिन्नाः कमलिन्यः सुषमोज्झिताः सत्य इव मम्लुः।

अथ सायन्तनीं क्रियामशेषां विधिवद्विधाय विक्रमादित्यो महीजानिरन्तःपुरमागत्य शय्यामलङ्कृतवान्। तत्र वारविलासिनी-गणैरुपचरितोऽपि मनसि सदसि पण्डितोक्तस्त्रीचरित्रगोचरोपायं विमृशन् मनागपि निद्रामलभमानः सोऽचिन्तयत्-यदुक्तं सभायां तेन विपश्चिता स्त्रीचरित्रं ज्ञातुं महतामपि दुष्करमस्तीति तत्कति-विधमस्ति, कथं वा तदहं ज्ञास्यामि? अथवा मादृशां पुंसां तदवलोकनादि नो युज्यते। यतः 'खला एव परेषां छिद्राणि द्रष्टुमीहन्ते, शिष्टास्तु ततो विमुखा एव भवन्ति। तदुक्तम् -

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः ।
शिरसा श्लाघते पूर्वं, परं कण्ठे नियच्छति ॥४॥

व्याख्या - यथा खलु ईश्वरो = महेश्वरः समुद्रमन्थनादुत्थितं चन्द्रमसं शिरस्यधत्त, सकललोकपराभवदायिनं गरलं = विषं तु कण्ठमध्य एवातिष्ठिपत्। बुधः = सज्जनो जनः परेषां गुणदोषौ गृह्णन् = पश्यन् गुणं शिरसा श्लाघते=स्तौति, दोषं तु कण्ठ एव स्थापयते, कदाचिदपि नैवोद्घाटयते।

तथापि तस्य विद्वत्तमस्य तथोक्ति-परीक्षायै मयैतदवश्यं परीक्षणीयम्। यद्यपि तादृशां विशिष्टपुंसां वचस्यलीकता कदापि नो भवितुमर्हति तथाप्यहमेतत्परीक्षिष्ये ''यस्माच्छ्रुतस्य साक्षात्कारे

कृते सति प्रामाण्यं खल्वधिकमुत्पद्यते महतामपि।'' इत्यवधार्य देव इव शक्तिमान् नीलाम्बरं दधान एकाकी तीक्ष्णासिपाणिः स राजा शय्यां विहाय तत्परीक्षायै गुप्त्या नगरे सर्वत्रेतस्ततः पर्यटन् क्वचिदेकत्र क्रीडन्त्यौ, रूपलावण्यादिगुणोत्करे, चतुरतरे, द्वे कन्येऽपश्यत्। तत्रावसरे तयोर्मिथः सम्भाषणादिशुश्रूषया यावद्राजा स्थैर्येणाऽतिष्ठत्, तावत्तयोरेका प्रकृत्या सरला कन्यका प्रोवाच-सखि! यदाहं परिणीता सती श्वशुरालयं गमिष्यामि, तदा सोत्साहेन प्रेयांसमनवरतमसीमया प्रीत्या बाढं सेविष्ये। यतः ''स्त्रीणां पतिसेवनं महाफलं सुखावहं स्वर्गापवर्गजनकमित्युवाच नीतिः।'' किञ्च गृहकृत्यादि यद्यदादेक्ष्यति पतिस्तदशेषं शिरसोपनीय सुखेन करिष्ये, अत्युच्चैर्वृत्तिमतिस्वान्ते च स्थापयिष्यामि सर्वदा। यस्मात्पतिव्रतायाः स्त्रियाः पतिरेव देवो न्यगादि, अतः स्वामिन आज्ञाप्रतिपालनमेव स्त्रीणां साधीयान् धर्मः प्रत्यपादि नीतिशास्त्रे। उक्तं च -

न दानैः शुद्ध्यते नारी, नोपवासशतैरपि ।
अव्रतापि भवेच्छुद्धा, भर्तृह्रद्गतमानसा ॥५॥

अन्धं वा कुब्जकं वाथ, कुष्ठं वा व्याधिपीडितम् ।
जीवितावधि भर्त्तारं, पूजयेत्सा महासती ॥६॥

त्यजेत्पुत्रं च मित्रं च, पितरावपि शोभनौ ।
जीवितावधिभर्त्तारं, न त्यजेत् सा महासती ॥७॥

इत्थं नैतिकवचनमन्त्राक्षरश्रवणप्रणष्टधाष्ट्र्याऽहं स्व-प्राणनाथमाजन्म भजिष्ये खलु। इत्याकर्ण्य शाठ्यप्रकृतिका द्वितीया कन्या न्यगादीदेवम्-सखि! नूनमहमेतत्कथनेन त्वां मुग्धां जानामि, यदेवमभिधत्से, ध्रुवमेषा ते समुक्तिस्त्वयि जाड्यमालस्यं च

व्यनक्ति। याः खलु विवेकादिविकलाः सालसा भवन्ति योषितस्ता एव त्वमिव सतीत्वमुशन्ति। मादृशी दक्षतरा कामिनी तु मनोऽनुकूलमेव कृत्यं संसाधयति। यदाहं विवाहिता पत्युः सदने वत्स्यामि, तदा सकलयुवजनमनोमोहननानाविधहावभावादि-विविधचेष्टया भर्त्तारमेकान्तमासक्तं विदधती स्वीयचातुर्ययोगाद-तिरमणीयतरुणतमपुरुषान्तरैः सत्रापि स्वैरं रंस्ये खलु। यतः-''विविधरसास्वादनमीहमाना भ्रमरी खल्वेकमेव तरुं न जुषते, किन्त्वनेकांस्तरूनेव भजमाना निजेच्छां पिपर्त्ति। तद्वदहमपि विविधविषयरसास्वादचिकीर्षया भूयांसो गुणवतो युवजनान् सेवमाना निजयौवनं साफल्यं नयिष्ये। यतः ''स्त्रियो ह्येकस्मिन्नेव प्रीतिकरणाच्चातुर्यं नो लभन्ते, किन्त्वनेकदक्षानुरागितरुणजनैः साकं मैत्रीकरणादेव स्त्रीचारित्र्यवैचित्र्यमाप्नुवन्ति'' युवतीनामिहोद्-भूतप्रभूतकामाग्निः कथङ्कारमेकेन पुंसा शाम्येत्, नैव शान्तिमेतीति रहस्यम्। वने किल प्रवर्धमानो दावानलो घटमात्रवारिसेकादिव कश्चित्कामशास्त्रपूर्णो बलीयान् पुमानप्येकया कामिन्या नो तृप्यति तर्हि सखि! त्वमेव कथय? यत्पुंसोऽपेक्षयाऽष्टगुणाधिकमार-सारवती युवतिः सर्वाङ्गसञ्जातकामा सत्येकेन पुंसा कथमात्मन इच्छां पुपूर्यात्। यदुक्तम् -

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां, न पुंसां वामलोचनाः ॥८॥

व्याख्या - यथाऽग्निः काष्ठानामिन्धनानां राशिना न तृप्यति=तृप्तिमुपैति, यथा वा महोदधिः = सरित्पतिः, अपगानां संयोगेन न तृप्यति, अन्तको = यमो वा सर्वभूतान् = सर्वेषां प्राणिनां नाशनान्नो तृप्यति-सन्तुष्यति तथा वामलोचनाः = स्त्रियः खलु पुंसां = बहूनां पुरुषाणां भोगान्न तृप्यन्ति = सन्तुष्टा

नो जायन्ते।

या दक्षा कामिनी तारुण्यपरिपूर्णा सतीत्वं बिभर्त्ति सा खलु गुणवतां यूनां पुंसामलाभादेव, नान्यथा जात्वपि सा तद्विभृयात्। यथा नद्यो हि तदाश्रयलाभवशात्तूर्णमेव सागरेण मिलन्ति, तथैव नार्योऽपि प्रार्थयितुः सद्भावात्तेन सार्धं मिलन्त्येव। अतः सखि! [1]तानवमालिन्यहारिणां कामिनां यूनां मनांसि वशीकर्त्तुं तारुण्य-पुण्यमयं सिद्धमन्त्रमधिगता सत्यहं त्रिचतुरश्चतुरांस्तरुणान् पुंसः कामं सेवित्वा स्वीयमदस्तारुण्यमबन्ध्यं विधास्यामि। इत्थं तयोरालापमाकर्ण्य नरनायको दध्यौ -

अहो! अत्याश्चर्यमेतत्, अनयोः परस्परालापो विरुद्धाभासः प्रतिभाति। अहो! महदद्भुतमेतत्, यदनयोरेका साध्वीयसी लक्ष्यते, द्वितीया च शाठ्यवती प्रतीयते। कथमेतयोः शैशवेऽपि प्रकृति-परिणतिर्भिद्यते?, किं वा द्राक्षायां नैसर्गिकं माधुर्यमिव तुम्ब्याश्च स्वाभाविकीकटुतेवैतयोः कुमार्योः शैशवादेव प्रकृतिवैचित्र्यं जायते खलु?, यद्यपि ज्यायसीयं सतीत्वात्प्रकृष्टतमास्ति, तथापि मामकीनचिकीर्षितकार्योपयोगिनीयं द्वितीयैव मया वरणीया। यतः कस्यापि पदार्थस्य निर्णयं विधित्सूनां लोकानामेष सरल एवा-स्त्युपायः, यस्माल्लोके हि स्वर्णपरीक्षां निकषोपल एव कर्त्तुं शक्नोति मौक्तिके नैव। तेन हेतुना किलैनां कन्यामुद्वाह्य शनैः शनैः स्वचिकीर्षितं साधयिष्यामि। यतस्त्वरया क्रियमाणं कार्य-मायतावापत्तेरेव निदानं भवति। अपरं च मया खलु युक्त्या परितोऽवरुद्धेयं स्वैरं किमप्याचरितुमपि नो शक्ष्यति। तदावश्यं खल्वस्याः खलतापि चातुर्याभिमानेन सहैव गमिष्यति। इत्थं मानसे निश्चित्य गृहभित्तौ चर्वितताम्बूलं निष्ठीव्य स्वं कृतकृत्यं

1. तनोरिदम् = तानवम्

मन्यमानो राजा सानन्दमात्मनः सदनमागात्। निसर्गादेवात्यल्पं निद्रालू राजा गुणस्थानभूतां दिव्यां शय्यां क्षणमात्रं निषेव्य किञ्चित्सुप्त्वा निशावसाने पुनरजागरीत्। तत्रावसरे निजारातिदिनेशागमनं संभाव्य पलायमानमात्मतनयमन्धकारमनुगन्तुं निशापि समुत्सुका जाता। तदानीं रजन्याः स्ववल्लभाया भविष्यता वियोगेनाधिकं खिद्यमानश्चन्द्रमा अपि सत्वरं क्लेशमापत्, नो चेत्कथं तत्कालमेव विच्छायतामायिष्ट सः। किञ्च निजभर्त्तुर्दुर्दशामालोकितुं निरासयितुं वा प्रभवन्तो ग्रहगणा अपि व्रीडिता इव क्षीणतेजसोऽचिरादेवाऽदृश्यतामापेदिरे। तदातिरक्ताऽरुणोदयावलोकनेन पूर्वपरिचयात्प्रमुदिता खलु प्राची दिक् सुप्रकाशच्छलाद्धसन्ती सन्ध्यामिषेण व्यक्ततरं रागं वहमाना नितरामचकात्। समुदितनिजकिरणपटलैः प्रणाशिताऽशेषतमस्स्तोमः सकलतेजस्विनां [1]खेऽटानां च प्रभाभिमानं ह्रासयन् सहस्रकिरणस्तदोदयगिरिशिखरे माणिक्यमिवाऽशोशुभ्यत। यथा प्रीतिमान् पतिः प्रीत्या निजप्रेयसीं कुङ्कुमादिलेपेन मण्डयते, तथा दिवापतिरपि मृदुकरनिकरैर्द्यावापृथिव्यौ व्यभूषयत। तत्रावसरे प्रेयसः सूर्यस्य करस्पर्शात्प्रमुदिताः कमलिन्यो विचकाशिरे। खगा अपि सकला मधुरवाण्या दिवाकरस्य स्वागतं कृतवन्तः, उदयमधिगतमेतमादरेण कुशलादिसमाचारमप्राक्षुः खलु। इतश्च सुप्रभाते जाते महीयसा तेजसा जाज्वल्यमानं सागरादिव प्रासादाद् बहिरायान्तं विक्रमं राजानं भास्करमिव सर्वे लोकाः स्तोतुं लग्नाः।

अथ प्राभातिकं कृत्यं सर्वं विधिवद्विधाय महामहिमशाली राजा दिवापतिर्व्योममण्डलमिव सभामलङ्कृतवान्। तदनु कञ्चन सेवकमाकार्य तमेवमादिष्टवान्नरेन्द्रः- भोः! त्वमधुनैव तत्र याहि,

1. खेऽटन्ति = ग्रहाः

यस्य भित्तौ चर्वितताम्बूलस्य ष्ठीवनं पश्येस्तस्य गेहस्याधिपति-मानय?, अथ नृपादिष्टः सोऽनुचरस्तदैव तत्रागत्य नृपादेशं तस्मै निगद्य सहैव तं श्रेष्ठिनं सदसि नृपान्तिकमानयत्। तदा समायान्तं तमालोक्य राजाऽभ्युत्थानादिना तं भृशं सममंस्त। योग्यासने तमुपावेश्य [1]सप्रश्रयं मधुरवचसा राजैवं निगदितुमारभत-श्रेष्ठिन्! या ते पुत्री स्त्रीजनोचितचातुर्यपटीयसी श्रूयते, तस्याः पाणिपीडनं मया सार्धं विधेहि। वर्त्तन्ते च मे बह्व्यः पत्न्यस्तथापि ते पुत्रीं परिणिनीषामि। यतः-''सतीष्वपि मौक्तिकमालासु किमिति गुणवान् पुमान् पुष्पमालां नो परिधत्ते?'' इति नृपोक्तमाकर्ण्य श्रेष्ठी जगाद-स्वामिन्! सहर्षमहं ते पुत्रीं ददामि। यतस्त्वमस्माकं स्वामी न्यायी विनयी वर्त्तसे, एष सम्बन्धस्तु विद्यत एव, पुत्री प्रदानेनाऽ-न्योऽपि घनिष्ठ आवयोः संसर्गो जनिष्यते च, अत एवैतन्महानन्द-दायि लाभकारि च मन्ये। प्रभो! यां कुमारीमभिलषसि, तामपि सकलासु ललनासु गरीयसीं मन्ये, शिवेनेष्टां गौरीमिव भविष्यति चैषा समस्तासु राज्ञीषु ते मान्या, यतस्त्वमेनां स्वयमेव कामयसे खलु। इति व्याहृत्य स्वसदनमागत्य तां कन्यां महार्हविभूषण-वसनादिना सर्वाङ्गभूषितां विधाय विक्रमार्काय तदैवानीय तथा समार्पयत्, यथा पुरा क्षीरोदधिः स्वसुतां लक्ष्मीं विष्णवे समार्पिपत्। तदा नैमित्तिकनिगदिते सुलग्ने तां सालङ्कारां कन्यामुदवोढ विक्रमार्कः क्षितिपतिः। रम्येष्टकनिर्मितैकस्तम्भके सौधे तामतिष्ठिपच्च। एकस्तम्भाधारे सुधालेपनादतिकोमले तत्र भवने कीटादयोऽप्युपरि चटितुं प्रवेष्टुं वा नो शक्नुयुस्तर्हि मनुष्यः कथं [2]प्रवेष्टुमीष्टाम्?, अत्यन्तानुरागं बिभ्राणो राजाऽग्निवेतालबलेन तत्र भवने नटराज इव स्वयं यातुमलगत्। समस्तसज्जनशिरोमणिः क्षितीशस्तस्यै

1. सादरम्। 2. ईश् = सामर्थ्येऽपि।

नवोढायै कल्पवृक्षवद् दिव्यानीच्छितानि नानाविधभोजनाच्छाद-नादीनि तद्योग्यमहार्हकौशेयवसनानि दिव्यानि विभूषणानि च दातुं लग्नः, किं बहुना यां यां सामग्रीं कामयामास तामशेषां सामग्रीं नरपालस्तस्यै वितितार।

अथ तत्रातिकमनीये सौधे सा नवोढा मनस्येवं विवेचयितुम-लगत्-अहो! ! अकारणमेवैष क्षोणीशः शत्रुरिव सारिकामिव पिञ्जरे मामत्र सौधे कारागार इव न्यवीवसत्खलु। अथवा बलादपि मामीदृशे जनान्तरैः प्रवेष्टुमशक्ये भवने निरुध्य सतीत्वं चिकीर्षत्यसौ पृथ्वीपतिः, यस्मादस्यान्तःपुरे सन्ति खल्वन्या अपि स्त्रियस्तास्त्वे-वमीदृग्भवने जात्वपि नैव स्थापयति।

हंहो! मया ज्ञातमेतन्निदानम्? ''यस्यां रजन्यां सख्या सत्रा चिरं सर्वं हृद्यमहमालपम्, तदशेषमेष [1]नष्टचर्यायै पर्यटन्नून-मशृणोत्। अत एव तत्प्रतीकर्त्तुमना असौ राजा विचारवतामग्रेसरो भवन् दाक्षिण्यशिरोमणिं मामाश्रित्य कामिनीजनचारित्र्यबुभुत्सयैव मत्पाणिमग्रहीत्।'' तेनैव हेतुनाऽहमनुमिनोमि-''यदेष राजेन्द्रस्ती-व्रभावामतिकामुकीं [2]चातुर्यचणां मां परिणीय कोशे कृपाणमि-वेदृशावरुद्धागारे मां रक्षितुमेव किल न्यवासयत्।'' आस्तामेतत्, यद्येवमेष विजानाति, तर्हि जानातु, परन्तु वस्तुस्वभावमजानन्नेष महीभर्त्ता यद्येतदिच्छया वा किलैवमुद्यममकृत, तथापि कदाचिदपि मामेष रक्षितुं नैव प्रभवेत्। यदधुनापि किमपि नो गतम्, अलमिदानीममुना विचारेणाऽसारेण, सम्प्रतिकाले यन्मे श्रेयस्कारि तदेव मया चिन्तनीयमहमवश्यमेव वा विचारितं कृत्यमग्रे करिष्यामीत्थं मनसि निश्चित्य निजकार्य-सिषाधयिषया कालम-पेक्षमाणा यतमाना कपटवारिपूर्णा वापिका सा नवोढा निजाऽसीम-

1. नष्टचर्या-अदृश्य गुप्तचर्या. 2. चतुराई में कुशल

चातुर्यकलया राजनि बहिः प्रीतिमाविष्कुर्वती, अन्तश्च कपटं विदधती, चतुरतरनरेश्वरस्य मनोरञ्जनाय मनोहराणि वचनानि नर्त्तयन्ती सरसवचनवारिधारां वर्षितुं लग्ना। इत्थं स्वस्वभावं प्रकटयन्तीमेनां दक्षोऽपि राजा तस्याः कपटप्रेम्णा मुग्धीभूय सरलप्रकृतिकामेव विवेद। पूर्वपरिचितां तदीयदक्षतां सर्वथा विसस्मारैव। स्त्रीणां भर्त्तुरानुकूल्यधारणमेव महीयान् रसोऽस्तीति निश्चयं स्वान्ते बिभ्रती सा नृपेणाऽप्रेरितापि नरपतिचित्तानुकूलाचरणेन तन्मनः प्रीणयितुं लग्ना। तस्या निःसीमानुकूलवृत्त्या रञ्जितो राजा तदनुकूलीभूयैव तामसेवत। यस्माद्धेतोः "सकलं लोकं वशीकर्त्तुं मन्त्रं विनैवानुकूलाचरणं कार्मणं बिभर्त्ति युवतिजनः।"

अथैकदा सा नवोढा कामिनी राजानमित्युक्तवती-स्वामिन्! अहमत्र भवने परिवारहीना शरीरमात्रसहाया कथमेकाकिनी दिवसान् गमयानीति। भवानपि त्रिचतुर्दिवसानन्तरं मत्सन्निधावायाति, तदेव दिनं गणयामि, तामपि रजनीं क्षणमात्रमहं जानामि। त्वदङ्गसङ्गं यस्यां रजन्यां नो लभे, सा रजनी तु वत्सरदेश्यैव प्रतिभाति। अतो भवता प्राणकल्पेन वियुक्ताऽहं यथा सुखेन दिनानि यापयामि, तथा मयि कृपामाधाय विधीयताम्। लेखनसामग्रीं लेखिनीं मसीपात्रादिकं च मह्यं देहि, येन त्वद्विरहखिन्नाऽप्यहं तत्कर्मविदधती कालं क्षपयेयम्। अत आह कश्चित्कविः

गणयति दिनमपि कल्पं, विरहपीडिता निरुद्यमा नारी ।
मनुते सैव हि वर्षं, भर्तुरङ्कगता किल घस्रम् ॥९॥

व्याख्या - विरहेण-पतिवियोगेन पीडिता-दुःखिता, निरुद्यमा= लेखनपठनादिसदुद्योगरहिता दिनमेकमपि कल्पं = सृष्टि-प्रलयवत् गणयति=जानाति, सैव नारी भर्तुः प्रियस्याङ्के

गता तस्थुषी सती हि निश्चयेन वर्षमपि घस्रं=दिनं मनुते।

इत्थं तयाऽचिरपरिणीतया कामिन्या प्रार्थितो राजा तस्यै लेखनाद्यशेषसामग्रीमदात्। साप्यन्तरं रागं विनैव बाह्यरागेण राजानमाह्लादयन्ती नितराममोदत। इत्थं क्षोणीपतिस्तां विदग्धव-नितां सर्वेच्छितप्रदानेन सन्तर्पितवान्। सापि तदिङ्गितज्ञानदक्षा बाह्योपचारैस्तमानन्दयितुं लग्ना।

श्रीसौधर्मबृहत्तपाख्यभुवनख्याताऽच्छ[1]गच्छाधिप-
श्रीराजेन्द्रजगज्जयिष्णुचरणाम्भोजद्वयान्तेसदा ।
एतस्मिन् रचिते यतीन्द्रमुनिना गद्यप्रबन्धे मुदा,
जज्ञे चम्पकमालिकीयचरिते प्रस्ताव आद्यो ह्ययम् ॥१॥

1. अच्छ-निर्मल.

अथ द्वितीयः प्रस्तावः प्रारभ्यते

अथैकदा प्रस्तावे तत्र नगरे रूपेण मारोपमः श्रीविनिर्जितकुबेरः कश्चिद् गगनधूलिनामा सार्थवाह आगात्। स च प्रशस्तानि महार्हाणि वस्तूनि राशीकृत्य राज्ञ उपायनं ददिवान्। अमुनोपहारेण बभूवांश्च राजा तस्मिन् कमलाकोशाधीशकल्पे प्रसेदिवान्, कृतवांश्च व्यापर्त्तुमानीतवस्तुजातशुल्कमोचनम्। दत्तवांश्चाऽस्मै निवासाय प्रासादमेकमुत्तमं प्रजेश्वरः। तत्र सौधे सार्थवाहः सुखेन न्यवात्सीत्। तमेकदा निजसदननैकटिकेन पथा राजसभायां याप्ययाने निषद्य यान्तं गवाक्षस्था सा नवपरिणीता राज्ञी प्रेक्षाञ्चक्रे। तमुद्वीक्ष्य सा निजस्वान्ते विचिन्तयितुं लग्नाऽहो! असौ राजसम्मानमुपेतोऽस्ति पुमान्, मामके लोचने चकोरे पूर्णपीयूषांशुरिव तर्पयति, मनोऽपि मे [1]कैरवमिव नितरामुल्लासयति। वर्णोऽप्यस्य मानिनीमाननिरास-दक्षिणोऽतीवकमनीयो वर्णनीयो दरीदृश्यते। सौभाग्यमप्येतस्य लोकोत्तरं विज्ञायते। अद्वितीयं रूपममुष्य पुंसश्चेतोहरमालोकयामि। तर्ह्येष पुमान् सर्वासां सीमन्तिनीनां मनसि कथङ्कारमद्भुतं चमत्कारं नोत्पादयेत? अहमुभे लोचने सफले मन्ये, यदद्य परेषामतिदुरापं मारोपमं सौन्दर्यसागरमेनमपश्यताम्। किमधिकेन, या युवतिः सुभगशिरोमणिं महापुरुषममुं नाऽऽलुलोचे, तस्या जनिर्मुधैव गतेति मन्तव्यम्। विलोक्यापि या वधूटी गाढमेनं नालिलिङ्ग, तस्यास्तु जन्मैव वैफल्यमायिष्ट। अत एव, विधे! सत्वरं मां पक्षवतीं विधेहि। यस्मात्क्षिप्रमुड्डीय पुंसोऽस्याङ्के कमलोपमे किलोपविशानि। रे चित्त! प्रसीद, धैर्यमाधेहि, भुजयुगलप्रसारिणीं

1. श्वेत कुमुद के समान.

विद्यामर्पय, यया बाहुद्वयं प्रसार्य शीघ्रं निजमनोरथीकृतमेनमालिङ्ग्य सुखिनी भवानि। यथाऽमुष्य दर्शनादुभे नयने साफल्यमयाञ्चक्राते। तथैतदङ्गस्पर्शादङ्गमपि मामकं कदा सफलीभविष्यति?, इत्थं विचिन्तयन्ती तमेव पुमांसमेकाग्रमनसा पश्यन्ती सा राज्ञी तस्मिन्नलक्ष्यतामुपगतेऽपि यन्मार्गेण गतवान्, तमेव पन्थानं विलक्षभावेन विलोकितुं लग्ना। पुनः क्षणान्तरादेव सावधानहृदया सा मनस्येवं चिन्तयितुं लग्ना-यदहमेतत्पुंसा योगमन्तरा क्षणमपि जीवितुं नैव शक्नोमि, अत एव मदीयजीवितधारकीभूतस्यामुष्य पुंसो गाढाश्लेषं यथाऽऽप्नुयां तथा मया यतितव्यम्। यतः "स्वप्राणधारणाय यः खल्वालस्यं विधत्ते, विलम्बयति वा स प्रान्ते महाकष्टमाप्नोति।" अतो ममैतदर्थसाधने विलम्बकरणमनर्थकार्येव स्यात्। इत्यवधार्य सा तरुणी तस्मै धनवते सार्थवाहाय स्वाभिप्रायं बोधयितुं निस्त्रपाऽकुतोभया तदैवैकस्मिन् पत्रे श्लोकयुगलमिदमलेखीत्

नाथ! प्रदोषसंरुद्धसञ्चारा पद्मसद्मगा ।
भृङ्गी समीहते चिन्ता-व्याप्ता मित्र! तवागमम् ॥१॥

व्याख्या - हे नाथ! प्रदोषे=सायङ्काले संरुद्धः सञ्चारो = गमनं यस्याः सा निशावरुद्धगमना, पुनः पद्मानां = कमलानां सदने गता प्राप्ता, अत एव चिन्ताव्याप्ता = चिन्ताकुला भृङ्गी मित्र! = सूर्य! तवागमनं समीहते=कामयते, पक्षे काचिन्नायिका पुरुषान्तरं निगदति - नाथ! यथा निषिद्धनैशिकगमना, कमलभवनगता, चिन्ताकुला, भृङ्गी स्वश्रेयसे सूर्यं वाञ्छति, तथाहं सदने निरुद्धाऽतिमदनदहनदग्धीकृताशेषगात्रा, त्वामेव किलेच्छामि।

तदुपेक्षां भवान् भास्वन्!, कर्त्ता चेत्तदभाग्यतः ।

हताशाऽन्तसंयोगं तदा सा लप्स्यते ध्रुवम् ॥२॥

व्याख्या - भास्वन्! = हे सूर्य! चेद्यदि तदभाग्यतः = तस्या अभाग्यतः = कर्मदोषात्, भवान् तदुपेक्षाम् = तस्या उपेक्षाम् कर्त्ता = करिष्यति, अर्थान्नागमिष्यति, तदा = तर्हि, अवश्यमेव हताशा = विफलेच्छा सती सा भृङ्गी, अन्तसंयोगम् = कृतान्तसंपर्कम् लप्स्यते, अर्थान्मरिष्यत्येव तत्र मनागपि संशयं मा कृथाः। पक्षे मदीयाऽभाग्ययोगान्मदुपेक्षां विधाय नागमिष्यसि चेत्तर्हि नष्टाशाऽवश्यमेव मरिष्यामीति विदित्वा मयि कृपां नीत्वाऽवश्यमत्र त्वमायाहि।

पश्चादेतद्दलं पर्णवीटिकान्तरितं विधाय गवाक्षस्था तदागमनकाङ्क्षिणी सा राज्ञी पश्चात्तत्रागतस्य सार्थवाहस्याङ्केऽन्तर्न्यस्तदलां तां पर्णवीटिकां क्षिप्तवती। तदा गगनात्पतितां तामालोक्य किमेनां काचिद्देवताऽपातयदिति धिया सार्थवाहो निजां दृशमुपर्यकरोत्। तत्रावसरेऽधः पश्यन्तीं गवाक्षस्थां तामुद्वीक्ष्य तस्या रूपलावण्यतारुण्यावलोकनेन प्रमत्तो महाछाग इव गतव्रीडः स निमेषशून्यया दृशा तामवलोकितुं लग्नो, यस्मादीदृशां कामिनां लोकलज्जा राजभीतिर्वा कथमुत्पद्येत? तामेवावलोकमानः स मनस्येवं ध्यातुमलगत्, नूनमेषा राज्ञी स्निग्धया दृशा मां पश्यन्ती मानसं रागं दर्शयति, यस्मादान्तररागमन्तरा काचिदप्यबला कमप्येवं नैवाऽवलोकते। जाने साक्षान्मूर्त्तिमतीं प्रीतिमेवैषा पर्णवीटिकामिमां मामार्पिपन्नु?, अत एवैतदन्तः किमस्तीति वीटिकामुद्घाट्य मया सम्यगवलोकनीयम्। यतः "रागिजनार्पितं साधारणमपि बहुमानार्हं जायते।" इत्यवगत्य तामुन्मुच्य तदन्तर्मूर्त्तिमतो मदनस्याऽऽदेशमिव मनोरमे पत्रे करकमलाङ्कितं श्लोकद्वयमद्राक्षीत्सार्थवाहः। तस्या मानसिकरागनिधेर्बीजकल्पं श्लोकद्वयं

वाचयित्वा तदीयमनोगतमाशयं जानानः सार्थवाहस्तया सत्रा सङ्गन्तुमत्यौत्सुक्यं बिभरयामास। एवं ध्यातवांश्च मानसे अहो! अत्याश्चर्यजनकं रतेरपि रूपाऽखर्वगर्वापहारि किलैतस्या रूपमस्ति। लावण्यमप्यस्या लोकोत्तरं पश्यामि। तथैवाऽस्या अद्भुतं दाक्षिण्यमसाधारणमेव विभाति। मय्यनुरागमप्येषा कमप्यगदनीयमेव धत्ते। एवमन्योक्तिलेखनकथनकौशल्यमप्यलौकिकमेवाऽस्त्यस्याः। इत्थं तां राज्ञीमालिङ्गितुं यथेष्टमालोकितुं समुत्सुकस्तस्यामत्यन्तानुरागी सार्थवाहश्चिन्तयति-नूनमेषा मय्यनुरागिणी प्रतिभाति, अतो ह्यस्या उपेक्षणं ममोचितं नो प्रतिभाति। सत्युपेक्षणे मदनशरजालपरिपीडिताङ्गी, हताशा सतीयं राज्ञी चेदमरिष्यत्तर्हि तद्धत्या ममैवालगिष्यदतो मया येन केनोपायेन तत्सन्निधौ गन्तव्यम्। तत्र गत्वा यदुचितं द्रक्ष्यामि तथा करिष्यामि। इति विचिन्तयन्निजसदनमागात्।

तत्र कञ्चिदेकं मतिमन्तं प्रेमपात्रं सखायं सर्वमेतदवोचत्-मित्र! एतत्कार्यमतीवदुःसाध्यमस्ति। यस्मादेकस्तम्भे सदने स्थितायास्तस्याः संयोगः सुकरो नास्ति, किन्त्वतीव दुष्करः। यद्यहं तत्र नो गच्छेयम्, तर्हि साऽवश्यमेव पञ्चबाणपारवश्यमिता राज्ञी मृतिं लप्स्यते, अतो मया किं करणीयमधुना, एकत्र विषमा नदी परत्र वा व्याघ्रोऽस्तीति न्यायो मे समुपस्थितः। अथवा भवतः साहाय्येन दुष्करमपि कृत्यं सौलभ्येनाशु सेत्स्यतीति मन्ये। यस्मादवरोधरक्षितृकञ्चुकिनः प्रभावेण कौलिकोऽपि राजकन्यामसेवत खलु, किञ्च धूलिकणिकापि वायोः संयोगात्पर्वतस्यापि शिखरमारोहति। परेषां साहाय्यतः खल्वसाध्यमपि सुकरतामभ्युपैति, मणिर्यथैकपदमपि गन्तुं नेष्टे, तथापि परकीयसाहाय्येनागम्यमपि समुपैति। तथैतन्मत्कार्यमसाध्यमपि मतिमतामग्रेसरस्य ते साहाय्येन झटित्येव सेत्स्यति। इति सार्थवाहोक्तमाकलय्य

तदीयदुःखेन खिद्यमानः स सखा तमेवमगदत्-सखे! अवज्ञातः कश्चिज्जनो यथा जल्पेत्तथा त्वमेतत्सखेदं जजल्पिथ। एतच्च वृद्धान् सेवमानस्य ममासाध्यं कष्टसाध्यं वा नैवाऽस्ति। मयैकदा पुरा वृद्धमुखादश्रावि-यत्खलु महाबलीयान् भवति चन्दनगोधा, असावगम्यारोहणसदनेऽप्यनायासेन झटित्येवाऽऽरोहति खलु। अत आशु कुतश्चित्स आनीयताम्। यदसौ जलेन वियुक्तं मीनमिव तया कामिन्या वियुक्तं त्वामतिदुखिनं तस्या अन्तिकमचिरेणैव नेष्यति। अत एव वातप्रणुन्नो दहनो यथाऽऽशु काननं दहति, तथा हे मित्र! त्वत्प्रेमप्रेरितोऽहं सर्वमेतदनायासेन करिष्यामि। यस्मादधुनैव तावकीमेनां चिन्तामपाहरामि। यतः-"बलवन्तं मतिमन्तमपि पुमांसं समुत्पन्ना चिन्ता चितेव निर्दहतितमाम्।" यदाह -

चिता-चिन्ता-समायोगे, चिन्तैवास्ति गरीयसी ।
चिता दहति निर्जीवं, सजीवं स्फुटमेव सा ॥१०॥

व्याख्या - चिताचिन्तयोरुभयोर्योगे चिन्तैव गरीयसी = क्लेशाधिक्यप्रदानादतिगुर्वी विद्यते। यतः-चिता निर्जीवम्-मृतं दहति, चिन्ता तु जीवन्तमेव प्राणिनं हठाद्दहतीति।

इत्थं तं सार्थवाहमाश्वास्य स्वयं तदैव कमपि ग्रामं गत्वा पूर्वपरिचितचौरपार्श्वात्सुशिक्षितं चन्दनगोधामादाय क्वचित्कलशे निधाय सार्थवाहेन सार्धमेकैकहस्तोपरिदत्तग्रन्थिकां डोरिकां महीयसीं द्रढीयसीं च गृहीत्वा तस्यामेव रजन्यामेकस्तम्भभवन समीपमायातः। तत्रागत्य घटाच्चन्दनगोधां निष्काश्य तत्कट्यां तां डोरिकां बद्धवा वंशदण्डोपर्यारोप्य तामूर्ध्वमुदक्षिपत्। सापि तत्क्षणमेव चटन्ती सती तत्सौधीयवातायने गाढमाश्लिष्य तस्थौ। तदनु स सार्थवाहस्तेन सख्या प्रेरित उभाभ्यां कराभ्यां डोरिकां

गृहीत्वा पदाङ्गुष्ठमङ्गुलीश्च डोरिकामध्यभागकृतग्रन्थिषु संस्थाप्य वंशाग्रे महानट इव दुरारोहमपि तदेकस्तम्भीयसौधमारुह्य गवाक्षे निर्भयं तस्थिवान्। तत्पश्चात्तदीयसखा फूत्कारसङ्केतेन तां चन्दन-गोधामध आनीय घटे संस्थाप्य तत्रैव क्वचिद्गुप्तस्थानेऽतिष्ठत्।

तत्रावसरे महता दीपकेन प्रद्योतमाने भवने तामेकाकिनी-मालोक्य तस्या मनसि प्रविशन्निवान्तः प्राविशत्। पुरा दृष्टत्वात्सापि राज्ञी मनसि महाहर्षं दधाना पुलकितगात्रा सती तत्कालमुत्थाय तदग्रमागत्य कमलदलैस्तमर्चयन्तीव भृशं कटाक्षं पातयन्ती स्मेराऽनना तमेवमपृच्छत्-प्राणप्रिय! स्वागतं भवतामभूत्?, अहं तु तावकागमनमेव काङ्क्षन्ती किलास्मि। एहि, निद्रातुमस्यां शय्यायां तिष्ठ, मनसी सङ्कल्पविकल्पौ जहीहि। सत्वरमिदं शयनीयं पुनीहि, चिरकालिकं प्रेमतरुमेनं सफलीकुरुष्व। तदनु तत्र शयनीये समुपविष्टं सार्थवाहं सुधाधिकमधुरया गिरा सा निगदितुं लग्ना-प्राणेश्वर! यद्दिने यान्तमनेन पथा त्वामहमपश्यं तत्क्षणादनङ्गो मां नितरां बाधते, तां बाधामगदनीयामेवाऽवेहि। मदनशरजाल-विद्धाऽशेषाऽवयवा त्वामेव कामयमाना न स्वपिमि, नो खादामि, न वा पिबामि, केवलं तावकसमागमाऽमृतपिपासैव वरीवृधीति। एतस्मादेव मनसि मां संस्मृत्य त्वमधुनाऽत्रागतोऽसि, तत्सा-ध्वकारि। यदेतद्भवनं राजभीत्यास्पदं दुरापमप्यस्ति तथापि तत्सर्वं विहाय यत्कृपां विधाय समागतोऽस्त्यत्र तदतीवश्रेयस्करमजायत। यथा त्वमत्रागत्य मामकीं प्रार्थनां फलवतीमकृथास्तथा त्वमधुना द्रुततरं गाढं मामाश्लिष्य यौवनं च मे सफलं नय?

तदनु सार्थवाहस्तामेवमवोचत्-सुन्दरि! तद्दिने नागवल्ली-वीटिकायां न्यस्तश्लोकद्वयाऽभिप्रायं विदित्वा त्वच्चिन्तापहाराय समायातोऽस्मि तवान्तिके, परन्तु त्वयका सत्रा विषयक्रीडनं कर्त्तुमधुनाऽत्र नागतोऽस्मि। यतः-''धर्मशास्त्रीयनैतिकवचनानि

स्मरता पुंसा परकामिनी नोपभुज्यते जात्वपि।'' त्वं तु राजदाराः स्थ, तर्हि कथं मयोपभुज्येथाः?, यदि परलोकविरुद्धे विषये शिष्टा न प्रवर्त्तन्ते तर्हि लोकद्वयविरुद्धे भवत्प्रार्थिते कृत्ये कथमहं प्रवर्त्तेय? यद्यपि भवत्याः कथनेनानुरागेण च परलोकभीतिमदृश्यत्वान्न गणये, परन्तु यदेतल्लौकिकं दरीदृश्यते प्रत्यक्षं राजभयं तत्कथं तिरस्कुर्याम्?, येन राज्ञाऽन्यायकर्त्तारो महान्तोऽपि जना बध्यन्ते, स न्यायनिष्ठो राजा स्वदाराभोक्तारं पुमांसं कथङ्कारं नो हन्यात्?, हिंस्यादेव। महान्तः पुरुषा मित्रादेरपीदृशं दोषं जात्वपि फणीन्द्रा इव न सहन्ते, कदाचित्सज्जना मैत्रिकमपराधं क्षमन्तेऽपि राजानः सर्पाश्च कस्याप्यपराधं नैव क्षमन्ते, सद्य एव तदुचितं दण्डं विदधत्येव। अतः-अकालमृत्युनिदानं त्वत्सम्भोगं मामकं मनः कथमिच्छेत्?, किमज्ञा अपि स्तनन्धयास्तदशनपरिपाकफलमजानन्तः किम्पाकफलमश्नन्ति?, नैवाऽश्नन्ति। अतोऽहं सादरं त्वां प्रार्थये सुन्दरि! मां परावर्त्तितुमनुजानीहि। यतोऽहमेतस्मात्त्वत्प्रेमपाशान्मुक्तो भवन् सुखेन जीवितुं शक्नुयाम्। यदुक्तम् -

तावदेव सुखं यावन्न कोऽपि क्रियते प्रियः,
प्रिये तु विहिते सद्यो, दुःखेष्वात्मा नियोज्यते॥११॥

व्याख्या - यावत्कालं केनापि पुंसा कोऽपि प्रियो मित्रं न क्रियते = विधीयते, तावदेव = तावन्तं कालमेव तस्य पुंसः सुखं= श्रेयो विद्यते। तु = पुनः प्रिये विहिते कृते सति सद्यस्तत्कालमेवाऽऽत्मा दुःखेषु = कष्टेषु नियोज्यते = स्थाप्यते। अर्थादन्यस्मिन्प्रीतिं कुर्वता पुंसा दृढतररज्जुबद्धेन पशुनेव केवलं दुःखमेव भुज्यते।

इति सार्थवाहेन निगदितं श्रुत्वा राज्ञी जगाद-प्रियतम! त्वं मदीयदुःखजिहासयाऽत्रायातोऽसि, तर्हि तडिद्गौरवर्णां तारुण्यपूर्णां

तडिल्लतामिव देदीप्यमानां पक्षेषु बाणजालनितान्तपरिपीडिता-मतिविह्वलां दुःस्थितामेकाकिनीं मां भजस्व, गाढमालिङ्ग्य सुखिनीं कुरुष्वाऽलं विलम्बं मा कृथाः। यतः "यावत्त्वं मया सत्रा नो रंस्यसे तावदहं स्वास्थ्यं नैव लप्स्ये," इति सत्यमवेहि। यथा खलु तृषाकुलो जनो यथेष्टं वारि पीत्वैव तां शमयति, बुभुक्षितो जनः खादित्वैव स्वस्थीभवति नान्यथा। तद्वदेव त्वदुपभुक्ता सत्येवाहं स्वस्था भवितुमर्हामि, इतरथा गतासुरेव भविष्यामि। स्वास्थ्ये सत्येव जनो नीतिवाक्यानि चिन्तयति, पण्डितोक्तिं श्रद्दधाति। वैपरीत्ये तु निषिद्धमप्याचरति, अवाच्यमपि जल्पति, कर्त्तव्याऽकर्त्तव्ये नैव जानाति। यदुक्तम् -

निषिद्धमप्याचरणीयमापदि,
क्रियां सतीं नाऽवति यत्र सर्वथा ।
घनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छले,
क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥१२॥

व्याख्या - यत्र = यस्यामापदि समागताऽऽपत्तिकाले जनः सर्वथा केनापि रूपेण सतीं विद्यमानामुचितां क्रियां स्थितिं मर्यादां नावति = अवितुं = रक्षितुं न शक्नोति, तत्रापदि तेन जनेन निषिद्धं = लोकविरुद्धमप्याचरणीयमनुष्ठेयमिति यावत्। तदेव दृष्टान्तेन दृढयन्नाह - घनाम्बुना = वृष्ट्याधिक्येन राजपथे = राजमार्गेऽतिपिच्छले[1] क्वचिद्बुधैरपि निरुपायत्वादपथेन गम्यते। अतः- आवयोरपि निरुपायतया निषिद्धाचरणं नो दूषणं, किन्तु भूषणमेवेति तत्त्वम्। तथा च -

स्वस्थावस्थे शरीरे हि, निषिद्धं सद्भिरौषधम् ।
विपर्यये तु तैरेव, तदप्यादृियते ध्रुवम् ॥१३॥

1. अतिपिच्छले = अतीव चिकना मार्ग-फिसलने वाला मार्ग

व्याख्या - शरीरे = देहे स्वस्थावस्थे = नीरोगे सत्येव सद्भिः = पण्डितैरौषधं निषिद्धं = न्यषेधि, विपर्यये = व्यत्यासे रोगसद्भावे तु तैरेव = पण्डितैरेव तदपि =औषधमपि आद्रियते = सेव्यते। अन्यदपि श्रूयताम् - शास्त्रे खलु सर्वत्रोत्सर्गाऽपवादौ दर्शितौ स्तः, इति हेतोरेतस्मिन् प्रस्तुतेऽर्थे सार्थेश! त्वयाप्यपवादमार्ग एवाऽऽलम्ब्यताम्। तथा सति कापि क्षतिर्न स्यात्

किञ्च, यः पुमान् कामुकीं पञ्चेषुपरिपीडितां प्रीत्या पौनःपुन्येन रन्तुमभ्यर्थयन्तीं स्वयमुपगतवतीं युवतिमुपेक्षते, तां नो रमयतीति, स पुमान् महापापीयान् भवति तन्मुखावलोकनादपि लोकानामघ उत्पद्यते, चाण्डालतामेवाधिगच्छति सः। इत्यादि नानेतिहासस्मृति-नीतिवाक्यानि जानता त्वया कथमहं वञ्चये, यत्परदारागमनं नो कार्यमिति। सार्थेश! यदूचिवान् भवान् प्रेयान् परलोकयातना-भयान्नेदृशमकार्यमनुतिष्ठाम्यहमित्यपि शोभनं नो पश्यामि, यदहं पारलौकिकक्लेशापेक्षया तावकवियोगजं दुःखमेवाऽसह्यं मन्ये। यतः पारलौकिकं तददृश्यं लघीयं च, इतोऽपि भवद्विरहजन्यमेव दुःखं गुरुतरं सोढुमशक्यं चास्तीति सत्यमहं निगदामि। भवान्तरे यद्भविष्यति तत्तु सुखेन सहिष्ये, परमधुना त्वदीयविरहमहं कथमपि सोढुं नैव प्रभवामि। प्राणेश! प्रथमं परलोक एव सन्दिग्धो वर्त्तते, तर्हि तत्र जायमानं दुःखं को नाम मतिमान् श्रद्दधीत?, इत्थं परलोकस्य सन्दिग्धत्वे सति तत्रत्या यातनापि सन्दिग्धैव मन्तव्या। अत एव संशयितपारलौकिकक्लेशभिया को मतिमान् पुमान् इहत्यं प्रत्यक्षमीदृशं सुखं जह्यात्?, कोऽपि नेत्यर्थः। तदप्यगादीः प्रत्यक्षमिहत्यं राजकीयं भयमिति, तत्तु द्वयोरपि समानमेवास्ति, यदावयोरीदृशमन्यायकर्म राजा ज्ञास्यति चेदावा-मेव हनिष्यति, नह्येकं त्वामेव। अहं जाने-यत्ते मय्यनुरागः स्वल्पी-यानेवाऽस्तीति मनसि राजभीतिं धत्से, अहं तु त्वय्यनुरागिणी

नितरामस्मि, अतस्तद्भयं मनागपि नैव गणयामि। किञ्च यो हि भयादिना विह्वलतामुपैति स एव पुमानात्मरक्षणाय निकटवर्त्तिनोऽपि सज्जनस्य सुस्नेहं जहाति, यः पुनः शौर्यशाली विक्रमी वर्तते स तु सज्जनकृतस्नेहविवर्धनाय [1]निजासूनपि तृणाय मनुते। उक्तञ्च-

भवत्कृते खञ्जनमञ्जुलाक्षि![2],
शिरो मदीयं यदि याति यातु ।
दशाननेनापि दशाननानि,
नीतानि नाशं जनकात्मजार्थम् ॥१४॥

व्याख्या - खञ्जनस्य = खञ्जरीटस्येव मञ्जुलेऽक्षिणी यस्यास्तत्संबोधने हे खञ्जनमञ्जुलाक्षि! भवत्कृते = तव हेतोर्यदि मदीयं = मामकं शिरो मस्तकं याति = नश्यति तर्हि यातु = नश्यतु, नाहं ततो लेशतोऽपि खिद्ये। यतः दशाननेन - रावणेनापि जनकात्मजार्थं = सीतायाः कृते दशाऽऽननानि - दशापि शिरांसि नाशं नीतानि तर्हि तव हेतोरेकस्य मे शिरसो नाशे किमाश्चर्यमिति भावः।

यद्यपि प्राणिनां लोकान्तरेऽपि प्राणा दुरापाः कीर्त्तिताः, परन्तु तेभ्योऽपि सता सत्रा मैत्री सर्वथैव दुर्लभास्ति, अत एव निजप्राणरक्षणकृते सज्जनस्य प्रेम को नाम धीमान् पुमान् उज्झेत्, कोऽपि नेत्यर्थः। राजा तु जात्वप्यावयोरेतत्कृत्यं नैव ज्ञातुं शक्नुयात्। जानीयाच्चेदथापि कदाचित्क्षमेत, परन्तु भक्षयितुमुद्यतोऽसौ पुष्पधन्वा हताशां मामिदानीमेव धक्ष्येदर्थान्मृतिं प्रापयेत्तर्हि किमहं कुर्याम्। अतः सुकृतिन्! वणिग्जातीयस्वाभाविकीं भीतिं जहीहि, अरं मां मदनातुरां बाढं मर्दय, मामकं दुःखमपाकुरुष्व, मय्यनुकम्पामानय।

1. असून्-प्राणान् , 2. खंजन पक्षी जैसी नेत्रवाली

तस्या इत्थमुक्तिमाकर्ण्य सार्थवाहोऽवदत्-सुन्दरि! लोके हि कामिनीजनकृतं प्रेम पर्वताग्रान्निर्गच्छतो जलप्रवाहादपि चपलं भवति। यतस्ताः क्षणमनुरागिण्यो भवन्त्योऽपि क्षणादेव विमुख्यो भवन्त्यो महान्तमेवानर्थमापादयन्ति। अपि च रक्तास्ता द्रव्यमात्र-मपहरन्ति, विरक्तास्तु प्राणानपि घातयन्ति। एवं सति तत्कृते प्राणापहारि किलेदृशमकृत्यं को नाम मतिमान् करोति, कोऽपि नेत्यर्थः। किञ्च कामिनीचरित्रं न केनापि ज्ञातुं शक्यते, लोकोक्तिरियं सत्या। तथा चोक्तम् -

नो भवन्ति, सर्वे पुरुषा अपि गाढस्नेहा नैव जायन्ते। यस्मादेकजातीयेष्वपि सांसर्गिकमन्तरं प्रत्यक्षमेव लक्ष्यते। यतः-

आलिङ्गत्यन्यमन्यं रमयति वचसा वीक्षते चान्यमन्यं,
रोदित्यन्यस्य हेतोः कलयति शपथैरन्यमन्यं वृणीते ।
शेते चान्येन सार्धं शयनमुपगता चिन्तयत्यन्यमन्यं,
स्त्री वामेयं प्रसिद्धा जगति बहुमता केन धृष्टेन सृष्टा ॥१५॥

व्याख्या - या स्त्री अन्यं = पुरुषमालिङ्गति = श्लिष्यति, पुनरन्यमपरं वचसा = मधुरालापेन रमयति = क्रीडयति, च पुनरन्यमन्यं वीक्षते = विलोकते, अन्यस्य हेतोरन्येनैव हेतुना रोदिति = क्रन्दति, शपथैस्तत्करणेनाऽन्यं कलयति = ब्रूते, अन्यं च वृणीते= स्वीकुरुते, अन्येन च सार्धं शेते = स्वपिति, शयनमुपगता = शय्यां प्राप्ता सती याऽन्यमन्यमेव चिन्तयति = ध्यायति, सेयं वामा = स्त्री प्रतिकूला जगति = लोके प्रसिद्धा बहुमता = सर्वैरादृता केन धृष्टेन = विवेकविकलेन पुंसा सृष्टा = निरमायीति नो विद्मः!।

एतच्छ्रुत्वा राज्ञी जगौ - सज्जन! भवदुक्तिर्यद्यपि साधीयसी

विद्यते, तथापि सर्वाः स्त्रिय एकाकारा नैव सन्ति, न वा पुरुषा एव सर्वे समाना जायन्ते, कियन्तश्च पुरुषा वज्रसोदरकठोरतरहृदया दृश्यन्ते, अमी खलु मन्तुमन्तरैव स्वीयप्राणप्रियाप्राणापहर्त्तारो भवन्ति। कियत्यः स्त्रियोऽपि स्वप्राणप्रियस्य वियोगं सोढुमसोढाः सत्यो भवन्ति। यतश्च जाज्वल्यमानमहाज्वालायां चितायां पतित्वा कृतभस्मसादात्मनः कियत्यः स्त्रियो जगति दरीदृश्यन्ते। अतः सर्वाः स्त्रियस्तादृश्यः प्रेमयुक्ताः।

वाजिवारणलोहानां, काष्ठपाषाणवाससाम् ।
नारीपुरुषतोयानां, जायते महदन्तरम् ॥१६॥

अतः सङ्कल्पविकल्पादिकं विहाय मत्प्रार्थनं सफलीक्रियताम्। कान्त! कियन्निगदामि - त्वदायत्तजीवितामनङ्गव्यथितामनाथामतिदीनां मां भजस्व, विलम्बं मा कार्षीः। इत्थं तस्या प्रेमामृतभरं भाषणं श्रुत्वा सार्थवाहस्यापि मनस्तस्यामनुरागि जज्ञे। यतः- ''नीरसस्यातिकठोरस्यापि पुंसो मनांसि कामिन्यो लीलयैव भिन्दन्ति, तर्हि ये सरसाः कामशास्त्रवेत्तारस्तेषां मनो भेदने किमाश्चर्यम्। तदनु समुज्झितशिष्टजनपद्धतिर्विवेकादिसमुज्ज्वलगुणत्यक्तहृदयः स सार्थवाहः सादरं तां राज्ञीं निजक्रोड़े समारोपितवान्। उक्तं च -

जीवव्योम्नि ज्ञानभानुस्तावद्युद्द्योततेतमाम् ।
कान्ताकादम्बिनी यावद्रागाऽभ्रैःस्थगयेन्न तम् ॥१७॥

व्याख्या - यावत्कान्ताकादम्बिनी = युवतिरूपा मेघमाला रागात्मकैरभ्रैः = पयोदैर्ज्ञानात्मकं सूर्यं न स्थगयेत् = नाऽऽवृणोति, तावदेव जीवात्मके गगने ज्ञानलक्षणः सूर्य उद्द्योततेतमाम् = प्रकाशतेतमाम्। अर्थात् - कामिनीरूपया मेघमालया रागात्मकैः

प्रेमलक्षणैरभ्रैश्छन्नो ज्ञानसूर्यस्तिरोहितीभूय नूनमदृश्यतामुपैति। अन्यच्च -

तावत्क्रीडन्ति हृत्सौधे, विनयादिगुणाऽर्भकाः ।
यावन्नायाति तत्रोग्रो, रमणीरागराक्षसः ॥१८॥

व्याख्या - यावन्तं कालं तत्र रमण्यां युवत्यां जातो यो रागस्तद्रूपो महान् राक्षसो नाऽऽयाति = नोद्गच्छति, तावत् = तावत्कालमेव हृत्सौधे = हृदयप्रासादे विनयविवेकादिगुणरूपाः। अर्भकाः = शिशवः क्रीडन्ति = रमन्ते। अर्थात् = बलवति कामिनी-रागलक्षणराक्षसे समायाते लोकानां चेतसि विवेकादयो गुणा अर्भका राक्षसाऽऽलोकने सति तत्कालमेव ततः पलायन्ते। अत्याश्चर्यमेतत् -

व्याकीर्णकेसरकरालमुखा मृगेन्द्राः,
नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः ।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः,
स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥१९॥

व्याख्या - व्याकीर्ण = उत्क्षिप्तः केसरो [1]ग्रैवः कचो येषां ते व्याकीर्णकेसरा अत एव करालमुखा=भीषणवदना मृगेन्द्राः=सिंहाः, भूरि विपुलो यो मदराजिर्दाननिकरस्तेन विराजमानाः = शोभमाना नागा मदमत्तद्विपाश्च मेधाविन = आशुग्राहिणः समरेषु शूराः= पराक्रमिणश्च ये पुरुषास्ते सकला अपि स्त्रीसन्निधौ = युवतिजनाऽग्रे परममत्यन्तं कापुरुषाः=पौरुषप्रहीणा भवन्ति = जायन्ते, अर्थाद् बलवतोऽपि पुंसः क्षणाल्लीलयैव ता वशयन्ति।

तदनु मदनातुरया कामदेवगाढान्धकारत्याजितव्रीडया तया

1. ग्रीवायां जातानाम् समूहः

राज्ञ्या सार्धं स सार्थवाहः कामशास्त्रोक्तानेकविधिना रन्तुमारेभे। असौ बलीयान् कामकलाकोविदः सार्थवाहस्तां तथाऽरीरमत यथा सा ततः प्रभृति नृपतौ स्वपतौ नीरागिणीभूय तमेवमालपितुं लग्ना - सार्थेश! तवाऽमुना सकृत्समागमेनैव माञ्जिष्ठराग इव त्वय्यनुरागिणी जातास्मि। यथा त्वमाह्लादयामासिथ मे मनस्तथा पुरा कदापि राजापि नाऽऽह्लादयत्। यथा खलु विधुन्तुदेन ग्रस्तोऽमृतांशुः क्षीणतामुपैति तथा त्वदीयवियोगेन दुर्बलीकृताहं क्षणमपि तं सोढुं नैव शक्ष्यामि। स्वामिन्! अत एव मयि प्रसद्य कृपां चानीय तूर्णमेव पुनर्दर्शनं दातव्यम्। त्वदेकमनसं मामनाथां मा विस्मार्षीः, इत्येव शतशः साञ्जलिस्त्वां प्रार्थये। नृपोऽत्र कदाचित् पञ्चमे दिवसे समायाति, अतस्तदीयभीत्या मामकं प्रेम मुधा मा त्याक्षीः। इति तद्भाषितमङ्गीकृत्य स्वसदनं जिगमिषुर-श्रुपूर्णदृशा तयाऽनुगतः सार्थवाहस्तद्गवाक्षोपर्यायातः। तदनु पुरोक्तसङ्केतमधस्तात्स्थितमित्रं प्रत्यकरोत्। तच्छ्रुत्वा सोऽप्याशु पुच्छबद्धदृढतररज्जुकां चन्दनगोधां तत्सौधोपर्यारोहयत्पुरेव, ततस्तत्पुच्छबद्धरज्जुं गृहीत्वा सार्थवाहो नीचैरुत्तीर्य चेतसि भुक्ता-मतिवल्लभां तामेव रमणीं ध्यायन् सख्या सत्रा निजसदनमायातः।

अथ सार्थवाहे निर्गते सति तद्विरहमसहमाना सा राजपत्नी कपिकच्छुस्पृष्टेव सर्वाङ्गसञ्जातकण्डूतिव्यथाकुला लेशतोऽपि शान्तिं नाप्नोत्। तस्या मनःकानने सार्थवाहवियोगाऽग्नौ जाज्वल्यमान-तामुपगते चिन्तारूपया तच्छिखावल्या तदीयसुखरूपो महातरुर्भ-स्मसादजायत। तत्सार्थवाहसमागमतृष्णोद्भूतादभ्रदुःखव्यथिताऽत एव यूथभ्रष्टा हरिणीव महता कष्टेन दिवसमपि वर्षमिव गमयितुं लग्ना सा राज्ञी। तत्पश्चात्स सार्थवाहो नसि न्यस्तरज्जुको बलीवर्द इव तत्प्रेमपाशाकृष्टः पुना रात्रौ तस्या अभ्याशमागात्। तदनु यथा निज प्रेयस्यारमते तथा तया साकमशङ्कमशेषां रजनीमरंस्त।

पुनरसौ निशावसाने स्वमालय-माययौ। इत्थम् प्रतिरात्रं गमागमं कर्त्तुमलगदसौ सार्थवाहः। एवं नयनाऽऽरामिकेण रोपितः, सरसालापवारिदेन सिक्तः, सम्भोग-मनोरथेनातिगाढतां नीतस्त-दुभयोः प्रेमवृक्षः क्रमशोऽवरीवृध्यत। निशानिशाकराविव तावुभावन्योऽन्यविरहाऽसहिष्णू क्षणमपि वियुक्तौ न शुशुभाते।

अथ तस्याः कथनात्सार्थवाहो विश्वस्तपुरुषैरात्मगृहमारभ्य तत्सौधीयमूलस्तम्भावधिकां महतीं सुरङ्गामचीखनत्। तत्र भित्तौ कृतद्वारतः समाकृष्याऽऽनीय तन्मध्यभागे समापिपत्। तत्परितः सोपानानि कारितानि, स्तम्भस्य मूलद्वारमध्यभागे शयनस्थानं सुन्दरं कारयित्वा गृहमध्यभागे (स्तम्भाग्रभागे) कोऽपि नो जानीयादीदृशं द्वारमकारि। "द्रव्येण वशीकृताः कारवस्तस्य सार्थवाहस्यादेशतः सर्वमेतत्तूर्णमेव गुप्त्या विदधिरे। द्रव्येण किं न जायते?, दुष्करमपि सुकरमेव जायते।" तदनु वृक्षोपरि भ्रमर इव स्तम्भोपरि निवसन् सार्थवाहस्तत्र गृहरूपे सरसि गत्वा राजहंसीमिव तां विक्रमोढां नित्यं भोक्तुमलगत्।

अथैकदा प्रभातेऽकस्मादेव राजा विक्रमार्कस्तत्रागात्, तत्कालविहितसम्भोगचिह्नलक्षितां तामवलोक्य मनसि राजाऽ-चिन्तयत्-अहो! किरातीवाऽसंयतां वेणीं कथमेषा बिभर्त्ति, तथा वानराणां क्रीडाभूमिरिवाऽस्याः पत्रावली कथं छिन्ना दरीदृश्यते?, तथा प्रफुल्लितयोर्गल्लयोस्ताम्बूलरागाङ्कः कथमजायत, तथा सुरताऽऽयाससमुद्भूतप्रभूतस्वेदबिन्दुजालविभूषिताङ्गा नैशिक-जागरणजातरक्ततरलोचनयुगला एवमशेषच्युतताम्बूलरागसन्द-ष्टाऽधरपल्लवा कथङ्कारमेषा लक्ष्यते? इति। हंहो! इहैकस्तम्भ-प्रासादे पुरुषान्तरप्रवेशाऽसम्भवे सति स्थिताप्येषा कथमन्यपुरुषेण सम्भुक्ता जाता, इत्थं सुरक्षितापि खण्डितशीला यदेषा कामकिङ्करी जज्ञे, अत एतां धिगस्तु।

अस्या मनोवाञ्छितं फलं कल्पतराविव मयि पूरयत्यपि यदेषा पुरुषान्तरमसेवत, तदद्भुतं जज्ञे। अनुमीयते च यत्कामिनीषु दुःपूरतैव तिष्ठतीति। एषा यदि सती मन्येत तर्हि शरीरेऽस्याः सुरतचिह्नानि तात्कालिकानि कथङ्कारं दृश्यन्ते?, किञ्चैकाकिन्या भवनेऽत्र तिष्ठन्त्या अस्याः कपोलयोश्चुम्बनजन्यस्ताम्बूलरागो दन्तक्षतं च कथं जायेत?, तस्मादवश्यमेषा केनापि रसिकेन पुंसा साकमनवरतं रंरम्यते खलु। ईदृशीमसतीमप्यहं सतीं जानामि?, अहो! ममापि भीतिं विमुच्य यः पुमानत्राऽऽयाति सम्भोक्तुमेनां, सोऽप्यहमिव सिद्धाञ्जनादिविद्यो भविष्यति?, नो चेत्कथमत्र प्राणापहारिस्थले समागत्येदृशमकृत्यमाचरेत्कोऽपि। तेन जारेणापीदानीमत्रैव क्वचिद्दूर एव भाव्यम्, यस्मादेषा तत्कालकृतसम्भोगलक्षणा समीक्ष्यते। इत्थं वितर्कयन् विक्रमार्को राजा तज्जारपुरुषावलोकनाय तत्र सर्वत्र दृशं प्रसारयामास, परन्तु काष्ठमध्ये कीटो यथा केनापि नो लक्ष्यते, तथैव स्तम्भाग्रे स्थितं तं जारं नैवाऽद्राक्षीत्। तदनु निद्राभङ्गान्निमीलिताक्ष्या राज्ञ्याऽविदिताशय एव राजा निजस्त्रीप्रेमपयःपायिनं जारमार्जारं [1]बुभुत्सुः स्वसदनमायातः।

पुना रात्रौ वेषं परावर्त्त्य नानाविद्यासम्पन्नश्छन्नतया पर्यटन्, एकं योगिनमालोकत। जीर्णतरकन्थाछन्नसाक्षात्कपटमूर्तिमिव भासमानं जीर्णकन्थाऽऽवृतगात्रं करधृतमनोहरानेकविधमिष्टान्नफलपुष्पादिकं योगिनमुदीक्ष्य मनसि जातशङ्को राजा विक्रमार्को गुप्तरीत्या तदनुपृष्ठमचालीत्। तत्र मठे गत्वा कमठ इवावृताशेषगात्रोऽतिष्ठदलक्षितः क्वापि राजा। तस्य योगिनश्चरित्रं जिज्ञासू राजा किलैकाग्रचित्तो यावदतिष्ठत्तावत्स योगी सर्वत्र प्रसृते तमःस्तोमे निजजटाकलापत एकां षोडशवर्षीयामतिसुन्दरीं युवति-

1. बोद्धुमिच्छावान्

माविरकरोत्। तदनु प्रथमं लघुकरणविद्यया लघीयसी कृतां तां विद्यान्तरेण तरुणीं विधाय मिष्टान्नादिकं भोजयित्वा ताम्बूलादिकं समर्प्य ततो रन्तुमारेभे। तया योगिन्या सह चिरं स्वैरं रमित्वा सुरतश्रमात्स योगी सुष्वाप। अतिगाढनिद्रामुपगते तस्मिन् योगिनि सा योगिन्यपि निजातिलम्बवेणीत एकामतिलघुं डिब्बिकां निष्काश्य तन्मध्यतः सूर्यप्रभा पद्मिनीकोशमध्यादलिमिवातिलघुं पुरुषं प्रकटीकृत्य विद्यया तं तरुणमतिसुन्दराकारं विधाय तेन सत्रा कामं रन्तुं प्रावर्त्तत। यथा कश्चिद् व्यालग्राही भोगिनं रमयित्वा कृतकुण्डलाकारमेनं करण्डके क्षिपति। तथा सा योगिनी [1]चिरय-भनात्कृतकृत्यतां नीता सती विद्यया तमुपपतिं लघुं कृत्वा तस्यामेव डिब्बिकायां स्थापयित्वा तां वेण्यां धृतवती, तदनु भर्त्तुर्योगिनः पार्श्वं गत्वा शिष्ये।

आश्चर्यवहं कौतुकमेतद्विलोकमानो राजा विस्मयमानश्चिन्तया-मास अहो! यामेष योगी पुरुषान्तरमैथुनभिया विद्यायो-गादूपान्तरविधानेन शिरसि गुप्त्या रक्षति, सापि जारेण साकमेवं स्वैरं क्रीडति, तर्हीतरासां कामिनीनां सतीत्वं को मतिमान् पुमान् श्रद्दधीत?, यतः सततं निजशरीरे विद्याप्रभावेण रूपान्तरं विधाय संरक्षिता कामिनी यदि जारं भजमाना प्रत्यक्षमैक्षि, अन्यासां तर्हि का वार्त्ता?, स्वपतिसन्निधावहर्न्निशं या तिष्ठति सापि कामिनीयं भीतिमपहाय जारं भजते तर्हि कथमेनां निसर्गतो भीरुमिति जल्पन्ति? अथवा, त्रिभुवनविजित्वरकुसुमधन्वनः साहाय्येन निसर्गादेव युवतयो भयमुज्झन्ति। किमथवा "सुसो जनो मृतकल्पो जायते" इति किंवदन्त्या सुसं स्वपतिं मृतं जानाना निर्भीका सतीयं पुरुषान्तरं सेवते?, किञ्चेयं "कमपि पुरुषान्तरं मा सेवेत" इति धियैवासौ योगी जागरितः सन्नेतां विद्यामहिम्ना वशीकृत्य ततो लघीयसीं

1. दीर्घ विषय सेवनात्

विधाय सदाऽऽत्मपार्श्व एव रक्षति।

अस्याः स्त्रिया ईदृशादाचरणादितरे महान्तः सन्तोऽपि लघुतां प्रपद्यन्ते, ईदृशाऽन्यायतत्परयोरनयोर्विद्याऽप्यविद्येव शोभां नो धत्ते। किञ्चेयं "कामिनी पुरुषकमले सङ्कोचविकाशौ जनयति," तेन ज्ञायते यथा भानोर्भानुः समानो नो जायते, तथा विद्याप्येषा समाना नो भवितुमर्हति, किञ्च यथाऽस्या विद्याप्रभावतः सदपि कुलटात्वं दुर्ज्ञेयमस्ति, तथैवाहमप्यात्मस्त्रिया दुश्चरित्रं ज्ञातुं न शक्नुयां जात्वपि। तस्मादद्यावधि लोकैरज्ञातमस्या दौःशील्यमतिगुप्तं महारोगं भिषगिव प्रकाश्य स्वीयराज्ञ्या अपि चिरकालिकं कौशल्यं यथा तथाऽवश्यमहं प्रकटयिष्याम्येव, नो चेदग्रे शोभनं न स्यात्। यद्यपि मादृशां परदोषोद्घाटनं नो घटते, पापजनकत्वात्तथापि महाधूर्त्तानां धौर्त्त्योद्घाटने कथमपि दोषो नैव लगति, प्रत्युत धर्म एवोदेति, इत्यवधार्य निजसदनं समागत्य राजा शिश्ये।

पुनर्गतायां क्षणदायां प्रभात उत्थाय, तत्र मठे समेत्य तं योगिनमत्याग्रहेण निमन्त्र्य तेन सत्रा तत्रैकस्तम्भभवने समागाद्राजा। तत्रागत्य षण्णां दिव्यां रसवतीं भोजनसामग्रीं पक्तुमादिशद्राज्ञीं क्षितीश्वरः। तेषां भोजनाय रम्यप्रदेशे पृथक्पृथक् पञ्चासनानि तावन्ति जलभृतनीरपात्राणि, तावतीः स्थालीश्च स्थापयाञ्चक्रे। ततः क्षितीन्द्रस्तत्र भवने निश्रेणिका-प्रयोगेणाऽऽरूढं योगिनं सुपयसा स्नपयित्वा प्रथमासने समुपावेशयत्तदनु योगिनं राजाऽऽख्यदेवम् योगिन्! या ते प्रेयसी वर्त्तते सापि क्षुधा-परिपीडिताऽऽसीदिति तामभोजयित्वा कथं भोक्ष्यसे?, अपि च तस्यां क्षुद्बाधितायां? सत्यां त्वां भोजयतो ममापि पङ्क्तिभेदजो दोषो लगिष्यति। अतः स्वजटातस्तां स्त्रियं प्रकाश्य द्वितीयेऽ-स्मिन्नासने स्थापय?, यतः सा मया निजदृशैवाऽऽलोकि, अतो मामेतद्विषये मा वञ्चय?, झटिति तां प्रकट्य भोजय?, एतदेवाऽधुना

युक्तं मन्यस्व। अत्याग्रहात्क्षितिपतेरेतद्वचनमाकर्ण्य योग्येवं मानसे दध्यौ-हंहो? यां सूर्योऽपि द्रष्टुं नो शक्नोति तामेष कथङ्कारमपश्यत्। नूनमसौ भूजानिर्निशि गुप्तचर्यायामितस्ततः पर्यटन् कदाचित्तामदर्शत्, अत एव साम्प्रतं गुप्तभेदमेनं राज्ञा ज्ञातं वञ्चयेय चेद्वरं न स्यादिति विचिन्त्य मङ्क्षु जटाकलापतस्तामाविष्कृत्य विद्यया च प्रौढां विधाय द्वितीयासने समुपावेशयत्। तत्रावसरे तामप्यवक् राजा भद्रे! त्वमपि निजवेणी-स्थिताया लघुडिब्बिकायाः प्रेयांसं जारं प्रकटय?, यतः स्ववल्लभं क्षुधातुरं हित्वोत्तमानां जनानां भोजनकरणमनुचितं भवति। त्वां भजमानो योग्यसौ यथा योगाभ्यासस्य जलाञ्जलिमदात्तथैव जारं सेवमाना त्वमपि पातिव्रत्याय जलाञ्जलिमदिथाः। अत एव जारप्रकटने भर्त्तुः काऽपि भीतिस्त्वया नैव कार्या। यो दोषो द्वयोस्तुल्योऽस्ति तत्रैको द्वितीयं नो दूषयतीति न्यायमतम्। तथा च नैयायिकः-

यत्रोभयोः समो दोषः, परिहारोऽपि तत्समः ।
नैकस्तत्र नियोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥२०॥

व्याख्या - यत्रोभयोः समः-समानो दोषस्तत्र परिहारोऽपि तद्दोषवारणमपि तयोरुभयोः समान एव भवति, तत्रद्वयोर्मध्ये तादृगर्थविचारणे - तद्दोषपरिहारायैको नैव नियोक्तव्यः, उभयोः समत्वात्।

किञ्चातिकामुको योग्यसौ षड्भिर्लोचनैस्त्वामहर्निशं गोपायति, तथाप्यहं तदीयमेतद्वृत्तं यथाऽज्ञासिषम्, तथैव तावकीनमपि चरित्रमतिगुह्यमहं वेद्मि, अत एव भयं व्रीडां वा विहाय मद्वचनमादृत्य वेणीन्यस्तडिब्बिकास्थं जारं बहिष्कुरु। इत्थं नृपाग्रहेण भीति-मुज्झित्वा प्रथमं डिब्बिकातोऽतिह्रस्वं पुरुषं प्रकट्य पश्चाद्विद्यायोगेन यथोचितं तं कृत्वा तृतीय आसने समुपावेशयत्।

तदनन्तरं राजा राज्ञीमित्याचख्यौ-सुन्दरि! त्वमपि योगिनीव

मद्वचनं मत्वा सत्वरं स्वकीयं जारं प्रकाशय?, इति राज्ञ आदेशमाकर्ण्य मनसि साहसमानीय सकोपं निगदितुं लग्ना- "स्वामिन्! किमहं कुलटास्मि, यज्जारं सेवेय?, ईदृशमयोग्यं किमात्थ?, अहं सत्यमालपामि-यन्मे प्राणाधारः प्राणप्रियस्त्व-मेवाऽसि कोऽप्यन्यो नैवास्ति। अपि च मम रक्षणे विपदि वा शरणभूतस्त्वमेवाऽसि, किञ्च, मन्मनोऽभीष्टफलप्रदानात्त्वं चिन्ता-मणिकल्पोऽसि, मत्पोषणाच्च जीवितव्यमपि त्वमेवाऽसि। किमन्यन्निगदामि-कल्पतरुमिव सकलमनोरथपूरयितारं त्वां विमुच्य करीरमुष्ट्रीव पुरुषान्तरं कथङ्कारमहं स्वप्नेऽपि सेवेय, जात्वेवं नैव सम्भवतीति तत्त्वम्। किञ्चान्यापि कुलाङ्गना जारं मनसापि नैव भजते, तर्हि सत्कुलजाता महीयसस्ते कुलवधूर्भूत्वाऽहं पुरुषान्तरं सेवेयेति कदाचिदपि नैव घटते। तस्माद्विद्वच्छिरोमणे! तव मुखादीदृगनृताऽसभ्यवचनोद्गारः कथं निःसरीसरीति?।

तस्या ईदृशं वच आकर्ण्य राजा मनसि दध्यौ-अहो! महाद्भुतमेतत्कीदृशीयं साहसभूमिः, मामेवाऽनृतभाषिणं प्रथयन्ती विलसन्तमपि दोषमपलपति। हंहो! स्त्रीचरित्रवेदिनां महतां वचनमियं स्वीयदुश्चरित्रं जानानापि सत्यापयति। अर्थात् स्त्रीचरित्रताया दुर्ज्ञेयतामेव सर्वथा व्यनक्तीयं तथा तद्वेदिनां विदुषां बन्धनमपि स्पष्टमेव सत्यापयति। कीदृगस्या वैदग्ध्यं साहसं च वर्तते। महदाश्चर्यमेतत्तथाप्यहं केनोपायेनैनां प्रतिबोध्य जारं प्रकटयिष्याम्येव, इति मनसि निर्धार्य तामित्याख्यद्राजा- अयि कामिनि! कदाचिदप्यहमनृतमेतन्नो जल्पामि, न वाऽसभ्यं कमपि भाषे। यतोऽहं गतेऽहनि प्रभातकालेऽत्रागतोऽहं तात्कालिक-सुरतचिह्नलक्षितां त्वामद्राक्षम्। [1]यभनं च पुरुषमन्तरा नैव सम्भाव्यते। तस्मात्प्रत्यक्षीकृतमर्थं मुधा किमपलपसि?, अहं सत्यमेव वदामि। तस्मादात्मोपपत्तिं दर्शय?, वृथा मां मा प्रतारय?,

1. यभनं = विषयसेवन

मत्तश्च तद्दर्शने मनागपि भयं मा कृथाः। यतस्त्वां जारं वा नाहं हनिष्यामि। स्वयमेव चेत्तं दर्शयिष्यस्यधुना तर्हि युवयोर्लेशतोऽपि मत्तो भीतिर्नो भविष्यति। अन्यथा विद्ययाहं प्रकटीकरिष्यामि चेद् युवामसंशयं निहनिष्याम्येवेति सत्यं विदाङ्करोतु भवती।

इति नृपोक्तिमाकर्ण्य भयपवनविध्वस्तगाढकौटिल्यमेघमाला राज्ञी गगनवत्सुप्रसन्ना सती वचनलक्षणतारागणमुद्द्योतयि-तुमलगत्-सर्वंसह! स्वामिन्! आवयोरुग्रतरमसहनीयमपि मन्तुं क्षमस्व, क्रियतां च निगदिता वाक् सत्या, अर्थात्-"यत्प्रतिज्ञातवान् महीयान् भवान् युवां नैव हनिष्यामीति" तदवश्यमस्तु सत्यमेवेति निगद्य तत्कालमेव सङ्केतं तस्मै सार्थवाहाय दत्तवती। सोऽपि झटित्येव तत्र प्रकटीभूय राजानं विलोक्य सागरोऽगस्तिमुनिमिव वितत्रास। तत्रावसरे त्र्याहिकशीतज्वरजाताऽतिवेपथुमिव सर्वाङ्गे कम्प्रं दधानं तमालोक्य राजा न्यगादीत्-अरे! मा भैषीः, तवापराधं पुराऽहमक्षमिषि। तदा सार्थवाहो मनसि धैर्यमापद्य प्रथमं राजानं नमश्चक्रे। तदनु हर्षाम्बुधौ निमग्रतामुपनीतः सगद्गद्गिरा क्षोणीशं निगदितुमारेभे-प्रभो! मया दुराचारिशिरोमणिना यदीदृशमकार्य-मकारि तर्हि सज्जनशिरोमणिना त्वया प्रभुणा तत्क्षन्तव्यमेव, यतः-"प्रतिकर्त्तुमशक्तस्य लोके क्षमणं भवत्येव तत्र किं चित्रम्?, यो हि तत्प्रतिक्रियां कर्त्तुमर्हति, स यदि कस्यचिदज्ञस्य महान्तमपि मन्तुं सहेत, तर्हि तत्समो क्षमी नान्यः कोऽपि। अन्यः क्षितिपतिस्तु मन्तुमन्तरापि क्रव्याद इव लोकान् कृतान्ताऽतिथीन् विधत्ते। भवांस्तु-असहनीयेऽप्यपराधे क्षमासागर इव मां लेशतोऽपि नाऽपीडयत्। तस्माद्यस्याऽल्पीयसी शक्तिर्भवति स एव वृश्चिक इवाऽन्यं पीडयति। ईदृशा दुर्जना यमुनासोदराकाराः पृथिव्यां भूयांसः सन्ति, परन्तु फणिराज इवाऽतुलसकलशक्तिमान् कृताग-स्यपि जने क्रोधलेशमप्यकुर्वन् भवादृशस्तु विरल एव सम्भवति।

अयमभिप्रायः-शेषो यथा बहुशक्तिमान् भूत्वा क्षमां-पृथ्वीं धरते, तत्रस्था लोका असहनीयानप्यपराधान् कुर्वते, तानपि सहते, कदापि धृतां पृथ्वीं नैव जहाति। तथैव ये राजानः क्षमां शान्तिं दधते, प्रजाश्च पालयन्ति, ते तु कृतागसामज्ञानामुपरि क्रोधमपहाय प्रसादमेव दर्शयन्ति। किञ्च, सर्वविदां शक्तिमतां क्षमैव सर्वस्वं भवति, अतस्ते महात्मानः क्षमाकाले तेषां दोषानशेषान् विस्मरन्त्येव। यद्यपि जगति शक्तिमतां क्षमा कुत्रापि न दृश्यते, तथापि त्वयि शक्तिशालिन्यपि यदनुपमा सहनशीलता विद्यते तत्प्रशंसनीयमेवाऽस्ति। इयं जगती त्वादृशे क्षमाकारिणि पुरुषरत्ने सत्येव "रत्नगर्भा" इत्युच्यते। तामन्वर्थां त्वमेव कुरुषे, नाऽन्यः कोऽपीति सत्यं मन्यामहे।

इत्थं चातुर्येण जल्पन्तं सार्थवाहं राजा तुर्यासने समुपावेशयत्, ततः कापट्यपरिपुष्टतां नीतां तां स्वकीयां राज्ञीं पञ्चमासने समुपावेशितवान्। तदनु राजा स्वयमेव तान् पञ्चापि सरसं भोज्यं भोजयित्वा स्वयमभुङ्क्त। ततस्तं योगिनं सत्कारपूर्वकं विससर्ज, सार्थवाहं चान्तिके समस्थापयत हार्दिकप्रेमाऽमृतरसनिर्भरेण।

श्रीसौधर्मबृहत्तपाख्यभुवनख्याताऽच्छगच्छाधिप
श्रीराजेन्द्र-जगज्जयिष्णुचरणाम्भोजद्वयान्ते सदा ।
एतस्मिन् रचिते यतीन्द्रमुनिना गद्यप्रबन्धे द्वितीयः
श्रीचम्पकमालिकीयचरितेप्रस्ताव एषोऽनघः ॥१॥

अथ तृतीयः प्रस्तावः प्रारभ्यते

अथोत्तमोत्तमच्छवी राजा सर्वाङ्गकमनीयस्य तस्य सार्थवाहस्य प्रत्यङ्गोपाङ्गं स्निग्धया दृशा परिपश्यन् सौवर्णिकां चम्पकमालामिव सार्थवाहमूर्ध्निस्थितां चम्पकमालामम्लानामपूर्वामद्राक्षीत्। तामालोक्य मनस्युद्भूतमहाश्चर्यो राजा तमप्राक्षीत् सार्थेश! मदङ्गसङ्गात्कुसुमस्रगचिरादेव म्लायति, भवन्मूर्धन्येयं कुसुममाला कथङ्कारमम्लाना लक्ष्यते, किमियं देवार्पिता यन्नो म्लायतीति सत्यं निगद?। इत्याश्चर्यवहं क्षितिपतेर्वचः श्रुत्वा सार्थवाहो राजानमवोचत्-प्रभो! यदहं तत्कारणं निगदामि, तदवितथमेव ज्ञातव्यमलीकं मा वेदीः। मम मूर्धनि स्थितेयं माला मत्पत्न्या अखण्डशीलप्रभावादेव न जात्वपि म्लानिमावहते। पुनराह राजा-श्रेष्ठिन्! सम्प्रतिकाले स्त्रीणामखण्डं शीलं शश-विषाणवदेव प्रतिभाति, मया तु काचिदप्यखण्डितशीला कामिनी नैवाऽऽलोकि, तर्हि कथमेतत्सत्यं मन्यामहे?। सार्थवाह उवाच-स्वामिन्! श्रूयतामेतदामूलतः-

अङ्गदेशे साक्षाच्छ्रीसदनमिव सर्वर्द्धिशालिनी चम्पा नाम्नी नगरी महीयसी चाचकीति। तत्र कुबेरोपमो धन्नाभिधानः श्रेष्ठ्यभूत्। तस्य धनकेलि नामा पुत्रोऽस्म्यहम्। सोऽहं बालचन्द्रमाः प्रतिघस्रं वर्द्धमानो भवन् कलया परिपूर्णीभवंश्च यथा सागरमाह्लादयते तथा क्रमशः प्रत्यहं नवनवाः कला गृह्णन्, शैशवं त्यजन्, सल्लावण्यपीयूषैः पूर्णीभवन्, तारुण्येनोल्लसंश्च निजकुलोदधिं प्रैधयितुमलगम्। इतश्च कौशाम्ब्यां पुर्यां विमलवाहमहेभ्यस्य

साक्षाल्लक्ष्मीरिव रुक्मिणी नाम्नी तनयाऽऽसीत्। पित्रा च महतामहेन तस्याः पाणिपीडनं मयाऽकारि। ततस्तां प्राणतोऽप्यधिकप्रियां स्वसदनमनैषमहम्। ततोऽहं तया साकं निर्भाग्यप्राणिदुरापमनुपमं भोगं भोक्तुमलगम्। अथैकदा प्रस्तावे पण्डितोक्तं नीतिवाक्यमहमश्रौषम्। तथाहि-यः खलु पितुर्लक्ष्मीं भुङ्क्ते स पुमान्महा-पापीयान् देवदारुतरुरिव पितुः सुखाय नैवार्हति। यदुक्तम्-

जनकार्जिता विभूतिर्भगिनीति सुनीतिवेदिभिः सद्भिः ।
सत्पात्र एव योज्या, न तु भोग्या यौवनाभिमुखैः ॥२१॥

व्याख्या - जनकेन = पित्राऽर्जितोपार्जिता विभूतिरैश्वर्यं भगिनी = स्वसेति सुनीतिवेदिभिः = सन्न्यायज्ञैः सद्भिर्महाजनैर्निगदितास्ति, अत एवेयं भगिनीरूपा विभूतिः सत्पात्रे = योग्यतमे पुंस्येव योज्या = प्रदेया, यौवनाभिमुखैस्तरुणैः पुंभिः स्वयं, नतु - नैव स्वयं भोग्या जात्वपीति भावः। अन्यच्च -

स्तन्यं मन्मनवचनं, चापलमपहेतुहास्यमत्रपताम् ।
शिशुरेवार्हति पांशुक्रीडां भुक्तिं च पितृलक्ष्म्याः॥२२॥

व्याख्या - लोके हि स्तन्यं = स्तन्यदुग्धपानं, मन्मनवचनं=यादृशतादृशजल्पनम्, चापलम् = चपलताम्, अपहेतुहास्यम् = अकारणहसनम्, अपत्रपताम् = लज्जाराहित्यम्, पांशुक्रीडां = धूलीरमणम्, पितुर्या लक्ष्मीर्भगिनी तस्या भुक्तिं= भोगं च शिशुरज्ञ एवार्हति कर्त्तुमिति शेषः, नैवेतरः कोऽपीति।

इति नीतिवाक्यमाकर्ण्य जलमार्गेण द्रव्योपार्जनाय यियासुं मां कदाचिज्जलादुपद्रवः सूनोर्मे स्यादिति शङ्कया पिता न्यषेधीत्। ततोऽहं विविधविक्रेयवस्तूनि वृषभोपरि कृत्वा स्थलेनैव व्यापर्त्तुं

देशान्तरमगाम्। तत्र गत्वा तानि विक्रीयाऽचिन्तितं लाभमलप्सि, तदनु तद्देशीयनानाजातीयक्रीतवस्तुजातभृतलक्षवृषभान् निजगृह-मानीय निजपितरं समतूतुषम्। इत्थं देशे विदेशे च पौनःपुन्येन व्यापर्त्तुं गमागमौ कुर्वन्नहमपरिमितां लक्ष्मीमुपार्जितवान्। तदा मदीयवृषभयूथखुरक्षुण्णा धूलीपटलोत्क्षेपाद्वर्षर्त्तुभिन्नकाले गगन-मन्धीकृतं विलोकमाना दिनेऽपि सूर्यमपश्यन्तः खमनवरतं मेघाऽऽच्छादितमिव जानानाः सर्वे लोका मां गगनधूलिरिति वक्तुं लग्नास्ततः प्रभृति सर्वत्राहं गगनधूलि नाम्नैव प्रख्यातिमगमम्। तत्रावसरे चम्पानगर्यां काचिदेका सकलकामिनीजनमूर्धन्या रूपलावण्याऽवर्ण्यसौन्दर्यसदनं कामपताका नाम्नीरूपाजीवा न्यवात्सीत्। अथैकदा गवाक्षे सुखासीना सा वेश्या तेनैव पथा गच्छतो मे मनः सहसैवाऽपहृतवती। या खलु मुनीनामपि सुस्थिरं मनश्चालयितुमुर्वशीव लोके प्रथितास्ति, मामकं चेतः कुटिल-कटाक्षादिपातेन क्षणाज्जहे तत्र किमाश्चर्यम्, ततोऽहं शरीरसदने स्थितं मनोवित्तममूल्यमपि तया चोरितमालोक्य निन्दनीयमेतदिति जानन्नपि तदनुरागाधिक्यात्तां प्रेयसीमकरवम्। तदनु यथा बलीवर्दो गामनुगच्छति तथाहं तत्प्रेमरज्जुसमाकृष्टस्तस्या अन्तिकमयासिषम्।

तत्रावसरे पङ्कजाऽऽसीना लक्ष्मीर्यथा निजाऽसीमतनुश्रिया दशदिशो विद्योतयते, तथा सापि कामपताका मनोरमस्वीय-सौधान्तः सिंहासनोपरिसुखासीना निजनिरवद्याऽशेषगात्रच्छविश्रिया दशदिशः प्रकाशयन्ती, सर्वाङ्गे रत्नाभरणानि मनोहराणि धारयन्ती, त्रिभुवनयुवजनमनो विजेतुं रतिपतेः साक्षादस्त्रमिव भासमाना, मेनका रम्भादिनिलिम्पाङ्गना अपि तनुत्विषा हेपयन्ती, शिरीष-पुष्पादधिकतरपेशलाङ्गी, तडिद्गौरवर्णा, सुतारुण्यपूर्णा, निजा-गण्यपुण्यलावण्ययोगाद्दासीकृतनृपेन्द्रादिश्रीमज्जना, मदिरा-

वदुन्मादकारिबिम्बाधरोष्ठी[1], दलदरविन्ददलायताक्षी, मयाऽऽ-लोकि। अथाऽशेषवेश्याश्रेयसी सापि सरसयुवश्रीमञ्जनेन सह प्रीतिं कामयमाना तादृशमनुरागिणं मामवलोक्य स्मेरमुखी कटाक्षयन्ती निजासनादुत्थाय कुड्मलीकृतपाणिपल्लवा जल्पितु-मारभत-सुन्दर! अत्राऽऽगच्छ, मयि दास्यां कृपादृष्टिवृष्टिं कुरु, निजवाञ्छितं कथय?, यच्चिकीर्षसि तद्विधेहि, मामकं यौवनं तवाधीनमेवेति सत्यं जानीहि।

राजन्! तस्या इत्थं वचनरचना आकर्ण्य तदीयगुणगणाऽ-गण्यतारुण्यरूपलावण्यमोहितोऽहमपि तस्याः सदने न्यवात्सम्। रम्भादिवेश्यया सत्रा देवतेव तया साकमनारतं क्रीडितुं लग्नश्च। प्रतिदिनं च यावन्ति धनानि साऽचीकमत, तावन्ति पित्रार्पि-तानि धनानि तस्यै दातुमलगम्, इत्थं द्वादशवर्षाणि मम तत्र व्यतीतानि। अथैकदा धनजिघृक्षया स्वदासीं मत्पितुः पार्श्वमप्रैषीत्प-रन्तु कृपणालयाद् भिक्षुकमिव धनं विना प्रत्यागतां दासीमुदीक्ष्य मतिविकलाऽर्थमात्रलोलुपा सा वेश्या मामित्यवोचत्-अये पामर! त्वमधुना निर्धनतां यातोऽसि, अत एवाऽतः परं मदीयभोगाशां जहीहि, मम वासं त्यज, निजालयं व्रज। यतः मादृशां सदने निर्धना नैव स्थातुमर्हन्ति क्षणमपि। याः खलु रूपाजीवाः सन्ति ताः समस्ताः सधनानामौदार्यशीलानां पुंसामेव वश्यास्तिष्ठन्ति जात्वपि त्वादृशान् रङ्कान् नैव कामयन्ते, इति सर्वे जानन्ति। निर्धनतां गतवति त्वयि मम प्रेम कथङ्कारमतः परं जायेत?, निर्धनपुरुषं तु सखाऽपि वैरीव पश्यति। तत्र हेतुःजलहीनं कमलवनं पद्मबन्धुर्भूत्वापि सहस्रांशुः किं न शोषयति?, अपि तु शोषयत्येव। किञ्च कलावन्तमपि श्रियोज्झितं पुमांसं मतिमन्तो जनाः कदापि

1. १.२.१७ सिद्ध. पूर्व अ लोप विकल्पे ।

नोररीकुर्वते, किन्तु क्षीणचन्द्रं दैवज्ञा इव त्यजन्त्येव। अतः, इतो याहि, मयि चिराद्यथाऽऽसीदनुरागस्तथाऽग्रे चिकीर्षसि चेद्धनान्युपार्ज्य सत्वरं पुनरत्राऽऽयाहि, नान्यथा। इत्थं धनमात्रलोलुपायास्तस्याः कद्वचः संश्रुत्याऽहमित्यशोचम्-हंहो! नूनमेषा धनमात्रं कामयते, दाक्षिण्यतो मनागपि नैव त्रपते, यस्मादियं चिरेण कृतानुरागिणं दत्तभूरिधनमपि मामेवं जल्पन्ती समुज्झति। या खलु धनलोभात्कुष्ठिनमपि मदनमिव मन्यमाना परिषेवते, तस्यामर्थमात्रसारायां तथ्यानुरागः कुतः सम्भवेत्?, न कदाचिदपि। तथा चोक्तम् -

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च, जराजीर्णाखिलाङ्गाय च।
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च, गलत्कुष्ठाभिभूताय च ॥
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया ।
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिका-शस्त्रीषु रज्येत कः? ॥२३॥

व्याख्या - जात्यन्धाय = जन्मान्धाय, दुर्मुखाय = कुरूपाय, जरया = वार्धक्येन जीर्णानि = शिथिलीभूतान्यखिलाङ्गानि यस्य तस्मै बलरहिताय, ग्रामीणाय = चातुर्यादिगुणविहीनग्राम्यजनाय, दुष्कुलाय = नीचैस्तमकुलजाय, गलता = क्षरता कुष्ठरोगेणाभिभूताय = परिपीडिताय, इत्थंभूताय पुंसेऽपि लक्ष्मीलवस्य = स्तोकधनस्य श्रद्धया = लिप्सया मनोहरं निजवपुः = स्वशरीरं यच्छन्तीषु = ददानासु विवेक एव कल्पलतिका = कल्पवल्ली तस्याः शस्त्रीषु= कर्त्तरीषु पण्यस्त्रीषु = वेश्यासु कः पुमान् रज्येत = रागं बिभृयात्, न कोऽपीति भावः।

इति मनसि विमृश्य स्वीयवसनाऽऽभरणानि सहसैवाऽऽदाय किञ्चिद्दीनमना भवंस्तदालयादहं निरगच्छम्। बहुधा खिद्यमानः

प्रस्वेदबिन्दुविभूषितगात्रः पथि व्रजन् प्रतिपदं स्खलञ्छीघ्रमहं स्वसदनमागाम्। तत्र चारण्यमिव शून्यं नष्टाऽशेषभवनं स्थल-मात्रमवशिष्टमालोक्य लोचनाभ्यामश्रुधारां मोक्तुं लग्नः। तदानीं वेश्यापमानदुःखाग्निदग्धोपरि निजसदनधनपरिजनादिक्षयोद्भू-ताऽसहनीयं दुःखं व्रणोपरि स्फोटकमिव ममाध्यजायत। तदानीं मे यदभूद् दुःखमवाच्यं तत् खलु परमात्मैव जानाति। तदनु कथमपि स्वास्थ्यमवाप्य पार्श्ववर्त्तिलोकानपृच्छम्-यन्मे मातापितरौ क्व गतौ?, गृहाश्च ममाऽत्राऽऽसन्, ते कथमत्र नो दृश्यन्ते?, तथा मामिका पत्नी क्वाऽगात्?,

लोका अवोचन्-भो आर्य! त्वां वेश्यासक्तं विदित्वा पुत्रधन-वियोगेनात्यन्तं दुःखमनुभूय च तव मातापितरौ मृतौ। यतो हि ''लोके पुत्रविरह एव दुःसहं दुःखमर्पयति तर्हि धनपुत्रयोरुभयोर्वि-योगे तादृशी दशा जायेत, तत्र किमाश्चर्यम्?, तदनु त्वत्पत्नी ''यन्मे भर्त्ता वेश्यासक्तस्तद्गृहे निवसति, गृहकृत्यदक्षामपि मां गृहान् लक्ष्मीं चोपेक्षते, कदापि सदने नायाति, श्वश्रूश्वशुरौ च मे मृत्युमधिजग्मतुः, अत एव भर्तरि सत्यपि तेन विना ममैकाकिन्या अत्र वासो न युज्यते?, सम्प्रति पित्रालय एव दुःखिन्या मम निवासः श्रेयानिति'' निश्चित्याऽवशिष्टाऽऽभरणवसनादिकमादाय क्रन्दन्ती, नष्टप्रायमालयमिदं जलाञ्जलिमर्पयन्तीव, यूयमस्मदे-तत्सदनं निपतितं रक्षतेति निजसम्बन्धिवर्गं सादरं मुहुर्मुहुर्बोधयन्ती कञ्चनैकं भृत्यं सार्धं नीत्वा कौशाम्ब्या निजतातसदनमगादिति तव पित्रोः पत्न्याश्च वार्त्तां जानीहि। वयस्य! भवितव्यं बलवदस्ति, ये खल्वत्र महीयांसो नरोत्तमा नलरामादयो जज्ञिरे तेऽपि तद्दूरीकर्त्तुमलं नैव बभूवांसः। तथा चोक्तम् -

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः,

स्वर्गो दुर्गमनिग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ।
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलिभिर्भग्नः परैः सङ्गरे,
तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥२४॥

व्याख्या - यस्य हरेरिन्द्रस्य बृहस्पतिर्वागीशो नेता = नायको मन्त्रयिता, वज्रं = प्रहरणमस्त्रम्, सुराः सैनिकाः = सेनाः, अनिग्रहः= परैरप्यधिगन्तुमशक्यः, स्वर्गो दुर्गम्, ऐरावतस्तन्नामा वारणो वाहनम्, इतीदृशैश्वर्यबलान्वितोऽपि स हरिरिन्द्रो बलिभि-र्बलवद्भिः परैः = शत्रुभिः सङ्गरे = संग्रामे भग्नः = पराजितः, तस्माद्दैवशरणं = भाग्यं = भवितव्यमेव शरणं वरं = श्रेष्ठमिति व्यक्तं = स्फुटम्, वृथा क्रियमाणं पौरुषमुद्यमं धिग् धिगस्तु। तथा च -

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रुं जयत्वाहवे,
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकलाः पुण्याः कलाः शिक्षतु ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं,
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः॥२५॥

व्याख्या - इह = संसारे कश्चिदम्भसि = जले मज्जतु, मेरोः शिखरमुपरिष्टाद् यातु तत्र गत्वा तिष्ठतु वा, आहवे = रणे शत्रुं जयतु, वाणिज्यं = व्यापारं वा पुण्याः = पवित्राः कृषिसेवनादिकाः सकलाः कलाः शिक्षतु = समभ्यस्यतु, अथवा परमन्यं श्रेष्ठं वा प्रयत्नमुद्योगं कृत्वा खगवत् = पक्षीव विपुलमतिविस्तीर्णमाकाशं प्रयातु, किन्तु कर्मवशतः = कर्मयोगाद् यदभाव्यं तन्नैव भवति, यच्च भाव्यं तदन्यथा नो भवति भवत्येव, यतो भाव्यस्य = भवितव्यतायाः नाशः कुतः = कथमपि नैव जायते, इति तत्त्वम्।

स्वामिन्! इत्थं गृहासन्नवर्त्तिलोकानामास्यतः पित्रोर्वार्त्तां निशम्याऽगदनीयमननुभूतमेव दुःखमभूत्, तदाऽहमशोचम्-हन्त!

मातापित्रोरीदृग्दुःखदातारं, व्यसनाऽऽसक्त्या समुद्भूतप्रभूतदुःख-सदनं, चन्द्रावदातमपि निजकुलं मालिन्यं नयन्तं मां धिगस्तु। हंहो! महति सत्कुले समुत्पद्याहमीदृशं नीचैस्तमं व्यसनमसेविषि, अतो मां धिग् धिगस्तु, यतो मया कुलकलङ्किना पूर्वार्जितमपि वित्तं महत्त्वं च व्यनाशि। यथा व्योम्नि नवोदितो नभोमणिस्तमः-स्तोमं निरस्य सुषमां दधाति, तथा कियन्तः सन्तः पुत्रा दुःखलक्षणं ध्वान्तनिचयमवधूय निजवंशाऽऽकाशं भृशमुद्द्योतयन्ते, यावज्जीवं निर्मलीभूय शोभन्ते च। निसर्गतो देदीप्यमाने कुले समुद्भूतोऽहमि-वाऽपरः कोऽपि कुलाङ्गारकल्पः पितुर्नामधामरक्षणाऽशक्तो नैवास्ति, यदहं पित्रोर्मरणमपि नाऽवेदिषं वेश्यासक्तचित्तत्वात्। अतो मे विवेकं गाढस्नेहं दाक्षिण्यं विनयं च धिगस्तु धिगस्तु। हंहो! व्यसनीभूय पूर्वसञ्चिताऽशेषधनविनाशी पित्रोरतिक्लेशोत्पादी सुजनवर्गे कथङ्कारमात्ममुखं दर्शयिष्यामीति। अथवेदानीं यदभूत्तस्य शोकेनाऽलम्, यतः "शोको हि मतिमतामपि मतिं विनाशयति तेन हि पश्चात्क्षयः समुत्पद्यते, तस्मिन्नुत्पन्ने क्रमशः क्षीणं भवदिदं शरीरमेव नश्यति।" अत एव बालिशेनेव मया तदर्थं नैव शोचनीयम्। किन्तु लक्ष्मीलाभनिदानं व्यापारः कोऽपि कर्त्तव्यः। यतो "द्रव्यवतामितरे सकला अप्यनायासेन सिध्यन्ति मनोरथाः। सति च द्रव्ये पुनरपि महत्त्वादिकं स्वयमेव भविष्यति।" उक्तं च नीतिशास्त्रे -

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥२६॥

व्याख्या - इह संसारे यस्य पुंसो वित्तं = धनमस्ति = विद्यते स नरः कुलहीनोऽपि कुलीनः = सत्कुलवान् मन्यते, स धनवान् मूर्खोऽपि पण्डितः = विद्वान् कथ्यते, स श्रुतवान् = शास्त्रज्ञः, मतिहीनोऽपि मतिमान् निगद्यते, स गुणज्ञः = गुणान-

जानन्नपि गुणग्राहीत्युच्यते, स एव वक्ता, दर्शनीयः = द्रष्टुं योग्यो जायते, किमधिकं जल्पामि सर्वे गुणाः काञ्चनं = स्वर्णमाश्रयन्ते = तमेवाश्रित्य वर्त्तन्ते।

यथा खलु बीजमन्तराऽङ्कुरोत्पत्तिर्न सम्भवति, तथाऽर्थमन्तरा कश्चिद् व्यापारो मया कर्त्तुं नैव पार्यते। मूलं विना यद् व्याप्रियते परेषां सेवनादिकं तत्तु परतन्त्रत्वाद्दुःखनिदानमेवास्ति, नाऽहं तथा चिकीरस्मि, ममेदानीमन्यः कश्चिदपि धनं नो ददिष्यते, श्वशुरपार्श्वादेव मिलितुं सम्भाव्यते?, नूनमेव निजपुत्रीस्नेहान्माम-कीमिमां दुरवस्थामालोक्य समुद्भूताऽदभ्रदुःखप्रचयो दास्यत्येव व्यापर्त्तुं धनानि। यद्यपि मतिमन्तो लोकाः श्वशुरं जात्वपि धनं नैव याचन्ते, तद्याचनस्याऽवहेलनहेतुत्वात्। तथापीदानीमुपायान्त-राऽसत्त्वादनुचितमपि तद्विधातव्यमेव। तदाह –

अकार्यमप्याचरणीयमेव, धनैर्विहीनैरधिकं चिकीर्भिः ।
त्रैलोक्यनाथोऽपि बलिं ययाचे, कृत्वा तनुं खर्वतरां हि विष्णुः ॥२७॥

व्याख्या – अधिकं = महत्त्वं चिकीर्भिः = कर्त्तुमिच्छुभिः पुंभिर्धनैरर्थैर्विहीनैरकार्यमनुचितमप्याचरणीयमेव = कर्त्तव्यमेव। यतः– त्रैलोक्यनाथो विष्णुरपि त्रिभुवनाऽऽधिपत्येच्छया खर्वतरां= नीचैस्तरां तनुं = शरीरं कृत्वा बलिं ययाचे = याचितवान्।

अत एव निजस्त्रीमिलनव्याजेन तत्र गत्वा श्वशुराद्धनमधिगत्य स्त्रियमत्रानीय व्यापारं करवाणि चेद्वरमित्यवधार्य प्रथमं पत्नीमानीय गृहदुर्दशामपनीय पश्चाल्लक्ष्म्युपार्जनेन दारिद्र्यमपहार्यमिति निश्चित्य शरीरमात्रसहायश्चरणमात्रवाहनः, प्रयाणोद्भूतप्रभूतप्रस्वेदलग्न-धूलिपटलविलिप्ताऽशेषगात्रस्तथाऽसंयताऽतिविकीर्णमूर्धजच्छत्रस्त-रुपत्रभोजनपात्रोऽहमनुक्रमेण महता कष्टेन कौशाम्बीमासाद्य श्वशुरालयमागाम्, किन्तु रङ्कोचितवेषधारित्वात्तत्र केऽपि मां नैव

लक्षितवन्तः। नह्येतावदेव, किन्तु द्वारि गतं मामन्तः प्रवेशाय प्रतिहारी रङ्कमिव निषिषेध।

राजन्! किं ते निगदामि?, तत्रावसरे दुर्दैवः किङ्कर्त्तव्यतामूढोऽहं भिक्षुवेषधारीभूय तैः सहान्तः प्राविशम्। तदानीं सर्वेभ्यो भिक्षां ददाना मत्पत्नी मेऽपि भिक्षां दत्तवती, किन्तु भर्त्ताऽयमिति न जानाति स्म। चिरादर्शनाद्रङ्कोचितवेषाच्च भिक्षुमध्यगतं मां नैव प्रत्यजानीत यदा मत्पत्नी, तदाऽहमात्मपरिचयमस्यै दद्यामिति यावदैच्छं तावद् भ्रुकुट्या विलक्षणमुखशारदपूर्णचन्द्रा सा मामेवमवोचत्-भिक्षो! लब्धायां भिक्षायां त्वमत्र चिरं कथङ्कारं तिष्ठसि, किं चिकीर्षसि?, किं विलोकसे वा?, स्वस्थानं याहि?, इति तदुक्तिमाकर्ण्य तद्गृहान्निर्गत्य क्वचिदासन्नबाह्यप्रदेशे समुपविश्य मनसि खेदमधिगच्छन्नतिदुःखितमना व्यचिन्तयम्-हन्त! कीदृशं मे प्रारब्धमुदैत्, यदहं सर्वत्र तिरस्कृतो भवन्नत्रापि मत्पत्न्याऽपि ज्ञानादज्ञानाद्वा हतभाग्यतयाऽपमानितो बभूवान्। अहो! कीदृशी कर्मणो गहना गतिः, यदा पुंसां भाग्यं जागरितं विलसति, तदा विपक्षोऽपि सम्मनुते सर्वत्रैव सुखमनुभवति। तद्व्यत्यये तु हितोऽप्यहितायते, पदे पदे दुःखमेव भुङ्क्ते। यतः-"त्रिभुवनजिष्णो रावणस्य विलसति शुभावहे प्रारब्धे सर्वेऽपि देवाः सेवायामतिष्ठन्, तस्यैव यदा पुनरशुभा दशा समैत्, तदा निर्भाग्यं दशग्रीवं निजबन्धुरपि बिभीषणः प्रतिपक्षीभूय तत्याजैव।" अत एवाऽधुना मया किमाचरणीयम्?, अत्रैव कतिचिद्दिनानि स्थेयमथवा स्वसदने गन्तव्यम्?, अथवा स्त्रीलक्ष्म्यावुभे विना गृहं गत्वापि किं करिष्यामि?, तस्माल्लक्ष्मीस्त्रियोरुभयोर्मध्यादेकस्यामपि मद्धस्तगतायां सत्यामेव मया स्वगृहं प्रति गन्तव्यमन्यथा देशान्तर एव निवसनं श्रेयस्करम्। यतः-"औत्सुक्यात्कार्याणि न सिध्यन्ति, अपि तु नश्यन्ति।" यदाह-

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा, मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां, समुत्सुकेवाङ्गमुपैति सिद्धिः ॥२८॥

व्याख्या - ये खलु महत्तरं यशः = कीर्त्तिमधिगन्तुमुशन्ति, सर्वाधिकं सुखं वा लिप्सन्ति = लब्धुं वाञ्छन्ति, मनुष्यसं - ख्यामतिवर्त्तितुं = यत्केनापि नाऽकारि जन्मवता तत्कर्त्तुमिच्छन्ति, तेषां निरुत्सुकानां गृहपुत्राद्युत्सुकतां हित्वा तदुद्योगिनां तत्सिद्धये प्रयतमानानां पुंसामङ्गं समुत्सुकेव = समौत्सुक्यादिव तत्सिद्धिरुपैति, अनायासेन सिध्यतीति भावः।

इति हेतोरहमत्रैव तिष्ठानि, कदापि मामभिज्ञास्यति चेदभीष्टं सेत्स्यति। यतः सा मे पत्नी मां चिरान्नाऽपश्यदतः क्रमशश्चिरादेव लक्षितुं शक्नुयात्। चिराददृष्टमात्मीयमपि जनं झटिति प्रत्यभिज्ञातुं कोऽपि नैवाऽर्हति। परिचितोऽपि जनश्चिरं विस्मृतश्चेदरं[1] स्मृतिपथं नैवाऽऽरोहति। इत्थमनेकविधचिन्तासागरे निमग्नस्य विधिप्राति-कूल्ययोगाद्रङ्कोचितदशामापन्नस्य मे दिनावसानमध्यजायत। तन्मन्ये जगच्चक्षुरपि मदीयं दुःखमालोकमानः प्रातरुदयमधिगच्छामि, सायं पुनरस्तमुपैमीति हेतोः कर्मगतिं भुङ्क्ष्व, मनागपि मा शोचीरिति मामाश्वासयन्निव चरमाचलमारूढवानिति। याते च सूर्यास्ते कान्ताविरहजन्याऽदभ्रक्लेशभिया चक्रवाकोऽपि मया सत्रा प्रियतमावियोगादतिदुःखमनुभवन्नतितरां चुक्रोश। तत्रावसरे वेश्याराग इवाऽस्थिरः सन्ध्यारागः सर्वत्राऽपुस्फुरत्। किन्त्वहमिव कमलाकरो विच्छायतामयासीत्। मम दुःखमिव तिमिरनिकरः सर्वत्र प्रससार। मामालोक्य मद्विपक्षा इव कैरवकुलं समुदिते निशाकरे नितरामहृष्यत्। किञ्च निवारिताऽशेषसारव्यापार-लोकसञ्चारा त्रियामापि मामिका दुर्दशेव निःश्रीका तस्थौ। उदयम-

1. अरं-शीघ्र

धिगच्छन्मामकमशुभकर्मेव पापीयसामाह्लादकरं तमसः परिस्फुरणं जज्ञे।

तदनु नैशिके प्रथमे प्रहरेऽपगते द्वारि कपाटं पिधायार्गलं दत्त्वा द्वारपालः स्वस्थमनाः सुष्वाप। कपाटतो बहिरेवाऽहमपि शयितवान्। किन्तु चिन्तातुरत्वान्मनागपि निद्रा मे नाऽऽगतवती। ततो मध्यरात्रे मामिका स्त्री तत्रागत्य द्वारपालमवक्-आर्य! किमप्यावश्यकं प्रयोजनं मेऽजनि, अतस्तत्राहं जिगमिषामि, सत्वरं द्वारमुद्घाटय, यावदहं ततः परावर्त्ते तावद् दत्तार्गलं मा कृथाः। तावदप्रमत्तेन त्वया जागरितव्यमस्मिन् कार्ये शिरो मा धुनीहि, इति निगदन्त्यां तस्यां प्रचण्डतामुपनीतो द्वारपालस्तामेवमुवाच-इदानीमनवसरे रजन्यां क्व यियाससि?, किञ्च ते कार्यं वर्त्तते तद् ब्रूहि?, यतः-"एतर्हि तस्करप्रमुखा एव प्रचरन्ति, कुलीनास्तु सदनान्तरेव तिष्ठन्ति।" अत इदानीं यच्चिकीर्षसि तत्प्रभाते करणीयमिदानीं परावर्त्तस्व। यदहं निशीथसमयादशेषरात्रं जागरितुं नैव शक्नोमीति तदुक्तिमाकर्ण्य निरस्तातिदुःखिता, क्रन्दन्ती मनसि समुद्भूतप्रभूतक्रोधाग्निज्वालाजटिला, विच्छायवदना स्वस्थानं प्रत्यावर्त्तत। तदानीं विनिद्रोऽहमुभयोरुक्तिप्रत्युक्ती समाकर्ण्य व्यचिन्तयम्-हंहो! या कामिनी निरन्तरमर्धरात्रे क्वचिदन्यत्र बहिर्याति सा नूनं व्यभिचरत्येव, तस्मादेषा क्व याति किमाचरतीति मया येन केनोपायेन वेदनीयमित्यवधार्य स्वस्थीभूय किञ्चिद-स्वाप्सम्। अथ याते च प्रभाते कमलेन सहैव प्रफुल्लमना उत्थाय गगने कर्मसाक्षीव जगच्चेष्टितविलोकनाय निजस्त्रि-याश्चेष्टितविलोकनायाऽम्बरं ध्रियमाणस्तत्परोऽभवमहमपि।

स्वामिन्! तत्रावसरे तत्र भवतामरातिगण इव तमःपटलो ननाश। भवद्राज्ये तस्करा इव तारा अपि तिरोदधिरे। त्वयि

समुदिते त्वत्सेवका इव समुल्लसति दिवामणौ रथाङ्गनामानः पक्षिणोऽतितरां प्रामोदन्त। तावका वैरिण इव घूकाः [1]पलायिषत। नाथ! तदानीं तावकीनं धैर्यमिव कनकगिरावुदयमधिगतं दिवाकरं पण्डिता उपस्थातुमारेभिरे। भवतः सेवका इव कमलवनानि नितरां जहृषुः। अस्मिन्नपि वासरे भिक्षायै तद्गृहमागामहम्। अथ भिक्षां ददाना सा मे पत्नी मामित्यपृच्छत्-भिक्षो! कोऽसि?, का च ते जातिः?, तदाऽवोचमहम्-सुन्दरि! वणिक्कुलजातिमवेहि। तदाकर्ण्य पुनरवोचत् सा, भो भद्र! त्वं मे गृहस्य द्वारपालो बुभूषसि?, तद्वचनं क्षुधातुरस्य भोजनमिव पिपासाकुलस्य शीतलमतिमिष्टं वारीव भृशमरोचत तच्चरित्रं बुभुत्सवे मह्यम्। तदनु तदुक्तिस्वीकारे पूर्वस्मिन् रक्षके नैशिकरोषात् किञ्चिद्दूषणं पितुरग्रे समारोप्य तदैव पित्रा तं द्वारपालं पृथक्कारयित्वा तत्स्थाने मां नियोजितवती। तद्दिने सा स्वसमीहितसिद्धये यथेष्टं सरसं मामाशिशत्। "यस्मात्स्वार्थसिषाधयिषया लोको हि गर्दभमपि पितरं जल्पति।" अतो मामपि सरसभोजनमधुरवचनादिना वश्यमकरोत्। रात्रौ च सकले लोके सुप्ते सति सर्वाभरणवसन-विभूषिता प्रमुदिता मदनातुरा मोदकादिसरसभोज्यपूर्णस्थालं करकमले दधाना सा मदन्तिकमागत्य समूचे-भद्र! त्वरया द्वारमुद्घाटय?, अहमपि तूर्णमेव कपाटमुद्घाटितवान्। तदनु तद्वचसा तद्दत्तस्थालमादाय तया सत्राऽहमचलम्। अथ सा स्ववाञ्छितजारस्वर्णकारस्य हट्टे समागत्य मद्धस्तात्तत्स्थालं गृहीत्वा मामुक्तवती-भोः! याहि, द्वारं रक्ष, यावदहमागच्छामि तावज्जागरितेनैव त्वया स्थातव्यम्?, तदा तस्या विश्वासोत्पादनाय गृहाभिमुखं व्रजित्वा पुनर्गुप्तरीत्या तच्चरित्रावलोकनाय तत्रागत्य

1. परा+अय्

तस्थिवान्। नैशिकान्धकारबाहुल्यात्तत्रैव चौरवत्स्थितमपि मां सा नैव विदाञ्चकार। तत्रावसरे तस्याः सङ्केतेन तदागमनमवगत्य स जारस्तत्रागात्तूर्णमेव कपाटमुन्मुच्य कोपातिशयेन कम्पितगात्र-स्तामित्थं निगदितुमारेभे-अरे! कृतसङ्केतापि त्वं गतायां रजन्यां कथमत्र नाऽऽयासीः?, किं ते कोऽप्यन्यो बलीयांस्तरुणः कामुकः पुमानमिलत्?, अहं तु तव कृते शङ्करोऽतिदुर्धरं कालकूटमिव जागरणं सेवे, त्वं तु केनचिद्बलीयसा सरसेन यूना कामुकेन सह सुखेन रमसे चिरं निद्रासि च। तस्माद् रे पापिष्ठे! याहि, याहि, सत्वरमितोऽपसर?, पृष्ठं दर्शय?, अहो! येन तावकस्नेहदहनेन समेधमानेन मदङ्गसदनं भस्मसाच्चक्रे तेनाऽलमिदानीम्, इत्युदीर्य तस्याः शिरसो वसनमाकृष्य क्रुधा प्रज्वलितेन तेन स्वर्ण-कारजारेणाऽन्तःप्रविष्टव्यन्तरेणेव भासमानेन चपेटाऽदायि, तत्प्रहारेणाऽतिजीर्णतरसूत्र-ग्रथितं वधूकालिकं चूडामणिरत्नं त्रुटित्वाऽधस्तान्न्यपतत्, सा नैव विवेद। परन्तूच्छलत्तद्रत्नं मामकचरणाऽधः समागात्तज्ज्ञाने मद्भाग्योदयादाकृष्टश्चिन्ता-मणिरेवाऽऽगादिति हेतोस्तच्छिरोरत्नमहं युक्त्या जग्राह। सा कुलटा च स्वर्णकारपादयोः पतित्वैवमभ्यर्थयितुमलगत्-नाथ! कोपं जहाहि, मयि प्रसीद, यथास्थितं मद्वचः समाकर्णय?, निरागसं त्वदेकमनसं मां मुधा हन्तुं कथङ्कारं प्रवर्त्तसे?, गतरजन्यामागन्तुं चलिता द्वारपालेन न्यवारि, बहुधा प्रार्थितोऽपि स दुर्धीः कपाटं नैवोदघाटयत, पुरा स मदनुकूल आसीत्, इदानीमेव दैवात्प्रातिकूल्यं निनाय। विधौ प्रतिकूले विधाविव सदैवानुकूलो भवन्नपि स पुमान् वैपक्ष्यमेव नीतवान्। तेनाऽहं तत्रावसरे जले क्षिप्ता हस्तिनीव वागुरायां पतिता मृगीवाऽवाच्यं दुखं यदन्वभूवं तद्विपक्षोऽपि जात्वपि माऽनुभूदिति। तस्मादेव दोषात् प्रातःकाले किमपि तदीयदूषणं पितरं निगद्य तं निष्काश्य तत्स्थाने कञ्चिदपरं

वैदेशिकमनुकूलं द्वारपालमकरवम्। तत एव त्वद्दर्शनविरहाकुलाऽत्यन्तदुःखिता महता कष्टेन दिवसं नयन्ती मदनातुरा त्वदन्तिकमहमागतवती। प्राणप्रिय! अत एवाऽनपराधिनीं मामुररीकुरु?, तिरस्कारं मा कृथाः। यथा भक्त्यार्पितान्मोदकान् प्रसन्नमना गणेशो गृह्णाति, तथा प्रेम्णाऽऽनीतानेतान्मोदकान् सरसान् गृहाण। मयि मा संशयीथाः, यदहं त्वदन्यं कमपि स्वप्नेऽपि नैव कामये। तस्मात्सौम्यदृशा मां विलोक्य पुनीहि च, मदीयं दुःखं दर्भमिव छिन्धि, इत्थं तस्याः सस्नेहं वचो निशाम्य स जारः स्वर्णकारस्तस्यां प्रससाद। तदानीतं मोदकैर्भृतं स्थालं सहर्षमङ्गीकृत्य तामवोचत् सुन्दरि! अज्ञानान्मया त्वयि यदकारि तिरस्कारादि तत्क्षमस्व।

राजन्! स्वस्त्रिया एतदाचरणमालोक्य मनसि जातवैराग्यः सखेदमहं स्वस्थानं प्रत्यचालिषम्। चिन्तयितुं लग्नश्चैवम्-रे जीव! यामीहमानस्त्वमत्रायातोऽसि, सा तु दासमकरोत्, जारं च निषेवते। अहो! स्वप्रेयसीं भुञ्जानं जारं निहन्तुं शक्तिं किमिति न बिभर्षि?, तथा विधातुं क्लीबायमानमात्मानं किमिति नो हिंससि?, रे दैव! मम पित्रादिपरिवारधनगृहादिकं विनाश्य तज्जन्यमसह्यं कष्टं दर्शयित्वा किं नाऽतुष्यः? यदधुना निजस्त्रीपराभवजं दुःखमदो दर्शयसि?, अहो! सद्वंशजाऽपीयं मे स्त्री कुलटा कथङ्कारमजायत?, अथवा या खलु विष्णुनोर्वशी निरमायि सापि सुरनगरे देवानां वेश्या किं नो जज्ञे?, तर्हीयं मे पत्नी कुलटाऽजनि तत्र किमाश्चर्यम्। हंहो! मामकेनैव दोषेण कुलजाया अपि स्त्रियाः कुलटात्वं लक्ष्म्या विनाशश्चाऽभूत्। यतोऽहमुभावप्युपेक्ष्य[1] द्वादशवर्षाणि गणिकामसेवे, सर्वोऽप्ययं ममैव दोषः। अथवा मद्वियुक्ताया अपि स्त्रिया एतदाचरणं नो युज्यते। यतः ''सूर्यविकाशिनी कमलिनी सूर्येऽस्तंगतवत्यपि

1. यतोऽहमुभे अप्युपेक्ष ।

चन्द्रमसं जात्वपि नैव कामयते।'' इयं तु मयि जीवत्येव गतत्रपा सती निरन्तरं जारेण सह रमते। एषाऽमुना जारेणैकेनैव नोपभुज्यते, किन्त्वनेकेन पुंसा साकं क्रीडतीत्यनुमीयते। यतः, ''या कामिनी भर्त्तारमतिक्रम्य परेण रिरंसां वहते, सा खल्वेकेन पुंसा नैव तृप्यति, किन्तु प्रत्यहं नवनवेन यूना कामुकेन साकमेव यभितुमीहते।'' अत एवाऽनाचारवारिकुल्या तुल्येयं स्त्री सद्वंशजा कथमुच्येत?। यतः-''कुलवध्वो हि सदाचारशालिन्यः शील-पालिन्योऽवश्यमेव भवन्ति।'' उक्तं च भाषाकविताज्ञेन -

खान रु पान विधान निधान, निमग्न सदा सुखकी तरनी में;
यौवन जोर भयो तउ, कन्त मिल्यो नहिं चूक परी करनी में।
रूप की राशि प्रकाशित देह, नहीं तिय ता सम निरजरनी में;
तौ पुनि धीरज धर्म तजी नहिं, धन्य प्रवीन सती धरनी में ॥२९॥

अस्यां त्वेकमपि कौलीन्यलक्षणं नास्ति। इति हेतोरनार्याया अस्या अतः परं सङ्गमः श्रेयान् नो भाति। येन हेतुना दुराचारिणी कामिनी भुजङ्गीव मृत्युनिदानं भवति। यद्यप्यधुना मामक एष वृत्तान्तस्तथाऽस्याश्चैष वृत्तान्तः कस्याप्यग्रे लघुत्वहेतुत्वान्नैव वाच्यः। तथा मम दुःखस्मृतिकारणभूता स्थितिरप्यत्र साधीयसी न भवितुमर्हति, तथा स्वनगरेऽप्यधुना गमनं मे नितान्तदुःखस्मार-कत्वादुचितं न प्रतिभाति, किन्त्वद्यैव दैवाद्यश्चूडामणिः प्राप्तस्तमेव विक्रीय पाथेयं सम्पाद्य देशान्तरमेव गन्तव्यम्। इत्थं निश्चित्य तत्रैवाऽहमशयि। प्रगे च क्वचिदन्यत्र गत्वा तं चूडामणिं सम्यगव-लोक्योपलक्ष्य चाहमित्यचिन्तयम्-अहो! एष एव चूडामणिः पुरा मे मातुर्मूर्धन्यशोभत, स एवायं कुलपरम्परया सुरक्षितो मयाऽद्याऽ-लम्भि। भ्रमादप्येष पुत्र्यै नैवार्पणीयः, किन्तु वध्वा एव दातव्य इति पित्रोः शिक्षापि स्मृतिपथमायाति स्म। तस्माद् भिक्षयोद्विग्नचेता दुर्दशामधिगतोऽहमेनं चूडामणिं भनजानीति निश्चित्याऽश्रुपूर्णलोचनो

यदा तमभनजं तदैव तन्मध्यादुत्तमाक्षरमालैका पत्रिका निरगात्। विस्मयोपविष्टचेताः प्रफुल्लनयनोऽहं झटित्येव तां लात्वा वाचयित्वा चेत्यबोधि-''अहं हि गृहान्तरे लघ्व्यां गुप्तकोठय्यां वामभागे दीनाराणां चतस्रः कोटीरतिष्ठिपम्'' इति पठित्वा महासिद्धेः पाठसिद्धमहामन्त्रमिवाऽत्युग्रं वाङ्मनसोरगोचरमसीमं हर्षमलप्सि। यद्यपि तदानीं तत्र ममाऽऽगमनं मुख्यतया प्रथमं क्लेशाऽतिशयकार्यभूत् तपस्विन इव, परन्तूत्तरकाले निरतिशयसुखदायकमेव बभूव। किञ्च ''पुत्र्या एष चूडामणिः कदापि नो देयः, वध्वा एव दातव्य इति'' या मातापित्रोः पौनःपुन्येन शिक्षाऽऽसीत्तस्या अपि तत्त्वं तदैवाऽबोधि।

तदनु तच्चूडामणिविक्रयाज्जातशम्बलोऽहं महतोत्साहेन चम्पानगरींप्रति चलितवान्। क्रमेणाऽचिरादेव तत्र पुर्यां स्वगृहमागाम्। तस्यामेव रजन्यां पत्रान्तर्लेखानुसारेण मनसि साहसं विधाय पृथ्वीं खनितुं प्रावर्त्ते, निरालस्येन खनंश्च समुद्भूतं स्वीयं सुकृतपुञ्जमिव तन्निधिमपश्यम्। जिजीविषुर्म्रियमाणः प्राणमिव लोचनाभ्यां विहीनो नयनमिव तमासाद्य निरवधिमानन्दमध्यगच्छम्। अथ तन्निधानाऽऽकृष्टलक्ष्मीप्रभावादचिराद्विशिष्टानि सदनानि वसनान्याभरणानि च चक्रिरे। किमधिकं जल्पामि-तदानीं देवालयमपि जयन्ति, शोशुभ्यमानानि च मे सदनानि बभूवुः। इत्थमनेकं गगनचुम्बिससप्तभौमपञ्चभौममनेकविचित्रचित्रचित्रितं सुरेशभवनोपमं सदनं नानादासदासीगणसुसेवितं परमर्द्धिकमत्युज्ज्वलं विहितवान्। अनेकमदस्राविगजालीं बहूनुत्तमान् सुलक्षणानश्वान् रथांश्च चक्रिवान्। अथैकदा महास्वरूपैर्लेखकगणैः परिवृतः सुरराज इव, कियद्भिः सुलक्षणतुरङ्गमारूढैः परिवारैरनुनीयमानः, श्वेतमहाजवशालितुङ्गतमाश्वोपविष्टः, सेवकवर्गैः शिरसि ध्रियमाणातिप्रौढमयूरबर्हच्छत्रो, मदस्रावी गजराजो मदगन्धलोलुपै-

गुञ्जद्भिरलिकुलैरिव बन्दिगणैस्तोष्टूयमानो, महार्हसुरत्नजटित-सौवर्णाभरणैर्दिव्याम्बरैश्च शोशुभ्यमानः, शतशः पत्तिभिरनुगम्य-मानः, परश्रियः सुषमां दधानः, पथि च नानावाद्याडम्बरबधिरीकृ-ताम्बरः, कौशाम्ब्यां पुर्यां कमलायाः सदनं श्रियःपतिरिवाऽहं श्वशुरसदनमीयिवान्। मदागमनमाकर्ण्य मामकश्यालादयः सम्मुख-मागताः कल्पतरुममरा इव, मामधिकं मन्यमाना महतोत्सवेन पुरं प्रावेशयन्, एवमजल्पंश्च-[1]आवुत्त! त्वमात्मीयानप्यस्मानियन्ति दिनानि विसस्मर्थ?, तावकमेतद् दर्शनं नो नयनानि कौमुदीव कथङ्कारमियद्भिर्वर्षैः शिशिरीचक्रे?, जीमूतं कलापिन इव तत्र भवन्तं द्रष्टुमौत्सुक्यवन्तो वयमद्य श्रीमन्तं भवन्तमालोक्याऽ-मन्दानन्दसागरे निमग्ना जज्ञिमहे। इति तदुक्तीः श्रुत्वाऽहं दध्यौ-अहो! सर्वोऽप्ययं सत्कारादिर्ममदीयो नो जायते, किन्तु लक्ष्म्या एव। यस्मात्पुरा रङ्करूपेणाऽत्रागतं मां केऽपि किमपि नैव पप्रच्छुः, न वा केऽपि परिचितवन्तः, किमधिकं प्रतीहारोऽप्यन्तःप्रविशन्तं मां न्यवारयदेव। सम्प्रत्येतादृशं सत्कारमेते वितन्वन्ति। तदनु ते सर्वे महताऽऽदरेण नानाविधदिव्यसरसस्वादिष्टपक्वान्नादि मां भोजयामासुः। ततः श्यालवर्गैः साकमनेकविधं सरसं सश्लेषमालपन् क्रीडितुमारब्धवान्। यतो हि-''धीमन्तो जनाः शास्त्रचर्चया काव्यनाटकादिविनोदेन वा कालं गमयन्तीति।'' तदुक्तम्-

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा ॥३०॥

दुराचारिणीं मन्मनसो बहिष्कृतां तां मत्पत्नीं त्वहं दृशा नाऽपश्यम्, यस्माल्लोकानां मनोऽनुसारिण्येव दृष्टिः परिपतति। मनो हि यत्र रज्यति तत्रैव रुद्धापि दृग् यच्छति, यत्र मनो विरक्तं

1. आवुत्त=जीजाजी

भवति, तस्मिंस्तु मुक्तापि सा नैव याति। विद्यमाने च रागे विशिष्टमपि रूपं चक्षुषोरमृताञ्जनसाम्यं जायते, अन्यथा तदेव लवणाञ्जनमिवोद्वेगकार्येव जायते। निशाया आद्ययामे गते सति सुसज्जितायां शय्यायां निद्रया निमीलितप्रायलोचनोऽहं यावत्सुषुप्सामि तावदन्तर्विरक्ता बहिरनुरक्ता सुवसना परिहितसर्वाभरणा समागत्य सामर्षस्य मे चरणौ परिमर्दितुं लग्ना। तदाऽहं जागरित इव भवंस्तामपृच्छम्-''त्वं कासि?, किमिदं कुरुषे?'' तयोक्तम्-''अहं ते पत्नी, त्वदीयचरणकमलयोर्भक्तिं कुर्वे।'' पुनरहमवादिषम्-सुन्दरि! त्वयेदं साधु नाऽकारि, यत्स्वप्नं विलोकमानं मामजागरीः? ''तदा तयोक्तम्-प्राणनाथ! त्वमधुना यं स्वप्नमपश्यस्तं मामपि ब्रूहि? यदहं ते प्राणप्रियाऽस्मि, मत्तस्तेऽवाच्यं किमपि नास्ति।'' तदाहं न्यगदम् - यद्येवमस्ति तर्हि सावधानतयाऽऽकर्णय?-

अहं हि तव सद्मनि द्वारपालोऽभूवम्, त्वं च मोदकैः पूर्णं स्थालं मयोत्पाटयामासिथ, तदनु त्वत्पृष्ठेऽहमपि तत्स्थालमादाय चचाल, ततो यत्र ते जारस्तिष्ठति तस्य स्वर्णकारस्य हट्टे त्वमगाः, तत्र गत्वा त्वं मां न्यवीवृतः प्रोक्तवती च यावदागच्छामि तावज्जागरितेन त्वया स्थातव्यमिति, तदनु स स्वर्णकारो महता क्रुधाअरे! गतरात्रौ सङ्केतं कृत्वा पुनस्त्वमत्र कथङ्कारं नाऽऽगतवतीत्याख्याय ते चपेटामदात्, तदीयचपेटा ताडिता, (तदा) ते शिरसोऽधस्तात्पतितं चूडामणिं यावदहमग्रहीषि तावदेव त्वं मामजागरीः, इति।''

दृष्टार्धस्वप्न आयतौ महालाभकारीति प्रतिभाति। तस्मान्मध्ये यत्त्वं जागरयाञ्चकर्थ तदशोभनमजायत। महेर्ष्यालुरहं स्वप्नव्याजेन तत्सर्वं सूचितवान्। साऽप्यबोधि यन्मदीयं दुश्चरित्रं सर्वमयं वेत्तीति मर्मवेधिमदीयवाक्याऽतितीक्ष्णबाणविदीर्णहृदया लज्जाभीति-

मापन्ना तत्कालमेव कदलीस्तम्भमिव भूमौ निपतिता व्यसुरजायत। येन कारणेन मर्मवाक्यं नूनं महाऽनर्थमापादयतीति कथयन्ति सुधीजनाः। ततोऽहमधःपतितामधोमुखीमचेष्टाऽवयवामुच्छ्वास-रहितां तन्द्रितनयनां तां स्त्रियं प्रकाशमानीय विलोक्य मृतेयमिति निश्चिकाय। अहमपि तदैव कोपावेशादुल्लसिताऽतिवीर्यधैर्य एकाक्येव व्याघ्रो गामिव तां [1]व्यसुमुत्पाट्य गृहद्वारमागाम्। तत्र च ग्रामान्तराऽऽगतज्ञातीयजनताबाहुल्याद् द्वारमनर्गलं तद्रक्ष-काऽभावं चाऽपश्यम्। तदा शनैः कपाटमुद्घाट्य लौकैरलक्षित-स्तज्जारस्वर्णकारहट्टमागत्य हट्टस्य द्वारे तथा तामतिष्ठिपं यथाऽधो न पतेत्, प्रागागत्य यं सङ्केतं सा करोति स्म, तमेव सङ्केतं कृत्वा यथा कोऽपि न विद्यात्तथा कियद् दूरं गत्वाऽतिष्ठम्।

सोऽपि जारस्तदैव सङ्केतेन पुरेव तदागमनमवगत्य झटित्येव कपाटमुद्घाट्य हसन्नित्यवक्ताम्-अरे! इदानीमर्धरात्रे मामकीं निद्रां भङ्क्तुं कथङ्कारमागाः?, अहो! कीदृशं ते धाष्ट्यम्?, स्नेहे च गाढनिष्ठता कीदृशी वर्त्तते, एतद् द्वयमपि वचनाऽगोचरतां गतवदिति लक्ष्यते?, त्वमन्तः किमिति नागच्छसि?, कुपितेव चिराद्बहिः कथं तिष्ठसि?, कपाटे समुद्घाटिते पुरा कदापि विलम्बं नो कृतवती?, अद्य किमभूत्, येन नो भाषसे?, किं ते मनसि रोष उदपद्यत?, मदीयहास्यवचः सहस्व?, मद्धट्टमध्ये समागत्य मत्पार्श्वे गृहान्तः कथं नाऽऽगच्छसि?, इत्थं बहुधा तेन स्वर्णकारजारेण न्यगादि, तथापि शवतां गतवती सा यदा नाऽऽगतवती तदा स एहीत्युदीर्य तस्या वसनमक्राक्षीत्। तदा निष्प्राणा सा स्त्री काष्ठमूर्त्तिरिव भूमौ न्यपसत्, तामकस्मान्मृतामवगत्याऽत्यन्तं विस्मयं मनसि सोऽधरत्। किमियं मदनशरजालनिपीडनमसहमाना व्यपद्यत?, किं वा केनापि दुष्टहिंसकेन कदर्थिता सती पञ्चत्व-

1. विगतानि असूनि यस्याः सा ताम्

मियाय?, इति गद्गद्गिरा जल्पन् स हट्टान्तस्तं शवं नीत्वाऽतिगम्भीरं गर्त्तं खनित्वा तत्र तच्छवं निक्षिप्य निधिमिव पुनर्मृदाऽऽपूर्य चिरकालिकमतिघनिष्ठं तत्प्रेमाणं स्मारं स्मारं चिरं रुदच्छुशोच सः। तस्य जारस्वर्णकारस्य सकलमुदन्तमुद्वीक्ष्य पश्चान्निजस्थानमागत्य सर्वमेतत्स्वमित्रमभ्याहरम्। सोऽप्येतत्सर्वं तस्याः पितरमवादीत्, इत्थं सर्वत्रान्तःपुरे तद्वार्त्ता प्रससार, अत एव सर्वेषां तेषां मनसि महती चिन्ता प्रादुरभवत्, किन्तु महतामेतद्धानिकारीति विचार्यैतद्वृत्तं समुद्रो वाडवाग्निमिव गोपायाञ्चकार तत्पिता। तेनाऽन्ये केऽपि न विदाञ्चक्रिवांसः। दुःखहेतुभूतेयं वार्त्ता तस्य गृहे सर्वांल्लोकान् व्यापत्। यतो हि "लशुनस्य गन्ध इव गुप्तीकृताप्यनाचारवार्त्ता गुप्ता नैव तिष्ठति, किन्तु प्राकाश्यमधिगच्छत्येव।"

ततश्चिन्तितानामेषां सदने मया न स्थातव्यमिति निश्चित्य खिन्नचेता यावदहं स्वनगरीं प्रति यियासामि तावन्मां वरीतुकामा करकमलयोश्चम्पकस्रजं दधाना, चम्पकमालाऽभिधाना, मत्पत्न्याः कनीयसी स्वसा समागत्य ममाग्रे तस्थौ, महीयसा हर्षेण मयि कटाक्षमालां मुञ्चमानातित्वरया मदधिग्रीवं तां वरमालां पर्यधापयत्सा। आख्यच्चैवम्-महाभाग! त्वां भर्त्तारं कर्त्तुमहमत्रागतास्मि। अतो मे भर्त्ता भव?, मत्प्रार्थनं विफलं मा कृथाः?, यतः-"महाजनाः खलु कस्यापि प्रार्थनां भङ्क्तुं मनसि बिभ्यत्येव।" तदनन्तरं मयैवं भणिता-सुन्दरि! या ते ज्यायसी भगिनी मामकी पत्न्यासीत्तस्याः स्वभावं जानन्नहं त्वां कथङ्कारमुररीकुर्याम्?, यतस्तस्या एव भवत्यपि लघीयसी भगिन्यस्ति तदनुरूपप्रकृतिकैव भविष्यतीति निश्चीयते। तच्छ्रुत्वा तया पुनर्न्यगादि-महाभाग! इति कश्चिदेकान्तनियमो नास्ति, यत्सर्वा अपि स्वसारः प्रकृत्या गुणादिना

वा तुल्या एव जायेरन्। भ्रातरो वा सर्वे समानप्रकृतिका एव न भवन्ति। तदुक्तम्-

एकोदरसमुत्पन्ना, एकनक्षत्रजा अपि ।
न भवन्ति समाचारा,यथा बदरिकण्टकाः ॥३१॥

व्याख्या - एकस्मादुदरात्समुत्पन्नाः, तथैकस्मिन्नेव नक्षत्रे जायन्त इत्येकनक्षत्रजा बदरिकण्टका यथा समाचारा = एकाकारा न जायन्ते, तथैकमातुर्जाता भ्रातरः स्वसारो वा समाचारा = तुल्याचारविचाराः सदृशस्वभावा नैव भवन्ति।

अन्यदपि मतिमन्! जगत्यामस्यां फल-पुष्प-पत्र-पुरुष-दन्ति-तुरगोपल-कमलप्रमुखा एकस्थानजाता अपि नानाप्रकृतिका जायन्ते, तदन्येऽपि बहुशः पदार्थाः प्रकृतिभिन्ना दरीदृश्यन्ते चेत्तर्हि स्त्रीजातौ सा प्रकृतिः कथं नो भिद्येत?, भवत्येवेति निश्चयं विदाङ्कुर्वन्तु तत्र भवन्तः। गुणानां प्रवाससंवासाभ्यामर्थात्तदीयाऽवगुणसंस-र्गाच्चिरपरिचयाद्वा यथा सा दुःशीलाऽऽसीत्तथैवेयमपि तदनुजा भविष्यतीति मा संशयीथाः। यतः-सज्जनो जनो दुर्जनानां गोष्ठ्यां तिष्ठन्नपि तत्परिचयं कुर्वन्नपि लेशतोऽपि तदीयदुर्जनतां नैव भजते। यथाऽऽजन्म-महाभोगिभोगस्थितो मणिः स इव दुःस्वभावः परेषां पीडाकारी न जायते। यद्यप्यहं तस्या अनुजास्मि तथापि तत्तुल्यस्वभाववतीभूय सेवाऽकृत्यं नैवाऽऽचरिष्यामि स्वप्नेऽपि। अथवा यथा क्वचित्कूपे पतितमात्मीयमपि जनं विलोक्य तत्पृष्ठे मतिमान् नैव पतति तथैवाऽहमपि तदनुकारिणी नैव बुभूषामि। अत एव ज्यायसीं मे स्वसारं दुराचारिणीं विलोक्य तदनुजां मामपि मा जहाहि?, "क्षीराद्विरक्तः कश्चिद्दधि जहाति किम्?" एतद्विषये निस्त्रपेव बहु किं जल्पामि-"भवदधिग्रीवं या चम्पकमाला मया निहिता सैव मामकं सतीत्वं बोधयिष्यति, यावन्मे शीलम-

खण्डितं स्थास्यति तावदियं स्रक् तव कण्ठे सद्यो जातेव भवन्तमामोदयन्ती सुषमां धरिष्यति, मनागपि नैव म्लास्यति। यदैव मनसा वचसा कायेन वा निजशीलं मलिनीकरिष्यामि तदैव मदर्पिता भवत्कण्ठस्थिता स्रगियं म्लास्यति। यदेयं मालिका म्लायेत्तदैव मत्सतीत्वमपि खण्डितमवगन्तव्यमितरथा नैवेति तथ्यं जानीहि।''

इत्यादि तदुक्तिश्रवणेन समुद्भूतप्रभूताश्चर्यस्तत्प्रार्थनमङ्गीकृतवानहम्। ततः शुभे दिने महता महेन तत्पिता तां चम्पकमालानाम्नीं मया सत्रोदवाहयत। तदनु पित्रार्पितकौतुकोत्पादिदासदास्यादिगजतुरङ्गादिसमृद्धियुतां तामुद्वाहितां कन्यां सच्छीलामहं निजगृहमानिनाय। सैवैषा चम्पकमालिका तदखण्डितशीलसूचिका तदर्पिताऽद्यापि सद्यो गुम्फितेव दृश्यमाना मम कण्ठे विचकास्ति। गतेष्वपि द्वादशवत्सरेषु तस्याः सतीत्वमाहात्म्यादद्यपर्यन्तं देवतार्पितेव न शुष्कतामध्यगच्छत्, किन्तु तात्कालिकीव शोशुभ्यते।

राजन्! एतदाश्चर्यमसम्भवं वा मा मंस्थाः। यतः-शीलानुभावादेव सीतायाः परीक्षाकाले दहनकर्माऽप्यग्निर्जलवच्छीतलो जज्ञे। कमलावत्या अपि छिन्नौ करौ शीलप्रभावात्पुनर्लोकसमक्षमेव जज्ञाते। सुदर्शनस्य श्रेष्ठिनस्तन्माहात्म्यादेव पश्यत्सु नृपादिलोकेषु शूलिका स्वर्णसिंहासनमजायत। महासती दमयन्ती खलु शुष्कतां गताया नद्या वारिप्रकटनमकरोत्। प्राफुल्लयच्च निजभर्त्रेऽर्पितं कमलं शीलमहिम्नः शीलवत्यपि। सुभद्राऽऽमतन्तुयोगाच्चालिन्या कूपाज्जलमक्राक्षीच्च। तथा मम स्त्रियाः सच्छीलमाहात्म्यात्तावकीना विमलतरा सत्कीर्त्तिरिव मत्कण्ठस्था मालेयं जातुचिदपि नैव शुष्यति। जगति शीलप्रभावो वचोगोचरतां नैव व्रजति। यतः-''शीलशालिनां वचनमचेतनेयं स्रगपि नोल्लंघयितुं प्रभवति,

तर्हि चेतनानां का कथा?,''अत आहुः-

सीमा खानिषु वज्रमगदङ्कारेषु धन्वन्तरिः,
कर्णस्त्यागिषु देवतासु कमला दीपोत्सवः पर्वसु ।
ॐकारः सकलाक्षरेषु गुरुषु व्योम स्थिरेषु क्षितिः,
श्रीरामो नयतत्परेषु परमं ब्रह्म व्रतेषु व्रतम् ॥३२॥

व्याख्या - खानिषु = आकरेषु यथा वज्रमशनिः सीमा, अगदङ्कारेषु = वैद्येषु धन्वन्तरिः, त्यागिषु = दातृषु कर्णः, देवतासु यथा कमला = लक्ष्मीः, पर्वसु = पुण्यतिथिषु यथा दीपोत्सवो दीपमालिका, सकलाक्षरेषु = सकलवर्णेषु यथा ॐकारः, गुरुषु = महत्त्वेषु यथा व्योम = गगनम्, स्थिरेषु = निश्चलेषु यथा क्षितिः = पृथ्वी, नयतत्परेषु = नीतिशालिषु यथा श्रीरामः, तथा व्रतेषु परमं = सर्वोत्कृष्टम्, ब्रह्मव्रतम् = ब्रह्मचर्यमस्ति। अन्यच्च-

शीलं प्रधानं न कुलं प्रधानं, कुलेन किं शीलविवर्जितेन ।
नैके नरा नीचकुले प्रसूताः, स्वर्गं गताः शीलमुपेत्य धीराः ॥३३॥

व्याख्या - इह लोके शीलमेव प्रधानं = मुख्यमस्ति, कुलं न प्रधानमस्ति, शीलविवर्जितेन = शीलं विना कुलेन किम् = अकिञ्चित्करं मुधैव। यतः-नीचकुले = अधमकुले प्रसूता = उत्पन्ना अप्यनेके नरा धीराः = मतिमन्तः शीलमुपेत्य = परिपाल्य स्वर्गं गताः = स्वर्गमापेदिरे। अतः शीलस्यैव प्राधान्यं नाऽन्यस्येति तत्त्वं जानीहि।

राजन्! अमुष्या मालाया अम्लानतायां योऽयं हेतुस्तवाग्रे मया न्यगादि, तं तथ्यमेव विजानीहि। यतः-''स्वामिनोऽग्रेऽलीक-भाषणमनर्थहेतुर्भवतीति सत्यमेव भाषितव्यमाश्रितैः पुरुषैः।'' इत्थं सार्थवाहोक्तमाकर्ण्य विक्रमार्को राजा विहस्य तमेवमुवाच-

सार्थेश! त्वमेवं शीलप्रभावं जानासि चेत्स्वयमीदृशानाचारं कथं चकर्थ?, अर्थादन्यस्त्रीगमनेन स्वीयशीलं कथङ्कारमभाङ्क्षीः?, ईदृशे ज्ञाने त्वयि विद्यमाने सति कथं महापापजनके चिरकालिक-दुर्गतिप्रदे तादृशेऽकृत्ये प्रावर्त्तथाः?, करकमले दीपके म्रियमाणे किं दृष्टिमान् पुमान् गर्त्ते पतति?, नैव निपततीति हार्दम्। दक्षिणानां पुंसामवश्यं तदेव ज्ञानं फलेग्रहि निगद्यते, यथा येन [1]सृणिना मदमत्तमपि मातङ्गं हस्तिपको वशं नयते, तथा प्रमादिनमुन्मार्गगा-मिनमात्मानं यदि स्ववशं नयेततमाम्, तर्ह्येव खलु धीरपुंसामपि ज्ञानं फलवज्जायेत। अथवा मतिमानपि पुमान् रागान्धीभूय जानन्नपि चेदीदृशमकार्यं कुर्यात्तर्हि तदपि घटते, यतः ''विवेकि-नोऽपि जना नरकजनकज्ञानदशायामप्युत्कटेच्छयाऽन्याये प्रवर्त्त-मानाः सदसद्विवेचयितुं नैव प्रभवन्ति।''

यतः- ''एकदा कुत्रचिद्रम्यकानने समाधौ समासीद्धरः, तत्रैव कियत्यो मानुष्यो युवतयः क्रीडितुमाजग्मुः, ताः सुन्दरीरवलोकमा-नोऽसमाप्तसमाधिको हरः सञ्जातकामविकारस्ताश्च गगने नीत्वा ताभिः सह रेमे, प्रान्ते पार्वत्या ता अधः पातिताः शिवश्च समाधौ योजितः''। ''विष्णुरपि कस्यचिद् बलीयसो जलन्धरासुरस्य तनयां छलयित्वा समुपाभुङ्क्त, ततस्तं सा शशाप''। ''इन्द्रोऽप्येकदा गौतमर्षेः पत्नीमहल्यां रूपान्तरव्याजेन बुभुजे। तद्विदित्वा गौतमो दत्तवांस्तस्मै शापं तेन महेन्द्रस्य करसहस्रं भग्नात्मतामियाय।'' ''कोऽप्येको यवीयांस्तपस्वी क्वचिन्मन्दिरे किलैकाकी न्यवसदसौ खलु जितेन्द्रियतया सर्वत्र प्रख्यातिमानाऽऽसीत्। दैवादेकदा काचिदेका कामिनी मनोहराऽऽभरणवसनविभूषिता तदग्रतश्चचाल, तद्रूपविमोहितस्तपस्वी पञ्चेषुपरिपीडिताऽशेषगात्रस्तामन्वगच्छत्। यदा सा निजसदनमागतवती तदा स योगी तां रतिमयाचत, तस्य याचनं श्रुत्वा द्वारं पिधातुं यदैच्छत्तदा स बलान्निजशिरसा

1. अङ्कुशेन,

कपाटमनर्गलं विधातुमयतत। तत्रावसरे सा जवेन तथा कपाटं दत्तवती यथा तन्मध्यपातितपस्विशिरः कपाटसंघातात्तत्कालमेव विच्छिन्नमभवत्तदैव स ममार च।'' यदीदृशयोगिनां वशिनां मनांसि कामिनीमुखपङ्कजविलोकनेन मारकिङ्करतां नयेरंस्तर्हि पामराणां का वार्त्ता?।

अत एव तुभ्यमर्पितां त्वदनुरागिणीमिमां कामिनीमङ्गीकुरु। यथा त्वं भृतां स्वस्त्रीं तदिष्टपुंसेऽर्पयामासिथ, तथैवाऽहमपि त्वयि रागिणीमभीष्टां चिरमुपभुक्तामेनां कामिनीं तेऽर्पयामि। तामशङ्कमना गृहाण, यतः उभयोर्मिथोऽनुरागिणोर्नवयौवनयोर्युवयोः परस्परविरहजं दुःखं कथं दद्याम्?, यदिष्टानां वियोगः समेषाम-सहनीय एव भवति। स्त्रीणां चरित्रं मतिमतापि पुंसा दुःखेनैव ज्ञातुं शक्यते, इति पण्डितगणैरभाणि। तदेव परीक्षितुमे-नामहमुदवक्षि न तु रिरंसया। अहमेतत्पाणिपीडनकाल एव निश्चिकाय निजस्वान्ते चेदियं केनापि पुंसा व्यभिचरिष्यति, तर्हि तस्मा एव जारपुरुषाय दास्याम्येनाम्। पुरुषान्तरेण कथमेषा चातुर्येण मिलतीति दिदृक्षयैवैकस्तम्भे तत्र सौधे परैरगम्ये तामतिष्ठिपम्, यद्यत्कामितमनया तत्सर्वमपूरयं च। तथापि तेन विदुषाऽधिसभं यदभाणि-राजेन्द्र! अद्यावधि स्त्रीचरित्रबोधिनी कला त्वया नैवाऽवेदि इति तदुक्तिं सत्यापयितुमहं यथा रमाकान्तो लक्ष्मीं कमलमध्ये स्थापयामास, तथा तां स्त्रियमुपर्युक्तभवनेऽस्थापयम्। उक्तञ्च -

कल्लोलैः सह पांसुखेलनतया लोलेयमित्याशया-
देकस्तम्भसरोजसौधकुहरे सिन्धोः सुता शौरिणा ।
यन्मुक्तापि पितामहप्रहरके छेकेयमिन्दोः
करैर्निर्यात्यंशुकरैरुपैति च नमो नारी-चरित्राय तत् ॥३४॥

व्याख्या - यदस्मात्कारणादियं लक्ष्मीः कल्लोलैर्जलतरङ्गैरिव, पांसुखेलनतया = बालकर्तृकधूलिक्रीडनमिव लोला = चञ्चलेत्या-

शयादभिप्रायाच्छौरिणा = विष्णुना एकस्तम्भसरोजसौधकुहरे = एक एव स्तम्भो नालो यस्मिन् सैकस्तम्भः स चाऽसौ सरोजः कमलं स एव सौधः प्रासादस्तस्य कुहरे मध्ये मुक्तापि = स्थापितापि सिन्धोः = सागरस्य सुता = पुत्री-लक्ष्मीः पितामहप्रहरके = पितामहस्य ब्रह्मणः प्रहरे = ब्राह्मे मुहूर्त्ते छेका = चतुरेयं कमला इन्दोश्चन्द्रमसः करैः = किरणैः सह निर्याति = निर्गच्छति, पुनः सायङ्काले अंशुकरैः = सूर्यांशुभिः सहोपैति समायाति च। तस्मान्नारीचरित्राय = स्त्रीचरित्राय ज्ञातुमशक्याय नमो नमस्कारोऽस्तु।

यद्यपि पण्डितोक्तं जात्वपि मिथ्यात्वं नो व्रजति, तथापि तदुक्तोपरि विश्वासमकुर्वन्नीदृक्चेष्टमानामपि काञ्चिद्विदुषीं नारीमानीय परीक्षणीयं तदिति मनसि निर्धार्य यद्वेदितुमेनामग्रहीषं तत्तु सर्वमेतत्प्रसादादबोधम्। अतः कृतकृत्यो भवन्नहमिदानीमेनां निरागिणीं त्वय्येवानुरागिणीं कथं भजेयम्, अनुरज्यामि वा कथम्?। यतः- "प्रतिकूलतामुपगता नारी वैरिणीव पुमांसं व्यथयत्येव। मदीयपुराकृतप्रतिज्ञायाः सत्यत्वात्तावकाङ्गानि मदीयक्रोधावेशो न भजते। अर्थात्तवाङ्गच्छेदनादिदण्डं दातुं नेहते, न वा त्वां देशादस्मान्निष्काशयितुं कामयते, न वा ते सर्वस्वमपजिहीर्षति, सुतरां मत्तो भीतिस्ते काचिदपि नैवोदेति। तस्मादेनामुपभुक्तामनुरागिणीं स्त्रीं गृहाण, स्वगृहं याहि, सम्प्रति युवां युवानौ पुनरीदृशमकार्यं मा कृषाताम्। येन मार्गेण पुरा त्वमत्राऽऽगास्तेनैव गुप्तेन तथाऽनया साकं व्रज। यथा कोऽपि तावकमेतदकृत्यं मामकीं क्षमां च नो जानीयादित्थमिष्टभिषन्निगदितवाञ्छितपथ्यमिव नृपालोक्तमभीष्टं मत्वा स सार्थवाहः शिवो गङ्गामिव तामुररीकृत्य निजापराधं क्षमापयित्वा राजानं नमस्कृत्य सुरङ्गमार्गेण तया स्वैरिण्या स्त्रिया सह स्वसदनमायातः। तत्रावसरे क्षमया पृथ्वीसमः, कनकगिरिरिव दृढतरः, विनष्टाऽखर्वगर्वः, परमकारुणिकः, साहसिकशिरोमणिः पृथ्वीजानिरपि निजभवनमागात्। सकलसहाय-

समापन्नः प्रजाः परिपालयन् सुजनानामोदयन् खलान्निष्कुलीकुर्वन् जगज्जनानानन्दयन् सुखेन राज्यमचीकरदिति।

श्रीसौधर्मबृहत्तपाख्यभुवनख्याताऽच्छगच्छाधिप-
श्रीराजेन्द्रजगन्नयिष्णुचरणाम्भोजद्वयान्ते सदा ।
एतस्मिन् रचिते यतीन्द्रमुनिना गद्यप्रबन्धे तृतीयः
श्रीचम्पकमालिकीयचरिते प्रस्ताव एषोऽनघः ॥१॥

अथ चतुर्थः प्रस्तावः प्रारभ्यते

सत्याश्चम्पकमालायाः, सतीत्वस्य परीक्षणम् ।
प्रस्तावेऽस्मिंश्चतुर्थे हि, वर्णयामि सुविस्तरात् ॥१॥

अथैकस्मिन्प्रस्तावे कमलभूरिवाऽधिसभं सिंहासने सुखाऽऽसीनः स्मेरायमाणशारदशर्वरीशसहोदरवदनः, अत एव दाडिमीबीजानुकारिदन्तांशुकाशिताऽशेषाशो हास्यक्रीडनतत्परो मन्त्रिचतुष्टयपरिवृतः विक्रमार्काक्षितिपतिः पुरा सार्थवाहमुखाद्यथाश्रुतं चम्पकमालायाः शीलमाहात्यमखण्डितं महाश्चर्यकारि तत्तेषां मन्त्रिणामग्रे वदितुमारभत। नृपोक्तं तदाकर्ण्य महाद्भुतमेतदिति चकितास्ते राजानमेवमवोचन्त-स्वामिन्! नह्येतत्तथ्यं प्रतिभाति, सर्वथाऽलीकमेवैतन्मन्यामहे। यद्यपि शास्त्रकाराः शास्त्रे सर्वव्यापिनः सर्वसिद्धिमतो ब्रह्मणो ज्ञानमिव स्त्रीणां चरित्रमपि दुर्ज्ञेयमित्याहुः यथा वाऽतिचपलानां मत्स्यानामालयानि जलानि न शुद्ध्यन्ति तथा चपलतरप्रकृतिकानां स्त्रीणां मनः शुद्धतां स्थैर्यं वा कथमापद्येत?, सर्वथैतदाकाशकुसुममेव प्रतीयते। भवानिव विशुद्धमना अखण्डितशीलशाली पुमान् यद्यपि कश्चिदन्यः सम्भवति, किन्तु निसर्गचपलाः कौटिल्यप्रियाः कामिन्यस्त्वखण्डितशीलाः कदापि नैव सम्भवन्ति। यद्यपि काचिदबला स्थानस्य प्रार्थयितुर्वा विरहान्निजपरिजनभीत्या व्रीडया वा कायिकं वाचनिकं च शीलमवत्यपि, मनस्तु तस्या अपि शुद्धं नैव जात्वपि भवितुमर्हति, तासां मनसा शीलपालनं शशशृङ्गतुल्यमेव जानीहि। यतः-"कामिनीनां चित्तमनवरतं चञ्चलमेव वर्वर्ति।" अतः स्त्रीणां त्रिकरणविशुद्धं

शीलमसम्भवमेव सम्प्रतिकाले प्रतिभाति। तदुक्तम्

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति, नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद! नारीणां, सतीत्वमुपजायते ॥३५॥

व्याख्या - हे नारद! नारीणां, स्थानं = तद्योग्यसङ्केतस्थलं नास्ति = न मिलति, क्षणं = समयो वा नास्ति, कोऽपि प्रार्थयिता नरो वा न मिलति तासामेव नारीणां सतीत्वमुपजायते तिष्ठति, नान्यथेति भावः।

राजन्! यथा मन्दुरायां प्रतिबद्धोऽश्वो मनसो विषयाऽऽसक्त-त्वेऽप्यगत्या शीलमवति, तथा या ललना मनसि विषयरिरंसायाः सद्भावेऽपि लज्जा-भीत्यादिना शीलं पालयति। मनोयोगं विना तस्याः शीलपालनं वास्तविकं भवितुं नाऽर्हति, न वा शास्त्रोक्तं माहात्म्यं साऽश्नुति। सह मनसा या विषयसुखमनीहते सैव सतीत्वमुपैति, तादृशी तु कापि न दृष्टिपथमारोहति। किञ्च यदभाणि प्रभुणा सार्थवाहस्य स्त्रीशीलप्रभावादेव कण्ठस्था चम्पकमाला न म्लायति, तत्कालनिष्पन्नेव भातीति तदपि विचारसहं न मन्ये, न वा तत्र तत्पत्न्या अखण्डितं शीलं हेतुः, किन्तु कस्याश्चिद्देवताया अनुभावादेव तत्कण्ठस्था सा विकस्वरा वरीवृत्यतेऽनवरतम्। निश्चयमेतदवेहि-यत्सा चम्पकमाला मुधैव मायया तादृशं कपटं विधाय भर्त्तारं तं सार्थवाहमवञ्चयत। नूनं केनापि यूना कामुकेन स्वैरं रमते सा, यस्मात् - ''ऐन्द्रजालिक इव मायाविनी कामिनी विचित्रमेव मायां विरचय्य पुमांसमविद्वांसं छलयति, सतीत्वं च प्रथयति।

राजा जगाद-मन्त्रिणः! एवं मा वदत? यदीयं सागराम्बरा रत्नगर्भा निगद्यते, अत एवाऽस्यां बहुला ललना यथार्थशीलपालिनी

भवेच्चेत्किमाश्चर्यम्?, अधुनापि यथा पुंसु कश्चिद्यथार्थाऽखण्डित-शीलवान् विद्यते तथा नारिष्वपि कयाचिदाजन्माऽखण्डितशीलवत्या किमिति न भाव्यम्?, सत्येवं यदि यूयं तस्यां सार्थवाहपत्न्यां सच्छीलविषये संशेध्वे चेत्तदाशु परीक्ष्यताम्, परीक्षया सदसद-भिव्यक्तिरवश्यं भविष्यति। सर्वेषां परीक्षा खलु तत्त्वमभिव्यनक्त्येव। यतः-''स्वर्णमपि परीक्षणादेव सर्वेषां मूर्धन्यतामकलङ्कतां च धातुमर्हति।''

इत्थं क्षितिजानिना निगदिते दुर्बुद्धिनिधयस्ते चत्वारो मन्त्रिणः प्रभोरादेशः प्रमाणमित्युदीर्य स्वस्वसदनं निन्युः। तदनु त्यक्तन्याय-मार्गा अन्यायमार्गाऽर्पिताङ्घ्रयस्तथा बकवृत्तयस्ते चत्वारो मन्त्रिण उज्जयिनीनगर्या निर्गत्य परैरकम्पितायां चम्पापुर्यां पौर्वापर्येण निजनिजस्तोकपरिवारयुता आगत्य पृथक् पृथक् स्थानेऽतिष्ठन्। तेषां प्रथमः कपटनीराम्बुधिर्मूलदेव नामा मन्त्री तत् सार्थवाह-गृहाऽभ्याश एव कस्यचिदेकस्य वृद्धस्य पुंसः सदने भाटकेनोदतरत्। तत एकामतिवृद्धां दौत्यकर्मठां नारीं दानादिना वशीकृत्य सर्वं शिक्षयित्वा स्वार्थसिषाधयिषया चम्पकमालायाः पार्श्वं प्रैषीत्। सा कुलटा तदन्तिकमागत्य तामित्थमभ्यधादेकान्ते-बाले! तव भर्त्ता चिरकालतः परदेशे तिष्ठति, भूयांश्च कालो यातः, परन्तु नायातः, त्वं तु तडिद्गौरवर्णा सुतारुण्यपूर्णा रतिरिव सकलल-लनासौन्दर्याऽखर्वगर्वजित्वरी, दृश्यसे, हा हा!! कथमीदृग्रू-पलावण्यतारुण्यमधिगता त्वमिदानीमेकाकिनी तद्विरहं सहसे?, या खलु साधारणी रमणी तामपि पतिविरहो दुर्वहं दुःखं नयते, तर्हि सुदक्षविदग्धकामिनीजनमूर्धन्यां नवयौवनां त्वां भर्तुर्वियोगः परितापयेदत्र किमाश्चर्यम्?, सुन्दरि! तव भर्त्तापि लोभिनामग्रेसर एव प्रतीयते। यतः श्रीमान् सन्नपि धनार्जनकृते त्वां सर्वथा

विस्मृत्य पृथिव्यां यत्र तत्र पर्यटति। कमलायामेकान्तमासक्तचेतास्ते भर्त्ता यत्र कुत्र बम्भ्रमीति चेदन्यायामप्यासक्तो भवेदेव शठत्वादिति हेतोस्तत्र भर्तरि तवेदृशी गाढप्रीतिः प्रतिबन्धो वा घटते किम्?, यश्चाऽनङ्गपञ्चाननातिभीषणे यौवनमहाकानने त्वामेकाकिनीमबला-मजहात्। गतवांश्चान्यत्र तर्हि तदन्यः शठश्च को नाम द्वितीयो निगद्येत। अत एव सुमुखि! तदनुरागं विजहाहि?, हितं मद्वचः शृणु?-त्वन्मनोऽनुकूलेन केनचिदनुरागिणा यूना पुंसा सत्रा स्वैरं विहर, यौवनं चादः सफलं कुरुष्व। भोगं विना निरुपममपीदं तव यौवनं नूनमाकाशकुसुममिव मुधैव याति। यथा "पुंसां प्राधान्येन सुखसाधनं कामिनी वर्त्तते तथैव योषितामपि तदसाधारणं साधनं पुमानेव भवति।" तदाह कश्चित्कविः-

प्रत्यागमिष्यति भविष्यति सङ्गमो नौ,
संदृश्यते च भवतो हृदयेऽनुरागः ।
एषा गता न पुनरेष्यति जीवितेश?,
विद्युद्विलासचपला नवयौवनश्रीः ॥३६॥

व्याख्या - हे जीवितेश! भवान् प्रत्यागमिष्यति = देशान्तरात्प-रावर्त्स्यति, ततो नौ = आवयोः सङ्गमो मेलनमपि भविष्यति, तत्र मनागपि नैव संशये। यतो यस्माद् भवतस्तव हृदये = मनसि ममाऽनुरागः संदृश्यते = विलोक्यते, किन्तु एषा = इयं विद्युतस्तडितो विलास इव चपलाऽस्थिरा नवयौवनश्रीः गताऽतीता सती पुनर्नैवैष्यति, अत एव यौवनश्रियमुपभोगेन सफलीकृत्वैव विदेशं याहि।

तादृशः श्रेयान् गुणवान् पुमान् दृशं न रोहतीति तु नैव वाच्यम्?, यथा त्वं सुष्ठुश्रीः सृष्टौ गुणै रूपैस्तारुण्यैरेकाऽसि

तथा पुमानपि कश्चिदस्त्येव, इति तथ्यमवेहि। यः खलु गुणवानस्ति, स पुमानवश्यमेव गुणगणमण्डितसज्जनसङ्गत्यै स्वयमेव प्रवर्त्तते, न हि कस्यचिन्नोदनमपेक्षते, सज्जिगंसया कमलिनीं प्रति केनाप्यऽप्रेर्यमाणो हंस इव। गुणवतां तादृशी प्रकृतिरेव वर्त्तते, यया गुणिना सङ्गन्तुं स्वयमेव प्रवर्त्तते गुणवान्, अन्यदाऽऽस्तां तावत्। सुभगे! गुणवतां सङ्गत्यै बहुदूरतोऽपि गुणी समायाति। अतः, गुणवत्या भवत्या सह सज्जिगंसां वहन् महीयानुज्जयिनीतः कश्चिदत्र महामन्त्री समायातः। तदाह -

गुणिनि गुणज्ञो रमते, नाऽगुणशीलस्य गुणिनि परितोषः।
अलिरेति वनात्कमलं, न हि भेकस्तत्र संस्थोऽपि ॥३७॥

व्याख्या - गुणाञ्जानातीति गुणज्ञः = गुणग्राही जनो गुणिनि= गुणवति जने रमते = हृष्यति, अगुणशीलस्य = नास्ति गुणस्यशीलं यस्मिंस्तस्य निर्गुणस्य गुणवति परितोषः = प्रीतिर्नोदेति, यथा अलिर्भ्रमरो वनाद्वनं विहाय कमलं = सरोजं प्रत्येति समायाति तत्र सौरभ्यगुणस्य सत्त्वात्, तत्र जले तत्रैव स्थाने संस्थोऽपि भेको मण्डूको नैति, कमलगुणानभिज्ञत्वात्।

स च राजमंत्री कामुको युवा सकलकला विद्वान्महीयान् पुमान् काञ्चिदद्भुतामेव सुषमां धत्ते। रूपेण साक्षान्मदन इव चकाशन् महाचतुरशिरोमणिर्मधुरालापी, मांसलाऽवयवः, सच्चिह्नचिह्नितमुकुटमण्डितो मूलदेवाभिधानः सुराचार्य इव मतिमान्, विक्रमार्कनरनाथकुलपरम्परागतवर्त्तमानमन्त्रिगणगरीयान्,। विक्रमराजस्य प्राधान्येनाऽभिमतः, कदाचित्कस्यचिज्जनस्य मुखेन तावकीनलोकोत्तरस्फारजगत्प्रसारगुणावलीमाकर्ण्य भवत्या सङ्गन्तुमत्युत्सुक इहागतोऽस्ति। तेनैव मन्त्रिणा स्वाशयं त्वामभिधातुमहं तवान्तिके प्रेषिताऽस्मि। यस्मादत्युग्ररागवान्म-

हान्मतिवान् पुमान् निजाशयं कस्याप्यग्रे प्रकटयितुं नो शक्नोति। तदनुरूपं भाग्यस्य सौन्दर्यस्य च निधानं महता पुण्योदयेन प्राप्यं; तमागतं मन्त्रिवरं सेवस्व, तत्संयोगेनाऽनघमिदं यौवनं साफल्यं नय?, किमधिकं निगदामि-सकलसीमन्तिनीजनमनोमोहनदक्षिणेन सततसौख्यकारिणा तेन साकं या कामिनी नाऽरंस्त तस्या यौवनं वन्यं कुसुममिव मुधैव जानीहि। यदभाणि -

समुपागतवति दैवादवहेलां कुटज! मधुकरे मा गाः।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयं मान्यः ॥३८॥

व्याख्या - हे कुटज! दैवाद् = भाग्यात् समुपागतवति = निजसदनमायाते मधुकरे = भ्रमरे अवहेलामनादरं मा गाः = मा कार्षीः, यदयं मकरन्दतुन्दिलानाम् = कुसुमरसैराढ्यानाम्, अरविन्दानाम् = कमलानां मान्यः = मानार्हः भवतीति भावः।

दूतीकथितमतिगर्ह्यं वृत्तं निशम्य सा सती मनसि दध्यौ- यदेनं व्यसनासक्तमुन्मत्तमधमं मन्त्रिणं धिग् धिगस्तु। हन्त! कथमेनमनीतिपरायणं मन्त्रिपदे न्ययुक्त?, यो हि पुमान् सदाचारी न्यायपथानुचारी भवति तादृश एव जने तादृशाधिकारः शोभां दधाति। तदनर्हपुरुषे सोऽधिकारः प्रदातुरज्ञतामेव व्यञ्जयति। यद्यपि विक्रमो राजा सदाचारी परोपकारी न्यायविच्छ्रूयते, परमीदृशमकृत्यकर्त्तारं यदकरोन्मन्त्रिणं तेन तस्मिन् सन्तमपि सदाचारित्वादिगुणगणं कथङ्कारं महीयाञ्जनो विश्वसितुतमाम्?, तन्मन्ये कुलपारम्पर्येण मोहादथवाऽमुष्य खलताऽज्ञानतादिदुर्गुणजिज्ञासयाऽथवा तीव्रमतिमत्वादेनं मन्त्रिपदे नियुक्तवान्। असौ बहुदूरदेशे निवसन्मयि स्वप्नेऽप्यदृष्टायां कथं रागवानजायत?, अशृणोद्वा कथमदृष्टामतिदूरवर्तिनीं मामयम्?, अथवा व्यवसायस्य

हेतोरुज्जयिनीमीयिवान् विशुद्धधीर्भर्त्ता निरन्तरं राजसभायां गमागमौ विदधदासीत्, तत्रैव मदखण्डितशीलज्ञापिकां मत्पत्युरधिग्रीवं स्थितामम्लानामनवरतविकस्वरां मालामालोकमानः क्षितिपतिस्तत्परीक्षायैं कौतुकादमुमत्राधमं प्राहिणोत्?, यथा विधुन्तुदो विधोः पूर्णां कान्तिं न सहते, पवनो वा मेघौन्नत्यं चिखण्डयिषति तथाऽऽर्यमपि प्रकृत्याऽनार्यधीरयं मन्त्री मामकं सतीत्वं भङ्क्तुमिहाऽऽयातोऽस्ति, किन्तु तद्भङ्क्तुं कदाचिदप्येष नार्हति, महाभोगिभोगस्थमणिमिव। स्वप्नेऽप्येष मदमूल्यरत्नप्रायमिदं शीलं विहन्तुं नैव प्रभविष्यति। अत इदानीमस्यै दूत्यै तदीयदुराशयलक्षणं महागदशान्तिं करिष्यन्त्या मया तदनुकूलमेवोत्तरं दातव्यम्। नूनमेष यौवनधनाधिकारलक्षणत्रिदोषदूषितोऽजायत, अत एव तदुद्भूताऽभिमानादुन्मत्ततया मामीदृशमयोग्यं दूतीमुखेन निगदन्मद्वाक्यरूपमहौषधं निपीयाऽपि हृदि विवेकलक्षणं पाटवं मनागपि धर्त्तुं नार्हति। यतोऽयं सन्निपातो महीयान् रोगः कठिनतरचिकित्सया विना जात्वपि तं नैव हास्यति। यतः-

सम्यगाचर्यते यावन्नाऽनुरूपा प्रतिक्रिया ।
तावन्नैवाऽऽमयो याति, प्रतिपक्ष इव क्षयम् ॥३९॥

व्याख्या - यावत् अनुरूपा = तदुचिता प्रतिक्रिया = प्रतीकारः सम्यग् = विधिवत् नाऽऽचर्यते = न विधीयते, तावदामयो रोगः प्रतिपक्षः शत्रुरिव क्षयं = नाशं नैव याति-व्रजति।

अधुनैवाऽऽत्मीययथार्थमभिप्रायमहं बोधयानि चेदसौ दुर्धीः प्रतिबोधं नैवाऽधिगमिष्यतीति तदुचितफलं दर्शयित्वैव स्वाभिप्रायः प्रकाशनीयः। इदानीं तु तदुचितमाययैव वञ्चनीयस्तोषणीयश्च। यस्मादवसरे समुपस्थिते च सङ्कटे प्राज्ञोऽपि महाजनाः कापट्यं विदधिरे, ''यथा त्रिभुवनपरितापिनो बलेर्वञ्चनाय विष्णुर्वामन-

तामियाय।'' इत्थं निश्चित्य सा सतीमतल्लिका चम्पकमाला तां दूतीमित्थमारेभे निगदितुम्।

दूति! अतीवसम्यगभूत्, यदधुना त्वमत्र समागतवती। स्त्रीणां मनस्तु प्रायः सदैव मीनकेतनबाधितमिव तिष्ठति, तां बाधां निरसितुं भिषगिव भर्त्तृसान्निध्यमेव कल्पते। या खलु चिरविरहिणी वर्त्तते कामिनी, सा तु प्राणान्तकरीमेव तत्पीडां सहते, तातप्यते च तस्याः सर्वगात्रम्। ग्रीष्मर्त्तौ वल्लीव कथमपि लोकलज्जां कुलाचारादिसमुज्झितुमक्षमा दिवानिशमसहनीयं क्लेशमनुभवामि मदनशरनिकरव्याविद्धहृदया। किमन्यत्, दवदहनसन्तप्ता हरिणीव निदाघेऽतितप्तसिकतानिपतिता मत्सीव मदनबाधया व्याकुलीकृताहमेकदाऽचिन्तयमित्थम्-यन्मे भर्त्ता मां विहाय लोभाद्देशान्तरे तिष्ठति, सदने कदापि न समायाति, तर्हि कियन्तं कालं दुर्वहेयं प्राणान्तादप्यधिका कामपीडा सोढव्या?। अतो मया कश्चिन्महाकामी बलीयान् सकलकलावान् युवा विषयदहनदाहप्रशमनपटीयान् गवेषणीय इति निर्धार्य चिरादेतद्विधित्सया समुत्सुकाऽहमासमेव, परमद्य मदीयसुकृतनिचयसमाकृष्टा तदभीष्टसाधनी त्वमिहाऽऽगतैव मदभ्याशे। मातः! सकलजनहितैषिणी शुभकार्यसमुत्पादिनी परोपकृतिविधायिनी भाति भवती, अतो मामुपकुरुताम्। ममाऽऽसीदेवैतद्विधातुं महती चिन्ता-यत्कश्चन गुणवान् सरसो युवा मिलेत्तेन सत्रा स्वैरं सुखमनुभवेयमिति। परमद्य तां चिन्तां पवनो धूलीपटलमिव त्वमनीनशः, किञ्चाऽऽलवालारोपितो वृक्षस्तन्मूले जलसेकादरं वृद्धिमुपैति, नवपल्लवितश्च सम्पद्यते यथा, तथा कुल्यातुल्या हृदयालवाले स्थितं मामकमनोरथलक्षणममुं तरुं तत्पुरुषसमागमनवार्त्तया सुधयाऽभिषिच्य नवपल्लवितमकृथाः। किमधिकालापेन, यथा निदाघे सूर्यसन्तप्तां सागराम्बरां मेघमाला प्रीणाति, तथैवाऽत्रागता त्वमिदानीं

चिरविरहिणीं विषयसन्तप्तां मां शशिनः कलेव सुशीतलामकार्षीः। तेन पुंसा साकं सङ्गन्तुं मनो मे नितरामौत्सुक्यं धत्ते, समुत्साहि च वर्वर्त्ति, तथापि कस्यचित्कार्यस्य हेतोः किञ्चिद्विलम्बयिष्ये। अद्यतनदिवसाच्चतुर्थे दिवसे तमागतं मन्त्रिणमेकाकिनं निशायाः प्रथमे प्रहरेऽत्र प्रेषयेः। यथा लोकेऽर्थमन्तरा भोग्यसामग्री न सम्पद्यते, तथा दानेन विना तस्यौदार्यपरीक्षापि नो जायेत?, इति प्रेम्णो दानमेव प्रथममाहुः शास्त्रे पण्डिताः। अतः प्रागेव लक्षदीनारान्मे प्रेषयतु, त्वं हि सर्वमेतत्तमाचक्ष्व?, मया सङ्गन्तुमुत्सुकं तमाश्वासय शीघ्रम्। इत्थं श्रुत्वा सा दूती तं मन्त्रिणं सर्वमवोचत्। तच्छ्रुत्वा सोऽपि स्वं कृतार्थं मन्यमानः प्रामोदत।

इतश्च शेमुषीखनिकल्पा सा सती गृहान्तः क्वचिदेकत्र कोणे धान्यस्थापनव्याजेनैकान्तोपवेशनस्थले नीचैस्तमं गर्त्तमेकमचीखनत्। तत्र च दयाशालिनी साऽधस्ताद् गाङ्गेयं सैकतं निपात्य बहुलं कोमलमचीकरत्। तदुपरिष्टाच्च सूक्ष्माऽऽमतन्तुस्यूताऽऽस्तरणसुसज्जितं निर्मलरमणीयवसनविभूषितं पल्यङ्कमप्यतिष्ठिपत्। अथ तद्दिने यथोक्तसमये प्रेषितलक्षदीनारः कामदेवमहागदोद्दीपकः, कुपथ्यवेषधारकः, कर्पूरवालुकलवङ्गादिमिश्रिताम्बूलपूर्णवदनः कस्तूरीकाश्मीरकर्दमप्रलिप्तगात्रः, पुष्पधन्वनश्चापतुल्यया सुमालया विभूषितग्रीवः, कस्तूरीप्रमुखलेपसुरभीकृतश्मश्रुः, सुरभिविशिष्टधूपसुवासिततनुवासाः स मन्त्री रजन्याः प्रथमे प्रहरे तस्याः सत्याः सदनमागात्। तत्रैवावसरे तया कराङ्गुल्या दर्शितशय्योपरि प्रमत्तकल्पो मन्त्री सदसद्विवेकं विनैव त्वरया यावदुपविशति तावत्तदीयमनोरथेन सहैव पल्यङ्कोपर्यास्तीर्णतन्तुस्तोमे त्रुटिते सहसैव स दुर्धीर्मन्त्री तदधस्तान्महागर्त्ते पपात।

अथैवमन्येऽपि विक्रमादित्यभूपतेर्मन्त्रिणः सहस्रदेव-श्रीसार-बुद्धिसार-नामानस्त्रयोऽपि प्राक् तत्रागत्य तथैव दूत्या चम्पकमालां निजनिजाशयं व्यजिज्ञपन् दूतीमुखात्तदादिष्टसमयमवगत्य तस्यामेव त्रियामायां क्रमशः द्वित्रिचतुःप्रहरेषु तदालयमीयुः। प्रथमवदेतेऽपि तत्पल्यङ्कोपर्युपवेशनानन्तरमेव तदधस्तात्कृतमहागर्त्ते निपेतुः, तज्ज्ञाने चिरविप्रयुक्ता मिथः सज्जिगंसया समुत्सुका इव मिमिलुः। अथ तत्र गर्त्ते ते चत्वारो निपतिता अतिसूक्ष्मसैकतमालोकमाना मिथ इत्थमालेपुः-अहो! नूनमेषा सतीमतल्लिकास्ति, दयालु-ताप्यस्या महत्येव वर्त्तते, यदनया महागर्त्ते घोरनरकोपमे नो निपातयन्त्याप्यङ्गानि नाऽभज्यन्त। यदत्र गर्त्ते निपततां नः प्रथममतिक्लेशो जायते, परमायतावेतल्लाभकारि शिक्षणमेव भविष्यति। अमुया सत्या यदकारि नो दुर्दशेयं सापि शिक्षैव मन्तव्या। यतः सती प्रकाण्डेयं कीदृशी मतिमती वर्त्तते, कियच्चा-स्याश्चातुर्यमस्ति, सर्वथा सद्भिः कविभिः प्रशस्यतमा भाति, यस्मान्मतिवैशद्यशालिनोऽप्यस्मांस्तथा छलयामास बालिशानिव निजातुलचातुरीकलाकल्पनया, यथा खलु दीपके निपतन्तः पतङ्गाः स्वदोषेण भस्मीभवन्ति। तथा वयमपि विषयपरिपीडिताः कामकिङ्करतामुपनीतास्तया चतुराणामग्रेसरया च्छलिता घोरनर-काकारे नीचैस्तरे गर्त्तेऽस्मिन्नपताम। अतोऽत्र महागर्त्ते निपतितान् दुर्मदैर्दुर्दमान् महागजानिव विषयाऽऽशारुङ्नष्टज्ञाननयनान् मदो-न्मत्तानस्मानस्तु धिक् शतशः। मांसपिण्डचिखादयिषया दुर्धियां मीनानां गलबन्धाद् दुर्दशा यथा जायते तथा विषयपलाशनगृध्नूनां दुर्धीशिरोमणीनामस्मादृशामीदृशी दुःस्थितिरुपतिष्ठेत, तत्र किमाश्चर्यम्।

तेन हेतुना गुणवर्णाभ्यामेष विषयो विषादप्यधिको जागर्त्ति,

यतः-विषं तु भक्षितं सदेव परिपीडयति लोकान्, अयं तु दर्शनादि-नाऽपि जनानधिकं परिभवति। हन्त! सत्या अमुष्याः शीलपलमशितुं गृध्रात्मतां गता वयमत्राऽऽगताः परन्तु दुर्दैवयोगादपूर्णमनोरथा मध्य एवेदृशां शोच्यां दशामुपगता अभूम, कूपोपमेऽस्मिन् गर्त्ते नः पुराकृताऽशुभकर्माण्येव न्यपातयन्, भीषणे नरके नारका जीवा इव वयमत्र गर्त्ते यावज्जीवं कथं स्थास्यामः?, यावदन्यं किमपि न ब्रूयाम तावदज्ञातैतद्दुर्दशान् संलब्धकुकर्मफलकान् कश्चिद्दासेयादिरपि कथमत्र संशोधयेज्जानीयाद्वाऽविदितः सः?, यथा खलु सागरे महाऽऽवर्त्ते पतितायाश्चक्रवत्तत्रैव भ्रमन्त्या नाव उद्धारः कर्त्तुं न पार्यते, तथा गर्त्तादमुष्मादस्माकमुद्धृतिरपि न भाति, इत्थं मिथ आलपन्तश्चिन्ताऽऽतुराः शोचन्तस्ते तत्रैव गर्त्तेऽगदनीयं दुःखमनुभवन्तः क्षुत्तृषाक्रान्ता अतिष्ठन्। ततः प्रत्यहं शिक्येन मृण्मयपात्रे कोद्रवादिकदन्नं भोजनाय निक्षिप्य जलं च कमण्डलौ निधाय भो मन्त्रिणः! सावधाना भवत, भोज्यादिकं गृह्णीत? इति व्याहृत्य सर्वं खाद्यपेयादिकं ददाना सती तानरक्षत्। यस्मादुपोषणमिव लघ्वशनं गुणकारि भिषजां गणैर्न्यगादि। तस्मा-देव हेतोरल्पाशनेनापि शरीरमवन्तस्ते मन्त्रिणो मुमुदिरे। इत्थं मिथो भृशमनवरतं शोचन्तः, पशव इव तत्रैवाऽश्नन्तो विसृजन्तश्च मलमूत्रादिकं कायिकं कष्टमपि दुर्वचं सहमाना, रसत्यागादितपोऽपि भावमन्तरा समाचरन्ते। दीनाननाः सम्प्रासपारतन्त्र्यास्ते चत्वारो मन्त्रिणः पल्योपममिव षण्मासांस्तत्र गर्त्ते महता कष्टेन व्यत्यैरन्।

अत्रावसरे कमपि शत्रुं जित्वा गगनधूलिसार्थवाहेन सत्रा राजा विक्रमादित्यः ससैन्यस्तत्र चम्पापुर्यां समाययौ। ततो राज्ञ आज्ञया सार्थेशः स्वसदनमागात्तदावसरे संप्राप्ते सा सती मन्त्रिकथामशेषां निजभर्त्तारमाचक्ष्यौ। राजापि यावत्पूर्वं चम्पक-

मालाशीलपरीक्षायै ये मन्त्रिणः प्रेषितास्तान् स्मारं स्मारं तच्छुद्धिकृते समुत्सुकोऽभूत्। तावद् बुद्धिखन्या सत्या निजस्त्रिया प्रेरितः सार्थवाहः सबलं राजानं निजगृहे भोजनाय निमन्त्रयामास, तस्याग्रहाऽऽधिक्यान्नृपोऽपि तद्वचो मेने। ततस्तदुचितनानाविध-भोज्यसामग्रीसम्पादनाय सोद्यमः स निजनिकेतनमायातः। असौ खलु पक्वान्नादिनानाविधभोजनसामग्रीं गुप्त्या परकीयभवने समपीपचत्। तदा क्षितिपतिरप्यतुष्यत्, व्यचिन्तयच्च-यदिष्टं कार्यमत्रावश्यमेव सेत्स्यति, यदमुना सार्थपतिना सम्पादितां भोजनसामग्रीं तदालयं समेत्य ससैन्योऽहं भुञ्जीयेति युज्यते। सार्थवाहो यद्यपि सबलमेव मा प्रमोदातिरेकाद् भोजनाय न्यमन्त्रयत, तथापि तावतीः सामग्रीः सम्पादयितुं स कदापि न शक्नुया-दित्यवधार्य मतिमान् राजा कमपि निजसेवकं तत्र सदने प्राहिणोत्। सोऽपि तदीयसदनमागत्य, ततः परावृत्य राजानमित्याचख्यौ-स्वामिन्! तस्य निकेतने सामग्र्याः का कथा?, पाकशालायां धूमोऽपि नालोकि, तदनुचराश्च निश्चिन्ता एव ददृशिरे, किमन्यद्ब्रु-दामि एकः शिशुरपि यावद् भुञ्जीत तावत्यपि सामग्री तेन नाकारि, पुनः कथमेष ससैन्यं श्रीमन्तं न्यमन्त्रयत?, इति सेवकोदितमाकर्ण्य क्षमेशोऽपि तत्कालमेव क्रुधा जज्वाल, अभ्यधाच्चैवम्-अहो! यदेष ससैन्यं मां निमन्त्र्य किमप्यकुर्वन् निरुद्यमस्तिष्ठति?। तेनाऽनुमीयते यदसौ महाधूर्त्तोऽस्ति, अथवा किमेष घातकः?, वञ्चकोऽलसो वा?, योऽस्तु सोऽस्तु। सपरिवारोऽहं तदालये समागतायां वेलायां भोक्तुं व्रजिष्यामि, सामग्र्या विना कथमेतान्मे परिवारान् भोजयतीत्यपि द्रक्ष्यामि?।

अस्मिन्नेवावसरेऽस्थिचर्मावशेषांस्तान् गर्त्तस्थान् मन्त्रिणः स्वस्त्रिया शिक्षितः सार्थवाह आह खल्वेवम्-मन्त्रिणः! मदादेशम-

संशयं यूयं करिष्यथ चेद् युष्मानहं नरकाद् घोरान्धकाराज्जीवानिवाऽवश्यमुद्धरिष्यामि गर्त्तादमुष्मात्। लेशतोऽपि ततो विपरीतं करिष्यथ चेदत्रैव गर्त्ते पुनर्निधास्यामि। तदुक्तिमाकर्ण्य ते समूचिरेभोरभयप्रद! यथा निगदिष्यसि तथैवाऽऽचरिष्यामः, तदुल्लङ्घनं नैव करिष्यामो वयमिति तथ्यं जानीहि, परन्त्वस्माद् गर्त्तात्तूर्णमेव चिरपरिभुक्तपापफलानतिदुःखितानस्मानुद्धर। त्वं महीयसामपि श्लाघ्योऽसि, समेषां नमस्योऽसि, यतस्ते सतीमतल्लिकेयं विदुषी प्राणवल्लभा विधिनाऽकारि।

अथाचिरादेव तन्मध्यात्तान्निष्काश्य शुद्धेन वारिणा सुस्नप्य तेषां गात्रेषु सकलेषु रक्तचन्दनं कर्पूरादिसुरभीकृतमलिप्त। ततस्तान् यक्षानिव तद्गात्रेषु यक्षकर्दममनुलिप्य बहुविधैः कुसुमैः संशोभ्य महतीं मालां च परिधापितवान्। ततस्तान् गृहमध्यभागे स्थापयामास, तत्सन्निधौ ताः सकलाश्च भोज्यसामग्रीः स्थापितवान्। पुनस्तेभ्य एवं शिक्षामप्यदात्-समागता लोका यदा वः पश्येयुस्तदा भवद्भिर्देवैरिव निमेषशून्यैरेव भाव्यम्। भोजनार्थं निजनिजासने नृपालादिलोकेषु सकलेषु समुपविष्टेषु या या भोजनसामग्रीस्त्वत्तः प्रार्थयेय तास्ताः सत्वरमेव दातव्या, भवद्भिर्मनागपि विलम्बो नैव कार्यः, ततोऽहं वो मोक्ष्यामि, वैपरीत्यकरणे तु कदापि नो मोक्ष्यामीति सत्यं वदामि। इत्थं सार्थवाहोक्तमशेषमपि ते सहर्षमुररीचक्रिवांसः। तदनन्तरं सार्थवाहो नृपान्तिकमेत्य नमस्कृत्यैवमभ्यर्थितुमारभत-

स्वामिन्! नीतिमतां श्रीमतामद्वितीय! सम्प्रति भोजनवेला समायाता, अतः श्रीमत्प्रभुचरणाः सपरिवारा ममालयमागत्य पुनन्तु, तदा निसर्गान्महौजा बिडौजा इव शोभामावहन् सत्यपि सन्देहनिकरे दाक्षिण्यचेता राजा ससैन्यस्तस्यावासमुपेयिवान्।

तत्रावसरे गृहद्वारमुपागते राजेन्द्रे सुरभीकृतैः कुङ्कुमाक्तैस्तण्डुलैः सुरभिसुमैः सुवर्णैर्मौक्तिकैश्च सार्थवाहपत्नी नरपालमभ्यर्च्य वर्धापयामास। ततो राजेन्द्रमुच्चैस्तरे शुभासने मनोहरे समुपावेश्य शतपाकादिमहासुरभितैलं तदङ्गे मर्दयामास यथास्थानं लघु-मध्यमोत्तरहस्तव्यापारेण राज्ञः सर्वगात्रं संमर्द्य तन्मनः प्रासीसदत्। ततस्तदङ्गे यक्षकर्दमादिविशिष्टं चूर्णं विलिप्य पश्चादुष्णोदकेन स्नपयाञ्चक्रे। तदनु स्वच्छेन पेशलकौशेयेन वसनेन तदङ्गं निर्जलीकृत्य, कर्पूरकस्तूरिकादिमिश्रितचन्दनं राजाङ्गे सुलिप्य, कर्पूरागुरुदाहजातसुरभिधूपेन तदीयं सीमन्तं धूपयित्वा, सुरभिप्रत्य-ग्रसुमजातमालया[1] विभूष्य गङ्गावारिमिश्रितयामुनं कल्लोलमिव चूडामबध्नात्स सार्थवाहः। ततो जातिमत्स्वर्णवर्णकाश्मीरजकेशर-कर्दमेन भाग्यलक्ष्म्याः श्रेष्ठपट्टोपमे नरपालविशालभाले तिलकं रचयाञ्चक्रे। तदनु नृपस्य मनःसदने निवसन्तीनां धीह्रीश्रीणामान्दो-लनाय झूलनखट्वेव कण्ठार्पिता सुमाला शुशुभेतराम्। तदनन्तरं यत्र यक्षीकृता मन्त्रिण आसन्, तत्रैव सदने राजानमसावनयत्। मुधा यक्षीकृतांस्तान्मन्त्रिणो नमस्कृत्य सार्थवाहोऽभ्यधात्-भो यक्षाः! एते मे प्रभवः सपरिकराः भोजनाय समुपागताः, अतो यूयं तूर्णमेव तत्परिवेषणाय सामग्रीः समर्पयत?।

अथ तेऽपि कृत्रिमयक्षास्तत्कालमेवाऽगणितानि तदर्हासनानि स्वर्णमयानि राजतानि च स्थालानि लघूनि गुरूणि च पानपात्राणि कल्पतरव इव तस्मै ददिरे। तदनु सुपक्वान्यतिमिष्टानि द्राक्षाङ्को-टाऽक्षोटजम्बीराऽऽम्रादिदिव्यानि राशीकृतानि फलानि तिरस्कृतामृ-तस्वादूनि, सुकोमलानि माधुर्यभराणि घृतपूराणि, शष्कुलीः, अपूपान् सिंहकेशरियामोदकान् प्रीतिकरान् खर्जादिमिष्टपदार्थान्, पुञ्जीकृताऽमृततुल्यरसान् कमनीयतमान् शर्कराघृतचूर्णपूर्णपा-

1. पुष्प ।

चितान् संपूर्णचन्द्रमण्डलाकारान् घृतपूरान्, तथा स्वादिष्टविशिष्टाधिकघृतपाचितविविधपक्वान्नादिसरसरुचिकरपदार्थान् वितेरुस्तस्मै। पुनस्ते बहुवर्षीयाऽतिसूक्ष्मसुरभिशाल्योदनान् सूपांश्च भुञ्जानांस्तान् पुलकाञ्चितान् कर्त्तुं दाक्षिण्यवहान्, सुरभीणि नूत्नानि पौष्टिकानि प्रभूतानि घृतानि, विविधान् नृपाशनार्हबहूच्छाकान् दत्तवन्तः। ततस्ते लवङ्गैलाजयपत्रादिसुरभिमयताम्बूलपूर्णमनेकं पात्रम्, कङ्कोलादिचूर्णम्, पूगीफलानि नानाजातीयानि, बहूनि दुग्धानि शर्करा मिश्राणि, दधीनि चातिपिच्छलानि, तावन्ति चीनांशुकानि राजार्हाणि, दिव्यानि नानाविधाभरणानि चाहमहमिकया समर्पितुं लग्नाः। ये ये पदार्थास्तत्रावसरे रिक्ततामुपगतास्ते पुनरपि गुप्तरीत्या गूढचारिपुंभिरानीय तत्सन्निधौ स्थापिताः। अथैतत्प्रदत्तविविधातिस्वादुपदार्थान् यथाकामं भुञ्जानः सपरिवारः क्षोणीपतिर्बाढं प्रससाद।

ततस्तत्सदनान्तः कल्पतरूनिव मनोवाञ्छितफलदातॄन्, तत्राऽधिष्ठातृतया संस्थितांस्तांन् यक्षीकृतानालोक्य मनसि चमत्कृतो राजा दध्यौ-अहो! एष सार्थेशो भाग्यवानस्ति यदस्य दासेर इव वशाम्वदीभूय सर्वान् कामानमी यक्षाः सदैव पूरयन्ति, यद्यदादिशत्यसौ तदशेषं सम्पादयन्ति च। यस्य पुंस ईदृशा वश्यास्तिष्ठन्ति देवाः स शतसहस्रादीनपि भोजयितुं कथं पाचयेन्नाम? दुरवस्थानलक्षणद्विपविभञ्जनपञ्चाननकल्पाः सकलमनोरथावासिकृते कल्पशाखिन एते यक्षा यदि मम गृहे तिष्ठेयुस्तर्हि कृतार्थः स्यामहमपि। अत एव भोजनानन्तरमेतान् यक्षान् सार्थवाहं याचिष्ये?, यद्यप्येते सर्वथाऽदेया एव सन्ति, तथापि स औदार्यात्स्नेहादेश्चावश्यमेव दास्यति, कदापि याचनां विफलं न करिष्यति। एतेषां यक्षाणां प्रभावाल्लोकेभ्यो यथेष्टनानाविधसुभोजनप्रदानेन जगत्यामखण्डं यशः प्राप्स्यामि। परन्त्वहं राजास्मि, अयं तु

सेवकोऽस्ति, अत एनमहं कथं याचेय?, यतो हि "महतां मादृशां सेवकं प्रतियाचनमवश्यं लघुत्वस्यैव हेतुर्भविष्यति।" यदुक्तम्-

याचनं महतां तत्र, लघुता कारणं ध्रुवम् ।
ततो न याचितव्यं हि, जात्वपि भ्रमतोऽपि वा ॥३८॥

व्याख्या - अत्र = संसारे महतामुन्नतानां पुंसां याचनं = याञ्ञा लघुतायाः कारणं ध्रुवमवश्यं भवति, अर्थात्-याचनान्महीयानपि लघीयान् भवति, ततस्तस्मात्कारणात् जात्वपि कदापि भ्रमतोऽज्ञानात् वाऽथवा अपिना ज्ञानतो हि-निश्चितं न याचितव्यम्।

अन्यच्च-

बलि अब्भत्थणि महु-महणु लहुई हूआ सोइ ।
जइ इच्छह वडप्पणउं, देहु म मग्गउ कोइ ॥३९॥

व्याख्या - (सोइ) सः (महुमहणु) मधुमथनः = श्रीकृष्णः (बलिअब्भत्थणि) बलेरभ्यर्थनाद्याचनात् (लहुइ) लघुः (हूआ) अभूत्, अतः कारणात् (जइ) यदि (वडप्पणउं) महत्त्वं (इच्छह) इच्छथ, तर्हि मह्यम् (देहु) देहि इति (कोइ) कमपि (म) मा (मग्गउ) याचस्व।

अथापि सज्जनाः परेषामुपकृतये याचन्त एव, मेघाः सागरं वारीव। इत्थं चिन्ताकुलीभूतो यक्षग्रहणसमासक्तचेता विक्रमार्को नरनाथो महताऽऽग्रहेण सार्थवाहमवोचत्-मित्र! अहमिदानीं तावकीनामीदृशीमलौकिकीमद्भुतां यक्षकृतां सम्पदमालोकमान एतान् यक्षांस्त्वामभियाचे?, यद्यपि चिन्तामणिकल्पानेतान् यक्षान् दातुं न प्रभविष्यसि, तथापि लौलुप्यादभ्यर्थये, तन्मुधा मा कृथाः। इति क्षितिपतौ निगदति सति सार्थवाह आह स्म-स्वामिन्! कथमेवं ब्रवीषि?, अहं खलु कस्यापि याचनं नो भनज्मि तर्हि सेव्यस्य

प्रभोर्जिष्णोस्ते कथं तद् भङ्क्ष्यामि?। यदुक्तम्-

मीयतां कथमनीप्सितमेषां, दीयतां कथमयाचितमेव ।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः ॥४०॥

व्याख्या - एषामर्थिनामीप्सितं हृद्यं कथं मीयतां = जानीयात्, अथवाऽयाचितमेव स्ववाञ्छितप्रकाशनमन्तरा कथं दीयतां = दीयेत?, एवं सति यो दाता वाञ्छां = दित्सां कलयन् = दर्शयन्नपि, अर्थिनां वागवसरं = तदीयाऽऽभ्यर्थनां सहते तं= दातारं धिगस्तु, य ईप्सितं = दातुमना अपि तस्मिन् याचमाने दास्यामीति विलम्बयति स सतां श्लाघ्यो न भवितुमर्हति, अतो याचकयाचनां विनैव तदीप्सितं दातव्यम्।

प्रभो! किमधिकं निगदामि-सेवकानां यदस्ति तत्र स्वामिनां स्वामित्वमन्यथा सिद्धमेव तत्र मनागपि मा संशयीथाः। अहं सेवकः, त्वं तु सेव्योऽसि, अतस्त्वादृशेभ्यः प्रभुभ्यो मादृशां सेवकानामदेयं किमस्ति?, नैवास्ति। प्राणा अपि सत्यपेक्षणे दीयन्ते तर्हि यक्षाणामर्पणं किं चित्रम्?, अत एव यद्रोचते तदसंशयं गृहाण?, एता यक्षा भवतामभीष्टसिद्धिकरणेन साफल्यमिग्रतुतमाम्। सम्प्रति प्रभोस्ते चरणपङ्कजाः सैन्यगणमलङ्कुर्वताम्। अहमचिरादेव यक्षानेतान् पेटिकान्तर्निधाय तामादाय शिबिरे समागच्छामि, इति सार्थवाहेन व्याहृतं श्रुत्वा प्रहृष्टः क्षितीशः सपरिवारः कटकमायातः।

तदनु महत्यामेकस्यां चन्दनादिसुरभितैलयोगेन सुरभीकृतायां विशिष्टानेकचित्रचित्रितायां सरससुमिष्टनानाविधाहारनिभृतायां मञ्जूषायामेकमपरस्यामीदृश्यां तस्यामपरं तृतीयस्यां तृतीयं चतुर्थ्यां पेटिकायां चतुर्थमिति रीत्या चतुरस्तांस्तासु निक्षिप्य मुखं सार्गलं

विधाय निजसेवकैस्ताश्चतस्रोऽपि मञ्जूषा उत्पाट्य सदस्यानीय नृपाग्र उपहृतवान्, व्याहृतवांश्चैवं-स्वामिन्! येषां जिघृक्षा भूयसी किलाऽऽसीत्, त एतेऽतिमहान्तः सकलाभीष्टफलदाः पेटिकान्तस्थाः यक्षा आनीताः, तिष्ठन्त्वेते सदैव भवतः सन्निधावेव, पिपुरतु च वः समीहितान्यशेषाणि। यथा वा विधातुर्भुजदण्डः सृष्टिं रचयति तथैते प्रभुणा मार्गितानर्थान् सर्वान् साधयन्तुतमाम्। परन्त्वेते यक्षाः कार्यकाल एव सदवसरे पूज्यन्ते, तदितरकालेऽर्चादिविधानेन फलमददानाः कुप्यन्त्येवेति सत्यं जानीहि।

इति निशम्य राजा तमेवमाख्यत्-सार्थेश! त्वं खलु महादुरवापानेतान्[1] यक्षान् प्रदाय यावज्जीवं गाढमिदं स्नेहमचलं चकर्थ। इह लोके बाह्यवृत्त्या कृत्रिमं स्नेहं भूयांसः स्वार्थैकसाधनरता मनुजाः कुर्वन्त्येव, ईदृशालीकसखानां संख्या तु जगति भूयस्येव वर्वर्त्ति, किन्तु आन्तरबाह्योभयवृत्त्याऽकृत्रिमस्निग्धप्रेमकारी त्वादृशो जनो विरल एव मामकीं दृशमारोहति। यद्यपि चिरादागमनान्निजगृहदारादिमोहादधुनाऽत्रैव ते स्थितिर्युज्यते, तथापि मनसो वात्सल्यात्त्वां सहैव निनीषुरस्मि। यस्माद् गुणानुरक्तं सद्भावभाजमतिस्निग्धसखं त्वां क्षणमपि पृथक्कर्त्तुं मदीयं हृदयं नैव प्रभवति। प्रेम्णः किमकार्यमस्ति?, यदाह -

किमकरणीयं प्रेम्णः, फणिनः कथयापि या बिभेति स्म।
सापि गिरीशभुजङ्गफणोपधानेन निद्राति ॥४१॥

व्याख्या - प्रेम्णः = स्नेहस्याकार्यं किमस्ति?, किमपि नेति। एतदेव दर्शयति - या भवानी पुरा फणिनः = सर्पस्य कथयापि= नाम्नापि बिभेति स्म = अबिभेत् सापि = सैव भवानी साम्प्रतं गिरीशः = शिवस्तस्य भुजङ्गः = शेषस्तस्य फणामुपधानीकृत्य

1. दुःखेन अवाप्यन्ते

निद्राति = शेते दिवानिशम्। भाषाकविताकारेणाप्युक्तम् -

जलधार के संग कला चपला, अरु नीर के संग कुमोदनरी,
अहिभच्छन संग हलाहल को बल, प्रेमल पोन लगी विहरी।
विसतार हुतासन संग धुवां, यह रीत प्रवीन बनाय धरी,
विरहा दुखदान सनेह के संग, बढे मनुवा मनकी लकरी ॥४२॥

प्रेमहु को मदपान कियो बहु, जो करवे की नहिं सो करेगो।
शौच विचार किये की कहा, जरवे मरवे से कछू न डरेगो।
चातुर कै गति वाउरे की गहि, दीपक लेकर कूप परेगो।
तेज सबे सटके घटके वह, सागरजू भटकोई फिरेगो ॥४३॥

अतस्त्वादृशा सुमित्रेणापि मदर्थमकार्यमप्याचरणीयमेव। सति च विप्रयोगे गुणवतः सख्युः पुनः सङ्गतिः स्यान्न वेति?, को जानीयादतस्त्वमिदानीं मामकं सङ्गमं मा त्याक्षीः?, निजस्त्रीकृते कदाचित्ते मनसि समौत्सुक्यमुद्भविष्यत्यतस्तामपि सहैव नीत्वा चल?। सार्थेशो जगाद-प्रभो! जन्मभूमेस्त्यागः सर्वस्यापि क्लेशाधिक्यजननाद्दुष्कर एवास्ति, तथापि त्वत्प्रेमपाशबद्धोऽहमवश्यं त्वत्सत्राऽऽगमिष्यामि। यतः-''मनुष्याः पतिव्रतां स्त्रियं, सम्पदि विपद्यपि तुल्यक्रियं सखायं, सत्यप्रेमवान् स्वामीत्येतत्त्रयं च भाग्यं विना नैव लभन्ते।'' इत्थं व्याहृत्य निजसदनमागत्य कमपि सकलगुणसंयुक्तं सखायं गृहादिनिभालनादि कर्त्तुं निगद्य कियद्भिः सेवकैः सह [1]सतीमचर्चिकया चम्पकमालया सहितः सार्थपतिस्तत्र राज्ञः शिबिरे समायातः।

अथ जाते च प्रभाते ससैन्यः क्षितिपतिमुकुटमणिविक्रमो नरनाथस्ततः प्रतस्थिवान्। मध्याह्नवेलायामतिश्रान्तसैन्यैः सह क्वचिदेकत्र रम्यस्थले शिबिरं व्यधत्त। तत्र पक्तुमुद्यतान् पाचकान् नरपाल एवमाख्यत्-पाचकाः! अलमिदानीं पाकेन, एते यक्षा

1. सतीषु श्रेष्ठया।

एव सकलां भोजनसामग्रीमिष्टां पर्यासां दास्यन्ति। तदनु यथावदर्चनं विधाय ज्ञानपटीयान् नरनाथो विधिवत्स्नातानुलिप्तः पेटिकामुन्मुद्र्य तत्स्थान् यक्षान् धूपदीपादिसकलोपचारैरभ्यर्च्य कृताञ्जली राजा जगाद-भो यक्षाः! प्रसीदत, पूजां मे गृह्णीत, यथा पुरा सार्थवाहाय रसवतीं बहुविधां पर्यासामदिषत तथाऽधुना ससैन्यस्य भोजनपर्यासां रसवतीं मेऽर्पयत?, त्वदर्पितया रसवत्या सर्वेषां क्षुधां श्रान्तिं च व्यपनीय परिभोज्य च त्वच्छक्तिं निजविवेकं च साफल्यं नयेयमिति।

अत्रावसरे त्रपया पीडया च व्याकुलीकृतास्ते यक्षरूपधरा मन्त्रिणः, विक्रमादित्यं व्याहर्त्तुं लग्नाः-स्वामिन्! न सन्ति केप्यत्र यक्षाः, ये तव रसवतीं दद्युः, वयं तु तव सेवका ये पुराऽत्रागतास्ते स्मः, तानस्मान् किं नो लक्षयसि?, प्रभो! ये पुराऽत्र सार्थेशपत्नीशीलपरीक्षणार्थमायातास्त एव वयं भवता सत्रा रममाणा मन्त्रिणः स्मः। यथा क्षेत्रे धान्यरक्षायै गृहोपरिष्टाच्चोलूकनिरोधकृते चञ्चां स्थापयति, तथायं सघनः सार्थवाहो नः कृतवान् यक्षान् क्षेत्रस्थां चञ्चामिव। नः सत्यभूतयक्षान्मा वेदीः, किन्तु कार्यविशेषतस्तेन मुधैव यक्षीकृता वयमत्र तिष्ठामः। नाममात्रेण जात्वप्यसद्वस्तु सत्यतां नाप्नोति, होलिकापर्वणि जनैः कृता नृपाकृतिरिव तात्त्विकरूपं वास्तविकं तत्कृत्यं वा नाधिगच्छति। प्रभो! त्वत्प्रसादफलभूतदासदास्यादिसकलसुखसामग्रीमापन्ना अपि वयममुष्य सार्थेशस्य सद्मनि किङ्करा इव पुराकृतकर्मयोगादननुभूतमशेषं कष्टमसहामहि। तस्मान्न वयं देवताः स्मः, किन्तु पूर्वप्रचितगृहश्रीविनाशका नूनं तत्रभवतां सेवका एव स्मः। अतो भाग्यवशात्कथमपि प्राणान् दधतोऽस्मान् गृहाण, कृपां विधेहि, पुरेव प्रसीद। प्रागपि यदपराद्धमस्माभिस्तदपि क्षम्यताम्। अत्रावसरे

प्रेमानुकम्पनाभ्यां पूर्णः क्षितिधवस्तानालोक्य निशम्य च तदशेष-यथाजातवृत्तं, निष्काश्य च मञ्जूषातस्तान्, पाचकान् पक्तुमा-दिदेश। ये खलु पुरा क्षितिपतेः प्रधानप्रेमपात्राण्यासन्, यांश्च प्रेमदृशा विलोकमान आसीद्राजा तानिदानीमीदृशीं दुर्दशामा-पन्नानालोक्य मधुरया गिरा राजाऽपृच्छत्-सखायः! अतिभीष-णदौष्कालिकाऽन्नाभावाद्रङ्का इवास्थिमात्रावशिष्टा अतिदुर्बलाः कथमजनिढ्वम्?, पुरा भवन्तो मारसुन्दराकारा आसन्, साम्प्रतम-साध्यदुर्व्याधिजाताङ्गलावण्यह्रासाः कथं दृश्यध्वे?, केन कुत्र चेदृशीं शोच्यां दशां नीताः?; इत्थं राज्ञा पृष्टास्ते मन्त्रिणः पूर्वानुभूतं सुखं स्मारं स्मारं सन्ध्यावेलायां रथाङ्गपक्षिण इव लोचनाभ्यामश्रूणि मुञ्चन्तस्तूष्णीं तस्थुः।

पुनस्ते क्षितिपतेः प्रेरणया त्रपां विहाय गद्गदया गिरा सर्वं वृत्तमाद्यन्तं राजानं न्यगादिषुः-स्वामिन्! काचिदज्ञा स्त्री त्रिजगतीं पुनानां भागीरथीमाविलां चिकीर्षति, तथा सच्छीलशालिनीमिमां सतीं दुःशीलां विधातुमनसस्तदीयप्रख्यातिमसहमानास्तदसूयया पापीयांसो वयं स्वयमेव तत्र महागर्त्ते निपतिताः केनापि नैव क्षिप्ताः, अमुष्याः सत्यास्तु तत्र लेशतोऽपि दोषो नैव दीयते तत्रापि यदेषा सतीप्रकाण्डा समुद्भूतप्रभूतकारुण्येन निरन्तराऽन्न-पानप्रदानेन नो जीवितमदीधरत्, तत्तु महाश्चर्यमजायत। यत्तत्र नरकोपमे गर्त्ते पतितैरस्माभिः कदन्नमखादयत्सा सती शिरोमणि-स्तन्मन्ये प्रबलतरसञ्जातमाररोगोपशमोऽकारि, तथा कुसुमशरजा-लोन्मादापहारकारितत्कृतोपचारप्रचयेन यदभून्नः शरीरे कार्श्यं तदप्यायतौ गुणकारि शिक्षणमेव मन्यामहे।

इत्थं तेषां मन्त्रिणामास्याच्चम्पकमालाया गुणग्रामस्तुति-माकर्ण्य विस्मयाऽऽविष्टचेताः सारग्राही गुणविद्राजा प्रमोद-

भरात्तामस्तावीत्-अहो! अस्तीदानीमपि स्त्रीजातावीदृशी मति-निचयनिधिः कौशल्यपटीयसी महीयसी सती कामिनी। प्रशस्य-तममस्त्यस्याश्चातुर्यम्, धन्या खल्वेषा त्रिकरणविशुद्धमुत्तमं शीलमवति। इह हि जगत्यां कायेनापि शीलपालनं कठिनमस्ति, तस्मादप्यतिकठिनं वाचा शीलपालनम्, अमूभ्यामपि मनसा तत्पालनं सर्वथा लोकोत्तरमेवाऽस्ति। यतः-''मनोविकाराङ्कुरोद्ग-मनवर्द्धने मेघतुल्या, यस्याश्चेतसि स्वास्थ्यावस्था प्रणनाश, यां चानारतं भर्त्तृवियोगाऽनलो नितरां सन्तापयति, स्फुरति च यस्यास्तडिद्गौरवर्णायास्तारुण्यमतिमनोहरं दर्शनादेव युवजन-मनोविलोभनक्षमं नूत्नम्, विद्यन्ते च यस्यां सर्वे सद्गुणा अशेषाः कलाश्च, विलसन्ति च बहुलाः कमलाः, प्रार्थयन्ति च कामकिङ्करी-भूताः समीपमागताः कामिनः, सति च श्वश्रूवादिगुरुजनाना-मसद्भावे दर्भाग्रमतिशालिनीयं चम्पकमाला यदनुपमं विशुद्धं शीलं दधाति, का परा तथा शीलं दधीत?, कापि नेत्यर्थः। अत एव धनवान् धन्यवादार्हश्चाऽयं सार्थवाहः, यस्येदृशी कामिनी शीलशालिनी जगज्जनपाविनी विचकास्ति। या कामिनी शीलपाल-नात्सीतादिपुण्यवनितायाः साम्यमञ्चति, रूपश्रिया रतिमपि ह्रेपयते, बुद्ध्या सरस्वतीकल्पास्ति, तामेनां सतीशिरोमणिमालोकमाना जना अपि धन्या इति निश्चयं वदामः। इत्थं प्रशस्य तत्क्षणं तं सार्थवाहमाकार्य विहस्य नृपस्तमवोचत्-सखे! अत्यद्भुतान् यक्षान्मे समर्पयामासिथ?, या खल्वमून् दुर्मतिकाञ्छठान् निस्त्रपांश्च मन्त्रिणो निजधीचातुर्येणाऽशिक्षयत्सा ते प्रेयसी श्रेयसी सती चिरायुरस्तु। अपि च यस्या महासत्या वाणीमचेतनास्तरुलताद-योऽप्युल्लङ्घयितुं नैव शक्नुवन्ति, तस्या अतुलप्रभावतश्चाऽमी मन्त्रिणः स्वीयां शठतां मुञ्चेयुस्तत्र किमाश्चर्यम्।

एवं विक्रमादित्यो नरपतिस्तदितरेऽपि सभ्यास्तां सतीं बहुधा प्रशशंसुः। युज्यते चैतत्-''गुणयोगात्के सद्भिर्न प्रशस्यन्ते'' तया परीक्षया सर्वाशाविस्तृतशोभाशालिनी सतीमतल्लिका चम्पकमाला सतीगणनायां प्राथम्यमयाञ्चक्रे। तद्दिनादस्याः सतीत्वमाहात्म्यं सर्वत्र लोके समैधत, शीतांशोः सुधामयी कलेव लोकानामाह्लादिका सुखावहा च जज्ञे सती चम्पकमाला। तदनु वसन्तर्त्तौ काननं काम इव सह तेन सार्थवाहेन विक्रमार्को राजाऽनुक्रमेणोज्जयिनीमाययौ। सखेदास्ते चत्वारो मन्त्रिणोऽपि तां सतीं चम्पकमालां कृताऽपराधं क्षमयित्वा स्वस्वसदनं गन्तुमुत्सुकास्तदा दातॄणां शिरोमणिश्चम्पकमालापि सहर्षपूर्वमङ्गीकृतं धनं तेभ्यः प्रत्यार्पयत। अपि च सुधास्यन्दिन्या गिरा तान्मन्त्रिणः सा तथोपदिष्टवती यथा ते तत्कालमेव परस्त्रीरिरंसामत्याक्षुः। अहो! ''महासत्या विदुष्या महिमा महीयान्भवति, येन तेऽनार्या अपि मन्त्रिण आर्याश्चक्रिरे।'' ततः कुलदेवीमिव तां सतीं चम्पकमालां वारम्वारं नमस्कृत्य तस्या उदारां गुणावलीं कीर्त्तयन्तस्ते चत्वारो मन्त्रिणः स्वस्थाः सन्तः निजनिजालयमापेदिरे। सार्थवाहोऽपि तस्या महासत्याः सङ्गत्या सौशील्यमुपेयिवान्।

अथैकदा तत्रोज्जयिन्यां पुर्यां भव्यजीवानां पावनाय सुखाय च श्रीसिद्धसेनदिवाकरः सूरीश्वर आगात्तदाकर्ण्य मेघागमेन केकीव प्रहृष्यन् पुलकितरोमराजी राजा नितरामतुष्यत्। तदनु महर्द्ध्या शुभभावभावितमना नरनाथो गुरुवन्दनायै निरगात्, इतरेऽपि महान्तो जनास्तत्रावसरे तदर्थं तेन सत्रा सहस्रशो ययुः। अस्मिन्नेवावसरे निजसुजनजनमण्डलमण्डितः प्रियया सहितः सार्थवाहोऽपि धर्मदेशनां शुश्रूषुस्तत्रागात्। तदा सूरिदिवाकरो भव्यजीवपद्मवनं विबोधयन्तीम्, अज्ञानतिमिरनिरस्यन्तीं, सुधा-

स्यन्दिनीं धर्मदेशनां प्रारेभे। तथा हि-

अर्थाः पादरजःसमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं,
मानुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवितम् ।
धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं,
पश्चात्तापहतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥४२॥

व्याख्या - भो भव्याः! इह दुःखदावानलसन्तप्ते संसारे अर्थाः= सम्पत्तयः पादरजः समाः = पादयोश्चरणयोर्लग्नानि यानि रजांसि धूलयस्तेषां समास्तद्वत्क्षणिकाः, यौवनं = तारुण्यं गिरिनद्यास्तदुद्भूतायाः सरितो यो वेगस्तस्योपमा साम्यं यस्मिंस्तादृशमस्ति। अर्थात्पर्वतोद्भूतसरितो वेगो महान् भवन्नपि यथा चिरस्थायी न भवति तथा जीवानां तारुण्यमपि चिरं स्थाष्णु नो जायते। यदिदमतिदुरापं मानुष्यं = मनुष्यजन्म तदपि जलबिन्दुवल्लोलचपलमतिचञ्चलमस्ति, एवं जीवितं = लोकानामायुरपि फेनोपमं - अब्धिकफेनस्योपमा तुलना यस्मिंस्तथा वर्त्तते तद्वदेव विनश्वरमस्ति, अस्माद्धेतोर्यो नरः = पुमान् निश्चलं दृढं चित्तं यस्य स दृढमनाः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं = स्वर्गार्गलस्य देवलोकादिप्राप्तिप्रतिपन्थिन उद्घाटनं वारकं धर्मं न करोति स नरः पश्चात्तापेन हतः = कृतपश्चात्तापो जरया परिगतः = शिथिलीकृताऽशेषाऽवयवः शोकाग्निना दह्यते = दुःखीक्रियते।

भुजन्ता महुरा विवागविरसा किंपागतुल्ला इमे,
कच्छूकंडूयणं व दुक्खजणया दाविंति बुद्धिं सुहे ।
मज्झण्हे मयतिन्हि अव्व निययं मिच्छाभिसंधिप्पया,
भुत्ता दिंति कुजोणिजम्मगहणं भोगा महावेरिणो ॥४३॥

व्याख्या - इमे किम्पाकफलतुल्या आदौ मधुरा विपाकेऽवसाने

विरसा = नीरसाः भोगा = विषयाः भुञ्जन्तां = सेव्यन्ताम्, परमेते कच्छूसम्पर्काज्जातकण्डूयनमिव दुःखजनकाः सुहे = वास्तविकसुखविषयिणी या बुद्धिस्तां दार्विति = दापयन्ति - कृन्तन्ति, मज्झण्हे = मध्याह्ने मयतिन्हि अव्व = मृगतृष्णिकावत् मिच्छाभिसन्धिप्पया = मिथ्याभिसन्धिप्रभाः-मिथ्याऽलीकम-भिसन्धेस्तद्बुद्धेः प्रभा च्छायां येषु ते तथाभूता विषया भोगाः महावेरिणो = महावैरिणः प्रबलाः शत्रवः भुत्ता= भुक्ताः-सेविताः सन्तः कुजोणिजम्मगहणं = कुयोनिजन्मगहनम्-कुत्सिता योनयः कुयोनयः-नीचकुलादौ यज्जन्म गहनं भवपरम्परा तत् दिन्ति = ददति भोगिनां प्राणिनामिति भावः। अत एतादृशा महाशत्रुकल्पा भोगा नैव भोक्तव्याः सद्भिः कदापीति तत्त्वम्।

अर्थार्थं नक्रचक्राकुलजलनिलयं केचिदुच्चैस्तरन्ति,
प्रोद्यच्छस्त्राभिघातोत्थितशिखिकणकं जन्यमन्ये विशन्ति।
शीतोष्णाम्भःसमीरग्लपिततनुलताः क्षेत्रिकां कुर्वतेऽन्ये,
शिल्पं चानल्पभेदं विदधति च परे नाटकाद्यं च केचित्॥४४॥

व्याख्या - अर्थार्थं = धनार्जनाय केचित् = कियन्तो जना उच्चैरगाधं नक्रादिभीषणजलजन्तुसमूहेनाऽऽकुलीकृतजलराशिं समुद्रं तरन्ति = समुद्रमप्युत्तीर्य व्याप्रियन्ते, प्रोद्यन्ति यानि शस्त्राणि तेषां घातेन प्रहारेणोत्थिताः शिखिनः कणा यत्र तादृशं जन्यं युद्धमन्ये इतरे विशन्ति, अर्थात्कियन्तो धनलिप्सया प्राणापहार्यपि युद्धं कुर्वन्ति। अन्ये तु शीतेनाऽम्भसा - वारिणा समीरेण = वातेन ग्लपिता = म्लाना तनुलता लतेव कोमला तनुर्येषां ते तत्कृतं क्लेशं सहमानाः क्षेत्रिकां = क्षेत्राणि कुर्वते = कृषन्ति, च पुनः परेऽनल्पभेदमनेकभेदसहितं शिल्पं विदधति = प्रकुर्वते,

केचिच्च नाटकादि कुर्वते, इत्थं धनोपार्जनेऽपि महानेव क्लेशो दृश्यते, सुखं तु मनागपि नैवाऽवलोक्यते। अत एव-

हिंसामङ्गिषु मा कृथा वद गिरं सत्यामपापावहां,
स्तेयं वर्जय सर्वथा परवधूसङ्गं विमुञ्चादरात् ।
कुर्विच्छापरिमाणमिष्टविभवे क्रोधादिदोषांस्त्यज,
प्रीतिं जैनमते विधेहि नितरां सौख्ये यदीच्छास्ति ते ॥४५॥

व्याख्या - भो लोकाः! प्राणिषु =जीवेषु हिंसां तद्धिंसनं मा कृथाः = मा कुरु, अपापावहाम् = पापाननुबन्धिनीं सत्याम् = सत्यभूतामेव गिरं = वाचं वद = ब्रूहि, स्तेयं = चौर्यं वर्जय= त्यज, आदराद् = यत्नतः परेषामन्येषां या वध्वः स्त्रियस्तासां सङ्गं मुञ्च = जहाहि, इष्टविभवे = वाञ्छितधने चेच्छापरिमाणं ममैतदेव स्यात्तदधिकं नेति परिग्रहपरिमाणं कुरु, किञ्च ये खलु क्रोधादयो महानर्थकरा दोषास्तांस्त्यज। यदि नितरामतिशयेन सौख्ये = सर्वाधिके सौख्ये इच्छा = वाञ्छा ते = तवास्ति वर्त्तते, तर्हि जैनमते = वीतरागप्ररूपिते धर्मे प्रीतिं = रागं, विधेहि = विधत्स्व, इति।

यथा दिग्भ्रान्त्या नैशिकतिमिराधिक्याद्वा पथो विस्मृत्या कश्चिन्मूढधीर्भानावुदिते प्रणष्टे च तमःपटले भ्रमे वा सम्यग्मार्गं विदन् नितरां हृष्यति, तथा तस्य गुरोर्गिरा प्रध्वस्तमोहान्धकारा भव्या जीवा यथावद्धर्म्ममार्गमवबुध्य निःसीममानन्दं प्रपेदिरे। तदानीं प्रणष्टमोहान्धकारोऽतिविशिष्टाऽऽशयो विद्वान् पटीयान् लघुकर्मा च सार्थवाहो गुरूनेवं व्याहर्त्तुमारभत-प्रभो! अहमद्याव-धितत्त्वावबोधमन्तरा आत्मानं मुधैव पण्डितंमन्यमान आसम्। यतः-कलासरितां पारं गन्तुरपि जीवस्य तत्त्वावबोधं विना मूर्खता

नो विजहाति।'' अद्यैव तत्र भवता सुधासहोदरोपदेशादज्ञानरोगनिरासिमहौषधेर्मम तत्त्वज्ञानलक्षणनैरुज्यमुदपद्यत, अर्थादज्ञानमनशत्, समुत्पन्नं च तत्त्वज्ञानमिति। यद्यप्यहं सकलसावद्यहेयलक्षणं सर्वोत्तमं साधुमार्गं जिघृक्षुरस्मि तथापि तदवनाय मयि तावती शक्तिर्नास्ति। अत एव सम्यक्त्वमूलकं द्वादशव्रतलक्षितं श्राद्धधर्मं ममोपरि प्रसद्य सस्त्रीकं मामुपदिशत?, इत्थं भक्तिभरेण तदुदितं निशम्य स सूरिदिवाकरो भक्तिमन्तं श्रद्धालुं विनीतं सुशिष्यं मन्त्रमिव तं सभार्यं सार्थवाहं श्रावकीयमर्कव्रतमुपदिष्टवान्।[1] तदनु स्वं कृतकृत्यं मन्वानः सार्थेशः सभार्यः स्वसदनमागत्य निजेष्टदेवमिव धर्मं कर्त्तुं लग्नः।

ततोऽसौ सार्थपतिः शङ्कादिदोषमुक्तमुज्ज्वलं सम्यक्त्वसहितं निर्दुष्टाऽणुव्रतात्मकं श्राद्धव्रतं पालयन्, साधूंश्च विशुद्धाऽन्नपानवसनपात्रादीनि प्रतिलाभयन्, सद्ध्यानं धरन् सकलश्रावकमूर्द्धन्यो बभूवान्। तत्पत्नी चम्पकमाला महासत्यपि सच्छीलसौरभ्येण शुशुभे। प्रकृत्योदारचेताः सन्नपि परमोदारोक्तिप्रेरितः प्रमोदभागसौ सार्थेशः सदुपार्जितां निजलक्ष्मीं ससक्षेत्रेषु वपन् सार्थक्यं निनाय। बहुलार्थव्ययेन नव चैत्यानि निर्माय तेषु बहुना द्रव्यव्ययेन महीयसोत्सवेन चार्हतीः प्रतिमाः प्रातिष्ठिपत्। कियतां जीर्णतराणां चैत्यानामुद्धृतिमचीकरत्। तथा जिनशासनोपयोगिनानापुस्तकान्यलीलिखत्। चतुर्विधश्रीसङ्घभक्तिरप्यकारि। अथाऽमुना धर्ममतिना सार्थवाहेन जीवांश्चिरं जिजीवयिषया मीनजीविनां दुष्टतमानां घातुकानां मीनघातवृत्तिरपि नृपतस्त्याजिता। अर्थाद्यथा कश्चिदपि जात्वपि मीनादीनबलाञ्जीवान् नो हन्यादिति राजनियममकारयत। निजविशालभालपट्टे सङ्घाधिपत्यतिलकमुत्तममधारि चामुना।

1. अर्क = द्वादश ।

अकारि च सिद्धाचलरैवतादिमहातीर्थगमनप्रभुदर्शनसुनमनादि। इत्थं सस्त्रीकः सार्थेशः श्राद्धधर्ममाश्रित्याऽऽर्हच्छासनवर्द्धनतत्परः कृताभिग्रहं यथावत् परिपालयन् प्रान्ते तौ दम्पती समाधिमृत्युना सद्गतिं लेभाते। यतो "भगवदर्हच्चरणकमलसेविनामीदृश्येव गतिर्जायते।" तस्मात्सर्वैरेव भव्याशयैः शीलरक्षायै प्रयतितव्यम्। एतद्धि सम्यगवितं सत्प्राणिनां चिन्तामणिरिव लौकिकं सर्वं सुखादिकं साधयति, प्रान्ते चाऽजरामरगतिं प्रापयतीति। स्वस्त्यस्तु।

आजन्मप्रतिपाल्य शीलमनघं सत्यग्रगण्या भवे,
ह्यस्मिंश्चम्पकमालिका निरुपमं लेभे यशोनिर्मलम्।
तद्वद् यः परिपालयिष्यतितमां शीलं किलाऽखण्डितं,
सत्कीर्त्त्याः सदनं भविष्यतितमां मामह्यमानो हि सः ॥४६॥

व्याख्या - यावज्जीवमनघं निर्दोषं शीलं = सतीत्वं प्रतिपाल्य =संरक्ष्य सतीनां = पतिव्रतानां स्त्रीणामग्रगण्या मुख्या सती, अस्मिन्भवे = जन्मनि सा चम्पकमाला निरुपमम् = निर्नास्त्युपमा यस्य तदनुपमं निर्मलं यशः कीर्त्तिं लेभे = प्राप्तवती। तद्वद् = चम्पकमालावद् यः = कोऽप्यन्योऽखण्डितं शीलं = ब्रह्मचर्यव्रतं पालयिष्यतितमाम्, स नरो हि = निश्चितं मामह्यमानः = भृशं लोकैरशेषैः स्तूयमानः सत्कीर्त्त्याः= सुयशसः सदनं भविष्य-तितमामिति।

श्रीसौधर्मबृहत्तपाख्यभुवनख्याताऽच्छगच्छाधिप-
श्रीराजेन्द्रजगज्जयिष्णुचरणाम्भोजद्वयान्ते सदा ।

एतस्मिन् रचिते यतीन्द्रमुनिना गद्यप्रबन्धे मुदा,
जज्ञे चम्पकमालिकीयचरिते प्रस्तावतुर्योऽनघः ॥

चम्पकमालाचरितं,
(१९८५) शरवसुनवभूतुलितविक्रमाब्दे ।
चैत्रिकसितद्वितीयोशनसि समापयामासैतत् ॥२॥

चैत्र शुक्ल द्वितीया

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छगगनाङ्गणदिनमणि-
सुविहितसूरिशक्रचक्र-चूडामणि-जङ्गमयुगप्रधान-
परमयोगिराज-विश्वपूज्य-भट्टारक
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरचरणपङ्कजभृङ्गायमाण-
व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-
श्रीयतीन्द्रविजयसंदृब्धा गद्यपद्यसंस्कृतभाषात्मिका

श्री चम्पकमाला - कथा समाप्ता ।

।। श्री गोडीपार्श्वनाथाय नमः ।।

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय स्वच्छाम्बरविहारिसुविहितसूरि-
कुलतिलकसर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासन सम्राट्-परमयोगिराज
जङ्गमयुगप्रधानजगत्पूज्य गुरुदेव श्री श्री १००८
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-
चरणारविन्दसेवा-हेवाक-व्याख्यानवाचस्पतिमुपाध्याय
श्रीयतीन्द्रविजयेन (श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरेण) संस्कारिता-

।। श्री बृहद्विद्वद्गोष्ठी ।।

जगत्पूज्य -

।। श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपादपद्मेभ्यो नमः ।।

गद्यपद्यसंस्कृतभाषात्मिका

बृहद्विद्वद्गोष्ठी

विबुधं मे मती राजयजनीयं गुरुं परा ।
जेतारं संस्मरेदिन्द्र-सूर्यकल्पं सदाऽनरिम्[1] ॥१॥

अथैकदा धारानगरीपति-भोजनृपतिः स्वसभीय[2]शृङ्गार-भूताखिलशास्त्रविचारविचक्षणां विपश्चित्पञ्चशतीमिमां पृच्छाम[3]-पृच्छत्-यत्संसारे ये निर्गुणा नरस्ते कीदृशो ज्ञेयाः?, अथ तेषु विद्वच्छिरोमणिस्तिलकमञ्जर्याद्यनेकसंस्कृतप्राकृतग्रन्थप्रणेता धनपालनामा पण्डितो व्याहरत् -

येषां न विद्या न तपो न दानं, न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१॥

अर्थात् - ये जना अस्यां जगत्यां जन्म धृत्वा न विद्यामधीयते, न तपस्तपस्यन्ति, न हीनदीनदुःखिजनानां साहाय्यं प्रददते, स्वाचारं न पालयन्ति, वीर्यरक्षां न विदधते, सहनशीलत्वादिगुणान्न दधते, निजधर्मे च न रमन्ते, ते जना मनुष्याकारा मृगा एव बोध्याः। यथा हि मृगो घासादि घसि[4]त्वा स्वजीवनं निर्वहते, तथैव निर्गुणः पुमान् खादित्वा पीत्वा चामूल्यं दुष्प्राप्यं च स्वजीवनं व्यर्थमेव

1. नास्ति अरिः यस्य सः। 2. सभायाः सम्बन्धिनः 3. प्रश्नं। 4. खादित्वा।

गमयतीति।

अथाऽस्य विदुषो वाचमाकर्ण्याऽन्यः कश्चिद्विपश्चिन्मृगपक्ष-माश्रित्याभ्यधात्-यदवाच्यं किल सर्वथा सभायां नीतिविरुद्धं वचः। निर्गुणिनो नरस्य मृगसादृश्यमिति स्वल्पशेमुषीणामेव कथनम्। यतो मृगेष्वपि भवन्ति भूयांसः प्रशस्या गुणाः। तथाहि -

स्वरे शीर्षं जने मांसं, त्वचं च ब्रह्मचारिणि ।
शृङ्गं योगीश्वरे दद्यां, मृतः स्त्रीषु सुलोचने ॥२॥

व्याख्या - मृगा एव सुगायनश्रावयितृभ्यो नृभ्यो निजशिरः, मांसादेभ्यो मांसम्, वर्णिभ्योऽजिनम्[1], योगिभ्यः शृङ्गं ददति, किं बहुना, तच्चक्षुर्भिरेव स्त्रिय उपमीयन्तेऽत एव ता मृगाक्ष्यो-ऽभिधीयन्ते। तथा मृगाणां कस्तूरिका सुकार्येषु समायाति, बलपुष्टये चातीव साहाय्यं विधत्ते। अत एव बहूपदेशका व्याचक्षते चैवम्-

दुर्वाङ्कुरतृणाऽऽहारा, धन्यास्ते वै वने मृगाः ।
विभवोन्मत्तमूर्खाणां, न पश्यन्ति मुखानि ये ॥३॥

अतो न मृगतुल्या निर्गुणिनो नरः।

अथ धनपालपण्डितो विमृश्यैवमाह-यद्येवं तर्हि निर्गुणिनो जनाः 'मनुष्यरूपाः पशवश्चरन्ति' इत्येवं वाच्याः।

अथाऽन्यो विद्वानुवाच-एतदप्यनुचितं नैतच्छोभते सभ्यसभायां नीतिरिक्तं भवद्वचः। अस्यां संसृतौ[2] नहि पशुमन्तरा किमपि कार्यं भवितुमर्हति, तच्छरीरावयवादिभिरेव बहूनि कार्याणि सम्पाद्यन्ते। पशव एव सर्वेषां जनानां परमोपकारकारणं जीवनं च। तेषां शरीरावयवा न निरर्थकाः, किञ्च सार्थका एव। तथाहि -

1. चर्म। 2. संसारे।

कस्तूरी पृषतां[1] रदाः[2] करटिनां[3] कृत्तिः[4] पशूनां पयो,
धेनूनां छदमण्डलानि[5] शिखिनां रोमाण्यवीनामपि[6] ।
पुच्छ-स्नायु[7]-वशा-विषाण[8]-नखर[9]-श्वेदादिकं किञ्च न,
स्यात्कस्याप्युपकारशून्यवपुषो मानुष्यकं भोः! पुनः ॥४॥

पशुषु गोपक्षमाश्रित्य -

तृणमत्ति राति[10] दुग्धं, छगणं[11] च गृहस्य मण्डनं भवति ।
रोगापहारि मूत्रं, पुच्छं कोटिदेवतास्थानम् ॥५॥

गोश्च दर्शनमपि मङ्गलास्पदम्। संसारे प्रायो यावन्ति शुभकार्याणि, तेषु गोदधिदुग्धसर्पींषि सर्वोत्कृष्टानि बलबुद्धि-वर्द्धकानि च भवन्ति। गोमूत्रमप्यनेकरोगापहारि, अशुचि-विनाशकं च। गोमूत्रे कर्पासमार्द्रीकृत्य क्षेत्रे संवपेच्चेन्न कदापि निष्फलं याति, न च कथञ्चन शटति। अतोऽयं सर्वपशुभ्यः श्रेष्ठतम इति। वृषभमपि -

गुरुशकटधुरन्धरस्तृणाशी, समविषमेषु च लाङ्गलापकर्षी[12] ।
जगदुपकरणं पवित्रयोनिर्नरपशुना, किमु मीयते गवेन्द्रः ॥६॥

अतो निर्गुणिनो नुर्न पशोस्तुल्यत्वम्।

अथाऽयं धनपालो विद्वान् पशुगुणान् श्रावं श्रावं बभाषे-यद्वस्तुसाराऽसारबोध-विचारशून्या निर्गुणाः पुमांसः 'मनुष्यरूपेण शुनः स्वरूपाः' इत्येवं विज्ञेयाः।

ततः पुनः प्रतिवादी श्वपक्षमाश्रित्याऽऽह -

स्वामिभक्तः सुचैतन्यः, स्वल्पनिद्रः सदोद्यमी ।
स्वल्पसन्तोषो वाक्शूरः, तस्मात्तत्तुल्यता कथम् ॥७॥

1. मृगाणाम्। 2. दन्ताः। 3. हस्तिनां 4. चर्म। 5. पिच्छानि। 6. घेटु।
7. चर्बी। 8. शींगडु। 9. नख। 10. ददाति। 11. छाण। 12. हल।

सारमेया हि येषां दानशून्यौ करौ, धर्मवचनश्रवणशून्ये श्रुती, असत्योद्गाराऽपवित्रमास्यम्, साधुदृष्टिशून्ये दृष्टी, तीर्थ-मार्गरजःशून्यावङ्घ्री, अन्यायोपार्जितवित्तपूर्णमशुचिकमुदरम्, तेषां पिशितमपि नाऽदन्ति। तथा ते शुभाऽशुभसूचकान्यङ्कान्यपि कुर्वते, इत्यादि श्वस्वपि बहवो गुणाः।

अथ धनपालो निर्गुणान्नरान् 'मनुष्यरूपेण खराश्चरन्ति' इत्याह। ततः प्रतिपक्षी खरं पक्षी-कृत्याऽवक्-

शीतोष्णं नैव जानाति, भारं सर्वं दधाति च ।
तृणभक्षणसन्तुष्टः, प्रत्यहं भद्रकाकृतिः ॥८॥

किञ्च यात्रादिकार्येषु खरध्वनिर्मङ्गलहेतुः। यः कश्चन पुमान् तद्ध्वनिशकुनं विमृश्य कार्यं विधत्ते, स स्वकार्ये साफल्यं लभतेऽतो निर्गुणिनो नैव रासभतुलना।

श्रुत्वैवं धनपालोऽपि निर्गुणान् 'मनुष्यरूपेण भवन्ति चोष्ट्राः' इत्यवादीत्। प्रतिवादी, उष्ट्रं मण्डयन्नाह -

वपुर्विषमसंस्थानं, कर्णज्वरकरो रवः ।
करभस्याशुगत्यैव, छादिता दोषसंहतिः[1] ॥९॥

एकस्यां घटिकायां, योजनगामी सदा नृपतिमान्यः ।
भारोद्वहनसमर्थः, कथं समो निर्गुणैः सार्धम् ॥१०॥

किञ्च जगति शीघ्रगमनमप्युत्तमो गुणः। यो हि गमनालसस्तस्य कार्यमपि शिथिलम्, यद्यपि सर्वत्र सर्वैरेव चलनैः कार्यं क्रियते, तथापि प्रतिकार्येषु भूरिशः शीघ्रगमनस्यैवाऽऽवश्यकत्वम्। किञ्चोष्ट्रोऽत्तुमपि स्वामिनं न बहु पीडयति, सामान्येनैव भोजनेन सन्तुष्यति। निर्गुणिनो नरादुष्ट्रा लक्षतोऽधिकाः।

1. समूह।

अथ धनपालो गुणरिक्तान् 'मनुष्यरूपेण भवन्ति काकाः' इत्यगादीत्। प्रतिवादी काकमपि मण्डयन्नाह –

प्रियं दूरगतं गेहे, प्राप्तं जानाति तत्क्षणात् ।
न विश्वसिति कस्यापि, काले चापल्यकारकः ॥११॥

काचन युवतिरेकं काकं जाम्बूनदपञ्जरे प्रक्षिप्य निजगृहाङ्गण-स्थद्रौ[1] प्रोच्चिक्षेप । अथ कदाचित्तस्याः सखी पर्यपृच्छत् यल्लोके शुकसारिकादिपक्षिणस्तु बहवो जनाः परिपालयन्ति, किन्तु न कोऽपि काकम्, नहि क्षुद्रपक्षिभिः गृहशोभा। अथ युवतिः समुत्ततार–

अत्रस्थः सखि! लक्षयोजनगतस्यापि प्रियस्याऽऽगमे,
वेत्त्याख्याति च धिक् शुकादय इमे सर्वे पठन्तः शठाः ।
मत्कान्तस्य वियोगरूपदहनज्वालावलेश्चन्दनं,
काकस्तेन गुणेन काञ्चनमये व्यापारितः पञ्जरे ॥१२॥

अर्थात् – अयं काको लक्षयोजनगतस्यापि मम भर्त्तुरागमनं जानाति, आख्याति च। अतः शुकादीन् धिक्, यतोऽमी शुकादयः पठनचतुरा न तु प्रियवार्त्ताऽऽख्यानकाः। अयं काको मम भर्त्तुर्वियोगाग्निज्वालायै चन्दनसमः, यथा घर्मार्त्तं पुरुषं चन्दनं स्वशैत्येन शीतयति, तथैवाऽयं काको मद्भर्त्तृवियोगाऽग्निजाय-मानबहुशोकदुखार्त्तां मां भत्तृशुभाऽऽख्यानकेन शीतलीकुरुते। अत एव कारणान्मयाऽसौ काकः स्वर्णमये पञ्जरे क्षिप्त इति।

अथ धनपालो विज्ञतमः पुनरपि निर्गुणान् *'मनुष्यरूपेण हि ताम्रचूडाः'* इत्यभिधत्ते स्म। प्रतिपक्षी तानपि प्रशंसयन्नाह– नैतदपि भवत्कथनं रुचिकरम्, यतस्तेऽपि सूपदेशकार्यं कुर्वते, ते

1. वृक्षः।

पश्चिमायां रात्रौ द्विद्विचतुश्चतुर्घटिकानन्तरं स्वग्रीवामुच्चैः कुर्वाणा वदन्ति -

संसारे बहुरोगशोकजनकेऽसारे महानर्थदे,
तिर्यक्त्वामरनारकादिगतिषु श्रेष्ठं तथा दुर्लभम् ।
भो लोकाः! सुकृतोद्यता भवत वो लब्धं भवं मानुषं,
मोहान्धाः प्रसरत्प्रमादवशतो माऽऽहार्य मा हार्यताम् ॥१३॥

किञ्च ताम्रचूडवचनं चाकर्ण्य केचन भगवद्ध्यानलीनाः, केचन निजविद्याभ्यासलीनाः, केचित्प्रभुभजनलीना निजं निजं मानुषं जनुः[1] सार्थयन्ति। अत एवाऽस्मिन् जगति ताम्रचूडोऽप्युपदेशकः। सोऽहर्निशं मनुजान् सचेतयति-यद् भो लोकाः! आलस्यं समुज्झित्य सदोद्यमिनो भवत, प्राप्तकालं च सफलयत। ये पुमांसः प्राप्ताऽवसरं समुपेक्षन्ते, ते तून्नतेरुच्चसिंहासने स्थातुमनर्हा एव। गते चाऽवसरे ते राज्ञीवत् पश्चात्तापभाजो भवन्तीति न सन्देहः। तथाहि -

अथाऽऽसीत् कस्यचिद्राज्ञः षष्ट्यधिकस्त्रीशतत्रयी। ततो राजा देशान्तरं गत्वा यस्मिंश्च दिने प्रतिनिवृत्य गृहमागमत्, तद्दिने सर्वपाश्चात्याया राज्ञ्या वार आसीत्। अतः स्वदासीः संबोध्य साऽचकथत-यदहं शये, यदा हि राजाऽऽगच्छेत्तदा त्वं मां जागरयेः[2]। अथ यदा नृपतिराजगाम तदा ता दास्यो भयं लात्वा तां राज्ञीं नाऽजागरयन्। राजा तु जगाम, राज्ञी चोत्थायाऽपृच्छत्-किं राजा समाजगाम?, ताश्च प्रोचुः 'ॐ[3]' किञ्च, वयं सभया भवतीं नाऽजागरयाम। सा तु राज्ञी बहु रुरोद पश्चात्तताप च। इत्थमेव ये प्राप्तसमयं गमयन्ति, ते पश्चात्तापभाजो भवन्ति, ये दुर्लभं मनुष्यजन्म लब्ध्वा धर्मं विनैव भवं गमयन्ति, ते चतुर-

1. जन्म। 2. जागृ-प्रेरक २.पु.ए.। 3. विस्मयबोधक-अव्यय।

शीतिलक्षयोनिषु भ्राम्यन्तोऽपि नैतादृशमवसरं लभन्ते। अतः सर्वोपाधिं त्यक्त्वा मुख्यत्वेन धर्म एव कर्त्तव्यः, क्षणमात्रमपि निष्फलं न गमयितव्यमित्येव पुंसो मुख्यं कर्म धर्मश्च। अतो न निर्गुणानां ताम्रचूडसाम्यम्।

अथ कश्चिदवसरज्ञो विपश्चिदुपर्युक्तमनुमोदयन्नाह-यत् सत्यमेव विदुषो वचः। यतः 'आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुपक्षिनृणाम्' किञ्च मनुष्यापेक्षयाऽपि पशुपक्षिणश्चैताः क्रियाः समर्यादं सावधानतया समाचरन्तीति। तथाहि-तेऽखाद्यं न खादन्ति, अपेयं न पिबन्ति, स्वल्पनिद्रालवो भवन्ति, भयजनकगहनारण्येष्वपि निर्भयाः समयं व्यत्ययन्ते, अखिलवर्षे च द्वित्रिचतुर्वारमेव कामं कामयन्ते। अत एव तेषु सुस्वास्थ्यं नानाविधप्रशस्यगुणाश्चोत्पद्यन्ते। अतः पशुपक्षिणोऽपि संसारे गुणिनश्चोपकारकाश्च वर्त्तन्ते, इदं च पूर्वोक्तसंवाद एव सम्यक् सूचयति। अतो मनुष्यैः स्वमनुष्यत्वसम्पादनाय पशुपक्षिभ्योऽपीमे गुणा अवश्यं शिक्ष्या एव। यथा -

प्रभूतमल्पकार्यं वा, यो नरः कर्त्तुमिच्छति ।
सर्वारम्भेण तत्कुर्यात्, सिंहादेकं प्रकीर्त्तितम् ॥१४॥

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य, बकवत्पण्डितो जनः ।
कालदेशोपपन्नानि, सर्वकार्याणि साधयेत् ॥१५॥

बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्टः, सुनिद्रः शीघ्रचेतनः ।
प्रभुभक्तश्च शूरश्च, ज्ञातव्या षट् शुनो गुणाः ॥१६॥

अविश्रामं वहेद्भारं, शीतोष्णं च न विन्दति ।
ससन्तोषस्तथा नित्यं, त्रीणि शिक्षेत गर्दभात् ॥१७॥

गूढमैथुनधाष्टर्ये च, काले चालयसङ्ग्रहम् ।

अप्रमादमनालस्यं, पञ्च शिक्षेत वायसात् ॥१८॥

युद्धं च प्रातरुत्थानं, भोजनं सह बन्धुभिः ।
स्त्रियमापद्गतां रक्षेच्चतुः शिक्षेत कुक्कुटात् ॥१९॥

अथ पुनरपि धनपालेनाऽवाचि-यद्येवं तर्हि 'मनुष्यरूपाः खलु मक्षिकाः स्युः' इत्येव स्वीक्रियताम्। श्रुत्वैवं वादिनापि मक्षिकापक्षमाश्रित्याऽभ्यधायि -

सर्वेषां हस्तयुक्त्यैव, जनानां बोधयत्यसौ ।
ये धर्मं नो करिष्यन्ति, घर्षयिष्यन्ति ते करौ ॥२०॥

किञ्च निर्गुणा उपकारशून्याः, मक्षिकास्तु सर्वेषामुपकारकर्त्र्यः। तदीयमधुनोऽमृतवन्माधुर्यम्, तच्च रोगं विनाशयति, बलञ्च वर्द्धयति। मक्षिका अपि स्वहस्तघर्षणयुक्त्यैव जनान् बोधयन्ति- यद् ये पुमांसो लक्ष्मीं केवलं सञ्चयन्त्येव, न परोपकाराय न च स्वभोगाय व्ययीकुर्वते, ते चाऽन्तकाले वयमिव हस्तौ घर्षयन्त एवाऽस्माद् भवाद् मृत्वा भवान्तरेऽपि रिक्तहस्ता एवाऽवशिष्यन्ते। अतः कृपणो मा भूत्, यत्किमपि लब्धं तत्परोपकाराय निजभोगाय च व्ययीकुरुत, सद्गुणोपार्जनाय च सोद्यमा भवत। यतश्चैकैक- गुणमन्तरापि पुमान् सर्वत्राऽनादरदृष्ट्यैव विलोक्यते। तथा चोक्तम्-

राजा धर्मविना द्विजः शुचिविना ज्ञानं विना योगिनः,
कान्ता सत्यविना हयो गतिविना भूषा च ज्योतिर्विना।
योद्धा शूरविना तपो व्रतविना छन्दो विना गीयते,
भ्राता स्नेहविना नरो विभुविना शीघ्रं बुधैस्त्यज्यते॥२१॥

अतो भो जनाः! इदं सम्यक्तया निबोधत-यद् शरीरेण सह रोगः, सम्पत्त्या विपत्तिः, जन्मना मृत्युः, संयोगेन वियोगः, सुखेन दुःखम्, तारुण्येन च वार्धक्यम्, इत्थं संसारे विविधा विनाशकारका

हेतवो विद्यन्ते। एवं भूतायां दशायां यत्किमपि साधु कार्यं करिष्यथ, तदेव सार्धमायास्यतीति निश्चयः। अतो न गुणहीनाः पुरुषा मक्षिका समानाः।

अथ पुनरपि पण्डितो बभाण-यद्येवं तर्हि *'मनुष्यरूपेण भवन्ति वृक्षाः'* इत्यवगन्तव्यम्। वादी तु तमपि मण्डयन्नाह -

छायां कुर्वन्ति ते लोके, ददते फलपुष्पकम् ।
पक्षिणां च सदाऽऽधाराः, गृहादीनां च हेतवः ॥२२॥

किञ्च वृक्षा उष्णकालीनभयङ्करतापं, चातुर्मास्ये भूमिबाष्प-जलधाराप्रादुर्भूतदुःसहवेदनां, वने सर्वत्र प्रसृतदावानलपीडां, छेदनभेदनताडनादिदुःखं सहित्वापि परेभ्यः सुस्वादुमिष्टानि फलानि प्रददते। पृथक् पृथक् रोगोपशान्तये यावन्तो वृक्षाणा-मवयवा हितकृतः, न तावन्तोऽन्येषाम्। सञ्जीविनी-कुष्ठ-विनाशिनीप्रभृतिगुटिका वृक्षजात्यैव निर्मीयन्ते। उत्तमोत्तम-वाद्यानामानन्दो वृक्षैरेव बोभवीति। अतो गुणहीनाः कथं वृक्षवन्मान्याः? अथ पुनरपि धनपालो गुणविहीनान् 'मनुष्यरूपेण तृणोपमानाः' इति व्याजहार। प्रतिपक्ष्यपि तृणं पक्षीकृत्याऽभणत्-

गवि दुग्धं रणे ग्रीष्मे, वर्षाहेमन्तयोरपि ।
नृणां त्राणं तृणादेव, तत्समत्वं कथं भवेत्? ॥२३॥

किं च संसारे सर्वानेव प्राणिनस्तृणान्येव गोपायन्तीति निश्चयः, यद्येकस्मिन्नेवाब्दे तृणानि न प्रादुर्भवेयुस्तर्ह्यसंख्याः प्राणिनो म्रियेरन्। देवायतनादिनिर्माणक्रियादिकं सर्वं तृणसाहाय्येनैव जायते। यदि तृणानि न भवेयुस्तर्हि सुधामयं मधुरं पयोदध्यादिकं कुतो लभ्येत? किं बहुना तृणं विना संसारे किमपि कार्यं न सिध्यति। अत एव-

तृणं चाऽहं वरं मन्ये, नरादनुपकारिणः ।

घासो[1] भूत्वा पशून् पाति, भीरून् पाति रणाङ्गणे ॥२४॥

ततो भूयोऽपि धनपालो विद्वान् 'सुलेखनीवाऽगुणिनो नराः स्युः' इत्यवादीत्। प्रतिवादी लेखनीमपि सम्यक्तया मण्डयन्नाह–

सत्पात्रे साधुदानं रिपुजनसुहृदां चोपकारं कुरुध्वं,
सौजन्यं बन्धुवर्गे निजहितमुचितं स्वामिकार्यं यथार्थम्।
श्रोत्रे ते कथ्यमेतत्कथयति सततं लेखनी भाग्यशालिन्!,
नो चेच्चष्टाधिकारे मम मुखसदृशं तावकाऽऽस्यं भवेद्धि॥२५॥

अतोऽस्मिन् संसारे लेखन्यपि महदुपकारकं वस्तु, या पत्रादिलेखनादिकार्येषु साहाय्यकर्त्री भूत्वा बहुविधं लाभं विधापयति, बहुमानं च रक्षति। एतावदेव नहि किन्तु, जगति नैतादृशं किमपि कार्यं विद्यते, यत्तां लेखनीमन्तरैव भवेत्। अतो निर्गुणिनो नराः कथं लेखनीतुल्या? इति।

ततो धनपालेन विदुषा प्रोक्तं यत् 'रक्षासमानाः किल ते मनुष्याः' इति। वादी रक्षामपि मण्डयन्नाऽऽह–तस्यामपि बहवो गुणास्तथाहि –

मूडकमध्ये क्षिप्ता, करोम्यहं सकलधान्यरक्षाम् ।
द्राङ्[2] मां वन्दते मनुजो, मुखशुद्धिकरी सुगन्ध्याऽऽढ्या ॥२६॥

इयं हि रक्षा संसारे नहि निरुपयोगिनी, यतः सहस्रशः स्त्रीपुरुषैर्भोजनान्ते स्वोच्छिष्टपात्राणि रक्षयैव शुद्धीक्रियन्ते। प्रभुभक्तिलीना विरक्तयोगिनो स्वाङ्गेषु रक्षाधारणयैव महायोगिनो निगद्यन्ते। तेषां धूनिकासु रक्षैव पवित्रभूता मन्यते। संसारवासिनां जीवानां जीवनभूतधान्यादिसुरक्षणं रक्षैव विदधाति। मृत्पात्राणि च प्रायशो रक्षाया मेलनेनैव पौष्ट्यं दधते। अत एव नानागुण–

1. आहार। 2. शीघ्रं।

संपन्नरक्षया सार्धं निर्गुणिनो नरस्य तुल्यत्वं सर्वथाऽयोग्यमिति। ततो धनपालः 'मनुष्यरूपेण हि धूलितुल्याः' इत्येव निरचैषीत्। प्रतिवादी धूलिमपि मण्डयन्नाऽऽह –

कारयन्ति शिशुक्रीडां, पङ्क्तिनाशं च कुर्वते ।
रजस्तात्कालिके लेखे, क्षिप्तं क्षिप्तं फलप्रदम् ॥२७॥

इयं धूलिकापि संसारे न निरर्थिका, यतो बीजवपनोद्यान-वापीकूपवप्रमठमन्दिरहर्म्यगृहादिकार्येषु विविधमृत्पात्रनिर्माणादिषु च धूलिकैव कार्यसाधिका। ये पुमांसोऽनाचारिणो दम्भिनः कुटिलाश्च भवन्ति, तेषामनादरकरणाय तदुपरि धूलिकैवोत्क्षिप्यते। अतो धूलिकाऽप्यनेकगुणसंपन्ना, किं च निर्गुणी पुमांस्तु सर्वतो न्यूनः, स च नहि धूलिकासमानोऽपीति।

अथ धनपालो विद्वानगादीत्–यदेतावत्कालपर्यन्तं मया सर्वसाधारणजनतायै विशेषवस्तुनो गुणानां बोधायैवैतावान् विस्तृतो लम्बसंवादः, किं चान्तेऽवश्यमिदं कथनीयं स्यात्। यन्नीतिकर्त्तृभिर्विद्वद्भिः संसारवासिनो जनाश्चतुर्धा विभक्ताः। तथाहि–

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के? न जानीमहे॥२८॥

अर्थात् – स्वार्थमगणयित्वा ये परार्थं साधयन्ति, तेऽवश्यं सत्पुरुषा एव, ये स्वार्थेन सह परार्थं साधयन्ति ते मध्यमा बोध्याः, ये तु स्वार्थाय परार्थं विनाशयन्ति, तेऽधमा मनुष्यरूपा राक्षसा ज्ञेयाः, ये च वृथैव परार्थं विनाशयन्ति, 'ते के स्युः?' इति वयं न जानीमहे।

किञ्च वस्तुतो यैर्न विद्याऽधीता, न तपस्तप्तम्, न दानं दत्तम्, न सच्चारित्र्यमासम्, न कोऽपि प्रशस्यो गुणोऽभ्यस्तः, न च धर्मोऽनुष्ठितस्ते निर्गुणिनो नरः[1] संसारे स्वपरहानिकर्त्तार एव। अतो निर्गुणानां जनानां विषये नीतिज्ञाः 'ते के? न जानीमहे' इत्येवमुक्त्वा विरेमुः। अतोऽयं संवादः सर्वान् सूचयति-यन्निर्गुणिने नराय संसृतौ[2] न काऽप्युपमा, अतस्तेऽधमाऽधमा एव विज्ञेया इति।

अथ प्रतिपुरुषैर्गुणोपार्जनाय सोत्साहकैर्भवितव्यमेव खलु। गुणासिश्च सत्सङ्गमन्तरा नैव भवति। यतः सत्सङ्गत्यामनन्तगुणाः प्राप्यन्ते, दुर्जनसङ्गतौ च भूयसी हानिर्भवति। यथा -

ज्ञान बढ़ै गुनवान की संगत, ध्यान बढ़ै तपसी संग कीने,
मोह बढ़ै परिवार की संगत, लोभ बढ़ै धन में चित्त दीने।
क्रोध बढ़े नर-मूढ की संगत, काम बढ़ै तिय के संग कीने,
बुद्धि विवेक विचार बढ़ै, *कवि दीना!* सुसज्जन-संगत कीने ॥२९॥

सत्सङ्गत्या च निर्गुणिनोऽपि राजवेश्यावत्सगुणा भवन्तीति। तथाहि-कदाचिदेको महात्मा तपस्वी क्लिन्नगात्रः पङ्कलिप्तश्च कस्यचिद् हर्म्यतले गत्वा तस्थौ। तच्च भवनं राज्ञो वेश्याया आसीत्। अतिशैत्येन कम्पितगात्रं तं तपस्विनं प्रेक्ष्य काचन-वेश्याचेटिका स्वस्वामिनीं सर्वं वृत्तान्तमचकथत्। अथ वेश्यापि 'गच्छ शीघ्रं तं तपस्विनं समानय?' इत्युक्तवती। चेटिकापि शीघ्रमेव तं समानैषीत्। ततो वेश्या सादरं तं संस्नप्य वासांसि च परिधाप्य सप्रेमाऽबूभुजत्, ततः स्वयमपि भुक्त्वा तदन्तिकमेत्य तं च पर्यङ्के सुष्वाप्य तत्पादावमीमृदत्। अवीवहच्चाऽथ महात्मा-प्येकदृष्ट्या तां विलोक्यैव तद्धृदये वैराग्यपीयूषधाराम्। स च

1. नृ (बहु.)। 2. संसारे।

सुष्वाप, सा तु रात्रौ तत्पादौ चम्पितवती, किञ्चान्तिमनिशायां साऽशयिष्ट। स तपस्वी चोत्थाय चचाल। प्रत्यूषे चोत्थिता वेश्या निजदासीं 'महात्मा क्वाऽगमत्?' इत्येवमप्राक्षीत्। तया चोत्तरितम्-'स तु गतः' इति। ततस्तदानीमेव सा वेश्या गृहान्निर्गत्य तपस्विनी भूत्वा नगराद्बहिः कस्यचिद् वृक्षस्याऽधो गत्वाऽस्थात्। नृपतिश्चेदं वृत्तान्तं शृण्वन्नेव तां समानेतुं कर्मकरान् प्रैषीत्। साऽवदत्-नाहमिदानीं 'भवद्गृहस्थगूथशोधिका' इति गदित्वा सा क्वाऽप्यन्यत्र विजहार। अतः सत्यं महात्मनां क्षणकालिक्यपि सङ्गतिर्महापापानि विनाशयति, कारयति च परमां समुन्नतिम्।

अथात्मिकोन्नतिरपि केवलं पवित्रमहत्त्वाकाङ्क्षादिभिरेव जायते। स एव मनुजो, योऽनवरतमुच्चविचारेषु परिभ्राम्यति। येषां हृदात्ममनस्सु सदा शुद्धाः स्वार्थशून्याश्च विचारा बोभुवति, निश्चितं ते मध्याह्नकालीनभानुवज्जाज्वल्यमानाः, पूर्णचन्द्र इव माधुर्यपीयूषपूर्णाः, ज्ञानवन्तः सदाचारिणश्च। ते तत्स्थानं लभन्ते, यतोऽस्मिन् संसारे बहुप्रतापशालिनं प्रकाशं प्रकाशयन्ति, शान्तिसुधां चापि वर्षन्ति। स्वार्थत्यागं विना न कथञ्चिदप्युन्नतेः प्राप्तिर्न चापि साफल्यप्राप्तिर्भवितुमर्हति। मनुष्यस्य सांसारिकविषयेष्वपि तदनुसारेणैव साफल्यं भविष्यति, यदनुसारेण स स्वविषयविकारादिविचारान् संहरिष्यति, स्वमनश्च निजप्रयत्नोपायेषु स्थिरीकरिष्यति, स्वप्रतिज्ञातस्य च दार्ढ्यं प्रददानः स्वावलम्बी भविष्यतीति।

यो निजविचारान् यावदेवोच्चैः करोति, तावदेवाधिकमनुष्यत्वदृढत्वधर्मपरायणत्वादि प्राप्नोति, तस्य च साफल्यमपि तावदेव श्लाघनीयं भवति। एवंभूतस्य श्रेष्ठमनुजस्योन्नतिश्चिरकालं स्थिरायते, स पुमानपि धन्यो बोभूयतेतरामिति।

1. विष्ठा। 2. भू. (यङ्लुप्) ३ पु. बहु. वर्त०।

स्त्रिय एव संसारे गृहश्रियः, अपूर्वप्रेम्णो मूर्त्तयः, पुरुषमात्रस्य प्राथमिकाध्ययनशालाश्च। स्वबालकबालिकानामादर्शरूपविधानम्, स्वसहचारिणां सदाचारित्वकरणम्, स्वगृहोन्नतिरक्षणम्, तस्य च स्वर्गसादृश्यविधानाद्यखिलकार्यभारः स्त्रीष्वेव। अत एव स्त्रीणामपि गुणाय तावत्येवावश्यकता, यावती पुरुषाणां सद्-गुणत्वाय। तथा याः स्त्रियो निर्लज्जाः, कलहप्रियाः, कटुभाषिण्यः, क्रोधवत्यः, स्नेहशून्याः, सालसा, वाचाला, अशिक्षिता, व्यभिचारिण्यश्च भवन्ति, ताः स्वस्य स्वसहचारिवर्गस्य च हानिकर्त्र्य एव। याश्च क्षमाशीलाः, पतिव्रताः, सुशिक्षिता, गृहदक्षाः, सलज्जाः, प्रेममूर्त्तयो, मितभाषिण्यः, सदाचारिण्यश्च भवन्ति, वस्तुतस्ता एव सुविद्यादेवीवत् स्वस्य परस्य च समुन्नतिकरणाय सौभाग्यवत्यः साहसिकाश्च भवन्तीति नात्र सन्देहः। तथाहि -

अथाऽऽसीत्कस्मिंश्चित् सुपत्तनेऽरिमर्दनो नाम नृपतिः, सुविद्यादेवी नाम्नी च तस्य पट्टराज्ञी। सातीवचतुरा विदुषी गृहकार्यप्रबन्धादिषु महादक्षा च। अथ कदाचित्सा सलग्ने सुमुहूर्त्ते पुत्रं प्रासूत। श्रुत्वैव स मेदिनीजानिर्भूयांसो[1] ज्योतिर्विदः समाहूय ग्रहादिविचारं कारितवान्। ते चात्मजमतितेजस्विनं प्रतापिन-मैश्वर्यवन्तं च व्याजहुः। स च भूपतिस्तेषां ज्योतिर्विदां तद्वचः समाकर्ण्य बहु साश्चर्यो बभूव-किं साम्प्रतं संसारे नान्यस्योत्पादः स्यात्?' अस्तु, स्वीयं मानसीयं विचारं सङ्गोप्य स क्ष्मापो[2] निजादेशकरान् समादिदेश-यद् यो मर्त्त्योऽस्मिन्नेव लग्ने मुहूर्त्ते च समुत्पन्नो भवेत्, तं शोधयित्वाऽवश्यं मङ्क्षु[3] समानयत। अथ तेऽप्यन्विष्यन्तः कञ्चनैकं महानिःस्वं[4] काष्ठविक्रेतारं गृहीत्वा समानिन्युः। ततः पुनरपि भूपो ज्योतिर्विदां[5] संसदं विरचय्य[6] प्राक्षीत्-यदस्यापि पुंसो जनिस्तस्मिन्नेव[7] लग्ने जातं यस्मिन् राजकुमारस्य।

1. राजा। 2. राजा। 3. शीघ्रं। 4. निर्धनं। 5. ज्योतिषी। 6. वि+रच्+णिग्+यप्
7. जन्म।

पुनरस्मिन् कुतो वैपरीत्यं यदसौ महादरिद्रः। अथ तैर्बहुधापि समुत्तरितो नृपतिर्न समतुषत्, किं चेदमेव विमृशन् स सुविद्यान्तःपुरे जग्मिवान्। सुविद्यापि यथोचितं सादरं ससत्कारं सकटाक्षं पूर्ववद् भूपमनःसमाह्लादयितुमैषीत्। किञ्च भूपालं सोदासीनं कस्मिंश्चिदपार-विचाराकूपारे[1] निमग्नं विज्ञाय परीपृच्छ्यते स्म। बहुधोपेक्षमाणमपि राजानं कथञ्चित्कथिताखिलवृत्तान्तं, पुनः समुत्ततार-यदिदं तु स्वाभाविकं यतस्तद्गृहे तदीया स्त्रीर्मूढा स्यात्, अत एव स सर्वदा निर्धनः सचिन्तापरश्च। यद्गृहे स्त्रियो नहि गृहशोधनकर्त्र्यो बहुशयनशीलाः, निजभर्तुकथनप्रतिकूलाः, प्रतिकार्यकरणकाले तल्लाभहानिसाध्वसाधुविचाराऽनभिज्ञाः, स्वगृहस्य सुव्यवस्थां तथा निजगृहीयवस्तूनि च नहि सम्यक्तया संरक्षन्ति, तद्गृहस्थनराः प्रायो दुःखभाज एव भवन्तीति। नैतद्विषये कस्यापि सुलग्नस्य सुमुहूर्त्तस्य वा कोऽपि दोषः, किञ्च यदि गृहे स्त्रियः सुपठिताः सुप्रबन्धविधात्र्यश्च भवेयुस्तर्हि तद्गृहस्थ-मनुजोऽपि नहि दुःखभाग् मूढत्वभाग् च भवेन्नाम। उक्तं च -

यस्यास्ति भार्या पठिता सुशिक्षिता, गृहक्रियाकर्मसुसाधने परा ।
स्वाभाविकं धर्मधनार्जनं च, करोति निश्चिन्तमथो हि मानवः ॥३०॥

अथैवं सुविद्यादेवीवचः समाकर्ण्य स भूपोऽतीवसंक्रुध्य 'भावत्कं राज्यादिकं मद्बुद्ध्यधीनमेव' इति सगर्वां तां स्वसद-नान्निष्काशयामास। नैतदाश्चर्यं यतो नृपाणामियमेव दशा। तथा चोक्तम् -

राजाग्नियोगितोयानां, विपरीतं हि वर्त्तनम् ।
यो वसेच्छिकटे तेषां, स्वल्पा प्रीतिर्भवेदिह ॥३१॥

अथ सुविद्यापि तस्यैव काष्ठविक्रेतुर्गृहे गत्वा स्थास्यामि,

1. समुद्र।

दर्शयिष्यामि च राज्ञे स्ववचनसंस्तवमित्येवं बहु विचिन्त्य तद्गृहे गतवती, गत्वा च तत्र सप्रश्रयं व्याजह्रे-भो पितः! त्वं मां स्वगृहे रक्ष, भवच्छुश्रूषां कुर्वती शुष्करूक्षादिभोजनेनैव स्वनिर्वाहं विधास्ये। स आह-अहं स्वयमेवैकादशीं कुर्वे, यस्मिन् दिने काष्ठानि विक्रीयन्ते, तस्मिन् दिने कथङ्कारं रोटिका लभे। यस्मिंश्च दिने तानि न विक्रीयन्ते, तद्दिने तु बहुधाऽऽखवोऽपि[1] विदधत्ये-कादशीम्। सा जगाद-यत्किञ्चनापि मद्भाग्यस्य भविष्यति तदवश्यं प्राप्स्यति नात्र सन्देहः। एतादृशीं तस्या वाचमाश्रुत्य काष्ठविक्रेता-ऽभणन्-यदेवं तर्हि यथाहं सन्तिष्ठे, तथा त्वमपि मया सह सुखदुःखभाक् सन्तिष्ठस्व, विधिस्त्वद्भाग्यस्यापि कवलं दास्य-त्येव। को वा जानीते यत्त्वद्भाग्येनैव ममापि कवलं स्यादिति।

अथैवं राजपुत्री महानिपुणत्वात् काष्ठविक्रेतृसदृशं भारमेक-त्रीचकार। अन्यदिने तु स काष्ठविक्रेता काष्ठानामाणकैकमलभत, किन्त्वद्यत्वाणकद्वयं लभते स्म। यर्ह्येव स काष्ठभारमादाय प्रतस्थे, तर्ह्येव सापि स्वशिरसि काष्ठभारं संस्थाप्य प्रचलितवती। या च काष्ठविक्रेतुः स्त्री सातीवस्वभावक्रूरा, अहर्निशं गृहे कलहायतेऽत एव तस्या नाम कुबुद्धिरिति। दूरादेव समायान्तीं तेन सार्धं तां समीक्ष्य 'अद्यैतावान् कथं लम्बो विलम्ब इति, वयं हि क्षुत्क्षामकण्ठा[2] भवामोऽमूनि त्वदपत्यानि च बुभुक्षया पीड्यन्ते' इत्यभिधाय चित्ते किमप्यन्यदेवाऽचिन्तयत्। सर्वं तस्या भावस्थं विदित्वा सा सुविद्या सप्रश्रयमूचे जननि! अद्यान्यदिनापेक्षया काष्ठान्यपि त्वधिकानि वरीवृत्यन्तेऽत एवाद्य लम्बो विलम्बः। अनेन मत्पित्रा च मयि दयां विधाय मह्यं जीवदानं प्रदाय त्वच्छुश्रूषायै चाहं नीता, अस्मिन् कोपं मा कृथाः, विलम्बहेतुरहमेव। इत्थं माधुर्यवचोभिस्तां यथावच्छमयित्वाऽऽनीतकाष्ठभारं त्रिधा विधाय

1. आखु=चूहा। 2. दुर्बल।

पितृपुत्रयोर्मूर्ध्नि संस्थाप्य विक्रेतुं प्रैषीत्। भारत्रयीत्वाच्च तान्येव काष्ठानि त्वद्य दशपणैर्विक्रीयन्ते स्म। अथ तेषु दशपणेषु षट्पणैर्भोजनसामग्रीं समानाय्याऽऽणकैकं पेटिकायां प्राक्षिपत्।

द्वितीयदिने च सा सुबुद्धिः सुविद्या तदीयात्मजद्वयीमपि किञ्चिद् दत्त्वा प्रलोभ्य तेनैव पित्रा सार्धं काष्ठानि सञ्चेतुं विक्रेतुञ्च सम्प्रेष्य स्वयं च स्वसमीपस्थगृहे चूर्णपेषणाय संलग्ना। अयं च काष्ठ-विक्रेता प्रतिदिनं पक्वामेव रोटिकां समानयति, किं च तद्दिनेऽपि यदैकैकं पणं प्रदायाप्याणकैकमवशिष्टम्, गृह एव भोजन-सम्पादनात्सर्वेषामुदरपूर्त्तिश्च जाता। तदाऽवशिष्टपणानां तूलिकां समानाय्य स्वपार्श्वस्यगृहे तस्यास्तूलिकायाः सूत्रं निष्पाद्य व्यक्रैषीत्। इत्थं विदधत्यास्तस्यास्तस्मिन्मासे रूप्यकैकमवशिष्टम्। अथ गते कियति काले सा तेन रूप्यकेण काष्ठविक्रेत्रे चैकां कुठारिकां मूल्येनानाय्याऽभ्यधात्-यत्प्रतिदिनमेकैकलघुकाष्ठसञ्चयेन लघूनि स्वल्पानि च काष्ठानि समायन्ते, किञ्चाऽनया कुठारिकया छेदं छेदं महान्त्येधांस्यानय, यतस्तानि महान्ति काष्ठानि बहुमूल्येन विक्रीयेरन्, स्वयं च स्वपार्श्वस्थगृहतः सूचिकाकर्त्तरिकासु-वस्त्राद्यानीय शिरस्त्राणादि कर्त्तुमारभत। ततः कतिपयगृहेषु मेलनं विधाय यस्य वस्तुन आवश्यकता भवेत्तद्वस्तु याचित्वा, स्वकार्यं च कृत्वा पश्चात्समर्पयति। कस्यचिद् बालस्य शिरस्त्राणं सीव्यति, कस्यचिदङ्गरक्षणम्। काशविरेचनादिरोगाणामौषधिं निर्माय निर्मूल्यमेवार्पयन्ती सर्वेषामेव मान्याऽतिवल्लभा चाजनिष्ट। एवमिदानीं प्रतिदिनं पञ्चषडाणकानां काष्ठानि विक्रीयन्ते, द्वित्रिचतुराणकानां शिरस्त्राणादीनि विक्रीयन्ते, स्वल्पदिनैरेव कतिपयानि रूप्यकाण्येकत्रीकृतानि। इत्थमेव मतिमत्या तया कतिपयानि रसवतीपात्राणि क्रीतानि, स्ववासगृहमपि संलिप्य स्वच्छीकृतम्। स्वयमपि सा शिरस्त्राणादिकार्यं कुर्वती पार्श्वस्थजन-

कुमारिका अपि निर्माणादिकार्यं शिक्षयामास। अथैतन्निर्मितबहु-विधवासांसि बहुमनोहारित्वादनल्पमूल्येन विक्रीयन्ते स्म। यदा किञ्चिदधिकं मूल्यमेकत्रितं तदा तया धर्मपित्रर्थमेको रासभः क्रीतः। उक्तं च - 'अस्मिन् काष्ठानि समारोप्यानय, मा च विक्रैषीः, किञ्च राशिं विधेहि, यदा वर्षाकालः स्यात्तदा विक्रीणीयाः, यतोऽ-धिकं मूल्यमायास्ते। सार्धं गृहीत्वा च मा भ्रमीः, किन्तु राशिं विधाय वर्षाकाले चैकत्रैव सन्तिष्ठमानो विक्रीणीयाः।'

अथ तेनापि किञ्चिद्धृदि[1] विविच्य निश्चिक्ये-साधु चैतस्या वच इति। इतस्तदीया कलहप्रिया कुबुद्धिर्भार्यापि प्रतिदिनं प्रसेदुषी[2] मनस्यचिन्तयत्-साधु चैतस्याश्चातुर्यं बुद्धिप्रागल्भ्यं च, या यद्दि-नान्मद्गृहमायाता तद्दिनात्किमः किं जातम्। एकाहं यत्प्रतिदिनं कलहाये, एकेयं कीदृशी मतिप्रगल्भा सर्वकार्यनिपुणा च। यद्दिनादियं समायाता तद्दिनात्कश्चनापि पुमान् मद्गृहे कलहनामापि न जानीते, इत्थं बहुविमृशन्ती स्वल्पैरेवाहोभिः सा कुबुद्धिरपि सुबुद्धिर्जाता। यदा काष्ठविक्रेतुर्गृहे इयान् महत्त्वातिशयो जज्ञे, तदा तया सुविद्ययाऽन्यदपि स्वबुद्धिवैभवं प्रसारितम्। तदिदम्-बहुशः स्त्रीणां बालकबालिकानां चौषधिदानादिक्रियां कर्त्तुमारब्धम्, किञ्च स्वमहिषीत्वान्निजमतिपटुत्वाच्चारिबले पत्तने निजां ख्यातिमपप्रथत्। प्रतिगृहतस्तस्या आह्वानं भवति, प्रथमं तु तस्या औषधेः सुष्ठुत-रत्वाद्, द्वितीयं वाङ्माधुर्यशीलस्वभावदयानम्रत्वाच्च परमनो जहार। यद्गृहे चैकवारं गच्छति तद् गृहाद् बहुधाऽऽह्वानं समायाति, किम्बहुना बहुभिरेव पुंभिर्निजनिजगृहाद् भूयो वस्तुजालमुपायनीचक्रे। अथाऽस्या गृहं सर्वथा सम्भृतम्। तथा पार्श्वगृहस्थबालिकाः स्वपार्श्वे संस्थाप्याध्यापयामास, किं च सार्धमेव निजधर्मपितुः पुत्रद्वयी-मप्यध्यापयामास। किञ्चित्किञ्चित्स्वधर्मपितरमपि चाऽशिक्षयत्।

1. हृदि। 2. प्र+सद्+वस् (क्वसु)। स्त्री. प्र. ए.

अस्याश्चाखिलपत्तने त्वेतादृशी ख्यातिरभवत्, येनोत्तमजन-वधूबालिकानां गृहे गच्छन्ती कतिपयोत्तमगृहेभ्यो मासिकं वेतनं चापि लेभे, श्रेष्ठिप्रभृतिगृहगमनादस्याः प्रतीतिरपि ववृधे। चेत्पञ्चाशच्छतादिमुद्राणामावश्यकता भवेत्तल्लाभेऽपि योग्याऽभवत्। अथेयं यदेदृशी सञ्जाता तदा कतिपयश्रेष्ठिकान् मिलित्वा स्वनाम्नो वस्तुजातं तद्रूप्यकैर्गृहीत्वा तैरेव च पुरुषैरेकं संलेखकं भृत्यीकृत्य स्वपितरं तेन सार्धं कृत्वाऽऽह-'इदमखिलं वस्तुजातं दूरदेशान्तरं गत्वा विक्रीणीहि, तत्रत्यानि च स्वल्पमूल्यकानि समर्घ्याणि वस्तूनि समानय' इति व्यसर्जयत्। अथ धर्मभ्रातरावुवाच-'युवामिदानीं श्रेष्ठ्यादिसत्पुरुषेषु तिष्ठथ उत्तिष्ठथश्च, युवाभ्यामित्थं वर्त्तितव्यं यत्कोऽपि पुमान् निजचित्ते कथञ्चनापि काञ्चनापि घृणां मा कार्षीत्, स्वपार्श्वे च युवां संस्थापयन् मा सङ्कोचीत्, अत इत्थं विधेयम्-पूर्वं तु वासार्थमुत्तमगृहस्यावश्यकत्वम्, यस्मिंश्च याः काश्चनोच्चकुलस्त्रियः समागत्य सुष्ठुतया सभ्यतया चावतिष्ठेरन्, अतः प्रथमं कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो हर्म्यं भाटकेन ग्राह्यम्, येन मत्स्थितिरपि योग्यस्त्रीपुरुषेषु प्रशस्या स्यादिति' तत एकं श्रेष्ठिहर्म्यं भाटकेन ग्राहयित्वा तस्मिन् समे तस्थुः। अथ काष्ठव्यापारो यद्यपि सर्वथाऽधमः, तथाप्ययं सर्वथाऽत्याज्य एवेति मनसि निधाय सुविद्यादेवी पुनरुवाच-'अस्मिन् काष्ठराशौ तु स्वल्पो लाभः काष्ठविक्रेतारं च 'काष्ठविक्रयाः' एवाभिधीयन्ते। अत एव कतिपया रथकारा रक्षितव्यास्तैश्च शालनिम्बप्रभृतिपादपानां काष्ठैर्मञ्जूषादिवस्तूनि निर्माप्याणि, रूप्यकाणां च यावतामावश्यकता भवेत्तावन्ति कार्यालयादुधारकेण ग्राह्याणि। नदीतीरस्थमहावनाद् सुकाष्ठानि च्छित्त्वा छित्त्वा समानाययितव्यानि, येषां च काष्ठानां वस्तून्यपि शोभनानि भवेयुः' इति विविच्य कस्माच्चिच्छ्रेष्ठिनो रूप्यकसहस्रद्वयीमुधारकेणाऽगृह्णात्। ततोऽमीभी

रूप्यकैः काष्ठानि क्रीत्वा तानि वस्तूनि निर्मापितानि, यानि द्विगुणचतुर्गुणमूल्येन व्यक्रैषुः।

इतः स काष्ठविक्रेता वस्तूनि द्विगुणमूल्येन विक्रीय तत्रत्यानि च बहुविधानि वस्तूनि समानिनाय, यानि सहसैव द्विगुणचतुर्गुणेन विचिक्रिये। यानि च रूप्यकाणि जनानामुधारकेण गृहीतानि, तानि सव्याजकानि तेभ्यः समर्प्यावशिष्टानि स्वगृहे रक्षितानि। अथ स्वल्पैरेवाहोभिर्दशविंशतिसहस्ररूप्यकाणि गृहे सञ्जातानि, ततोऽन्यतो ग्रहणस्यावश्यकता नाभवत्। 'किञ्चित्कालानन्तरमिदानीं स्वरूप्यकैर्व्यवहारो न व्यवहर्त्तव्यः, एकदेत्थमेव पुनरपि निजधर्मपिता देशान्तरे प्रेष्यः, यदा भूयोऽपि लाभः स्यात्तदा तत्पश्चान्न कथङ्कारमप्यन्यतो रूप्यकाणि ग्रहीष्ये' इति सुविद्या सम्यग् विचार्य मासद्वयानन्तरं संलेखकेन सार्धं स्वपितरं पूर्ववद् बहुविधानि वस्तूनि सम्भृत्य संप्रेषयामास। ततोऽस्य श्रेष्ठिसाधुकारेषु महती प्रतिष्ठा समजनि, कथनमन्तरैव सर्वेऽनेकविधानि वस्तूनि यानेषु सम्बभ्रुः। इतः कस्मिंश्चिद् द्विजकुले निजधर्मभ्रात्रोर्विवाहाय सम्बन्धं संयोज्य तौ विवाहयामास। यदाऽस्याः काष्ठविक्रेता धर्मपिता विदेशतो निवृत्तस्तदा प्रथमतोऽप्यधिको लाभो बोभवीति स्म। ततः कतिपयपत्तनेषु महत्यो विपणिका उद्घाटिताः, सुविद्याप्रभावतश्चातीवप्रख्यातः शनकैर्जगच्छ्रेष्ठिपदवीविभूषितो बोभवामास। अथाऽवसरज्ञा सुविद्या निजहृदि 'अवसरोऽसौ राज्ञो निजवचनप्रख्यापनाय यन्मद्वचसः सत्यत्वमसत्यत्वं वेतीत्थं बहुधा विचिन्त्य निजधर्मपितरं बभाण- 'इदानीं भवकान् लोके' 'जगच्छ्रेष्ठी' इति निगद्यते लोकैः, देशदेशान्तरस्य चाऽलभ्यानि वस्तूनि भवद्गृहे समायन्ते, कानिचिच्छोभनानि वस्तून्यादाय राज्ञे चोपायनीकर्त्तव्यानि[1] यतोऽयं स्वीयो धर्मः, यत्स्वदेशाधिपः

1. भेंट।

प्रसाद्योऽस्मकाभिरिति। एतावत्कालपर्यन्तं वयं कस्मिंश्चिदपि विषयेऽगण्या आस्म, किञ्चेदानीं महान्तोऽभूम। अतोऽमुकानमुकान् कायकर्तॄन्मिलतु भवकान्, तेषां सङ्गत्यैव राजमेलनमपि भावि।' अथेयं राज्ञी सर्वराजनियमज्ञात्री चासीत्, अतः सा सुविद्या महिषी सर्वं राजनियमं सम्बोध्य कथञ्चित्तं राजान्तिकं प्रेषयामास। यथा सुविद्यया पूर्वं बोधितस्तथैव राजानं मिलित्वा पश्चात्स्वभवनं प्रतिनिवृत्त्य सर्ववृत्तान्तं तामाह। ततो गतायां कियत्यां वेलायां तया पुनरपि स प्रेरितः, इत्थं कतिपयवारं तं सोऽमिलत्, येनाखिलवृत्तान्तज्ञो भूत्वा राज्ञोऽधिकं परिचितो जातः।

ततो भूयोऽपि सा पितरमवादीत्-यदेकवारं राजानं स्वगृहे भोजय? वक्तव्यश्च स भूपस्त्वया-यदनुचरस्यापि गृहं कदाचिद् गत्वा सुशोभितव्यं, पादपद्मेन च पवित्रितव्यम्। इति निवेदिते काष्ठविक्रेतरि भूयो भूयोऽपि, स्वीकृत्य तद्वचोऽमुकदिने समायास्यामीति तं संव्याजहार। ततः सोऽपि गृहमागत्य सुविद्यादेवीं यथावदुवाच। अथ सापि स्वचातुर्येण स्वभवनमेतादृक् सुसज्जितं चक्रे, यद् राज्ञो महाराजस्येव वा प्रतिभाति, तथैवाखिलां सर्वसामग्रीमपि प्रगुणीचक्रे, स्वबुद्धिमत्तया च राज्ञो रुचिकरं भोजनं निर्ममे। ततः क्ष्मापोऽपि तद्भवनमागत्य तत्रत्यां शोभां समीक्ष्य सम्भुज्यातीव प्रससाद, विसिष्मिये च। यत्कालात्सा सुविद्या राजभवनाद् गता, ततः प्रभृति भूयोऽपि स्वगृहे न तादृशानि भोजनानि बुभुजे। अत एव बहु प्रसद्याप्राक्षीत्-जगच्छ्रेष्ठिन्! किं तवापत्यम्? तेनाप्युत्तरितम्-राजन्! अस्ति पुत्रद्वयमेका धर्मपुत्री च भवत्कृपातः, किञ्च भवद्दर्शनार्थं ते साभिलाषाः। राजाह-यद्येवं तर्हि समाकारय तान्, श्रुत्वैवं पुत्रद्वयी समागत्य तं प्रणनाम।

अथ भूपतिः पुत्रीमप्यपृच्छत्, श्रेष्ठिनोचे-स्वामिन्! सा त्वपवरके वर्त्ततेऽतो भवता तत्रैव गत्वा तस्यै दर्शनं दत्त्वा सा

कृतार्थ्या। श्रुत्वैवं राजा समुत्थाय तत्र जग्मिवान्, साप्युत्थाय नृपतिं साष्टाङ्गप्रणामं सादरं सञ्चक्रे। ततो नरपालस्य तस्याः स्वरूपमवलोकयत एव निजमहिष्याः सुविद्यायाः स्मृतिराजगाम। यत इयमपि तत्स्वरूपा, इयं सुविद्येव प्रतिभाति परमियं स्वात्मानं जगच्छ्रेष्ठिनो हि पुत्रीति भणति तत्कथं संघटते?, किं चेदमवश्यं यतोऽस्या वयःसुविद्यया सम्मिलति जगच्छ्रेष्ठिनश्च वयस्तत्पुत्रसमानं प्रतिभाति। पुत्री हि पितृतो ह्रस्वा मातृस्वरूपा च, अतो नेयं कदापि तत्पुत्री, अवश्यं चात्र कोऽपि हेतुः। इत्थं विचिन्तयत एव नृपतेः पादपद्मे सुविद्याऽपसत्, अगदच्च-मा सर्वथा कृत सन्देहं भवान्, नाहं श्रेष्ठिपुत्री, किञ्च भवत एव पादपद्मसेविका, सर्वमिदं निजवचनख्यापनाय सत्यकरणाय च मयैवाचरितो व्याजः, स एवायं काष्ठविक्रेता दरिद्रः पुमान्, सैवाहं सुविद्या नाम भवन्महिषी। दास्याश्चापराधो भवद्भिः क्षाम्यो रक्षितव्यश्च सर्वथा सेवायाम यमबलाजनः, इयन्ति च दिनानि भवद्वियोगेनाहं महता कष्टेन समर्यादं धर्मपूर्वकं व्यत्यैषिषम्। ततो राज्ञापि श्रुत्वैवं तदीयं वचो बहु त्रेपे, राज्ञीं च गृहीत्वा स्वगृहं सञ्जग्मे, जगच्छ्रेष्ठिने च स्वराज्यार्धं समर्प्य स्वसमानं विदधे। अथान्ते स भूपतिः सा राजमहिषी, स च जगच्छ्रेष्ठी काष्ठविक्रेता सपरिच्छदो भागवतीं दीक्षां जगृहे, निर्दोषं च संयमं प्रपाल्य शाश्वतसुखेन विललास। अयि भव्याः पाठकाः! यथेयं राजमहिषी स्वं स्वसहवासिनश्च समुद्दधार, तांश्च सद्गुणिनो विधायेह परत्र च सुखीचक्रे। एवमेवेहाऽन्या सद्गुणा स्त्री बहुविधा व्यक्तीः सुखेनैव समुद्धर्त्तुं शक्नोति, नात्र कैरपि कथञ्चन सन्देहो धार्य इति।

भूयोऽपि धनपालो जगाद-यदवसरोचितवचनकथनेऽपि विविधाः प्रशस्या गुणाः। स्त्रीपुरुषाः कियतीमपि विद्वत्तां कला-कौशल्यप्राप्तिं च कुर्युर्नाम, *किञ्च यावत्तेषु नोचितावसरवचन-*

कथनरूपा गुणा भवन्ति, तावत्ते सर्वत्राऽऽदराऽनर्हा एव। अत एवैतद्गुणसम्पादनाय तावदेवाऽऽवश्यकत्वं यावद् गुणत्वाय। कश्चिद्धिन्दीकविताकारोऽप्याह –

सीख्यो सब रीतभांत, गीत ज्ञान नाद छंद,
जोतिस हु सीख मन रहत गरूर में ।
सीख्यो सब सोदागरी बजाजी सराफी सार,
लाखन को फारफेर वही जात पूर में ।
सीख्यो सब जंत्र, मंत्र, तंत्र, चित्र शिल्पकारी,
पिंगल पुराण वेद सीख भयो नूर में ।
सीख्यो सब वाटघाट, निपट सयानो सूर,
बोलवो न सीख्यो ताको सब सीख्यो धूर में॥३२॥

बात ही कहेसे ज्ञान ध्यान में प्रवीण बने,
बात ही कहेसे सब लोक में पूजात है,
बात ही वखान तीन लोक में सुजान होत,
बडे बडे योगी यति बात ही कहात है।
बात कहेसे विष वासक को उतर जात,
जाने विन बात मूढ केते दुःख पात है,
मंत्र अरु तंत्र सब बात ही के पाठ बने,
बात कर जाने तो बात हु करामात है ॥३३॥

येऽवसरोचितकथनं सम्यक्तया जानन्ति, तेषां प्रतिवाक्येषु चामूल्योपदेशाः सन्तिष्ठन्ते, तथातिकृपणान्याय्यनाचारोद्यतान् स्त्रीपुरुषान् सुमार्गे चालयितुं शक्तिशालिनो भवन्तीति। तथा हि-

अथाऽऽसीत् कश्चनातीवलोभवान् भूपः, स च प्रभूतं वित्तं सञ्चिक्ये, किञ्च स तद्धनं स्वपुत्रस्यापि सुखभोगाय न ददाति, न

च द्रव्यव्ययभयान्निजकन्यामेव विवाहयति। ततः कदाचिदेको नटो नटी च तत्सभायां समाजगाम, स चाऽऽगत्यैव निजनाट्यदर्शनाय नृपं प्रार्थयामास। अथ राजापि साधु, कदाचिद् द्रक्ष्यामीति तं विससर्ज, किन्तु सा नटी मुहुर्मुहुरागत्य राजानं विज्ञपयति। भूपोऽपि तामुपेक्षते, परमन्ते नटी कदाचिद् मन्त्रिणं विज्ञपयामास-'यदि महाराजो मदीयं नाट्यं न पश्येत्तदहं व्रजानि, यतः स्वद्रव्यं खादन्त्या मे भूयांसि दिनानि व्यतीयुः' इत्येवं श्रुत्वा मन्त्री राजानं प्रार्थयते स्म स्वामिन्! भवान्नाट्यमवश्यं विलोकताम्, वयं च सर्वेभ्यः किञ्चित्किञ्चिद् दापयित्वा तां नटीं नटं च यथावत्सन्तोषयिष्यामहे। यदि च भवान्नाट्यं न द्रक्ष्यति तर्हि लोके महती भवतोऽपकीर्त्तिः स्यात्। ततो राज्ञापि मन्त्रिवचः स्वीकृतम्, नाट्यमपि प्रारेभे, यदा तस्या नाट्यं कुर्वत्या घटिकाद्वयावशिष्टायां रजन्यामपि किञ्चिदपि भूपतिः पारितोषिकं न ददाति, तावन्नटी नटमाह -

घटिकैकाऽवशिष्टायां, रात्रौ श्रान्ता च मत्तनुः ।
नटी नटमथोवाच, तालं धैर्येण वादय ॥१॥

नटीवाक्यमाकर्ण्य नट आह -

वीतेयं बहुधा रात्री, किञ्चिन्मात्राऽवशिष्यते ।
नटस्तदा नटीं प्रोचे, ताले भङ्गं हि नो कुरु ॥२॥

अथ तत्रैव कोऽपि तपस्वी नाट्यं विलोकयन्नासीत्, स च नटनट्योः प्रश्नोत्तरमाकर्ण्यैव निजरत्नकम्बलं ताभ्यां समर्पयामास। स राजकुमारो हीरकादिजटितां निजकटक[1]द्वयीं, सा राजकुमारिकापि च निजकण्ठस्थहीरकमयं सुन्दरममूल्यं सुहारं प्रददौ। राजा चैवं सर्वमवलोक्य साश्चर्यो भूत्वा सर्वतः प्राक् तपस्विनमेव प्रोचिवान्-यद् भवत्पार्श्वे त्वेक एव कम्बल आसीत्, तद् भवान् किं ज्ञात्वा

1. कडा।

ताभ्यां तं प्रदत्तवान्, ततस्तपस्वी व्याजहार-'भवदैश्वर्यं वीक्ष्यैव मम चेतसि भोगवासना प्रादुर्भूता, किन्तु नटनट्योरुपदेशान्मम चेतो वैपरीत्यं लेभे, मया हि ताभ्यामयमेवोपदेशोऽग्राहि यत्प्रायोऽधिकं वयस्तपसा क्षीणमेव, किञ्चेदानीं स्वल्पमेवावशिष्टं, तदपि भोगवासनाभिः किं विनाशयानि?, अमुमेवोपदेशं गृहीत्वा-ऽऽभ्यां सर्वस्वभूतं निजैकमात्रं कम्बलमेवाऽऽर्पयम्। ततो नृपतिः कुमारमप्राक्षीत्-त्वया हि किं ज्ञात्वाऽऽभ्यां हीरककटकद्वयं ददे?, स चोवाच-'यदहं प्रत्यहं दुःखीभूतः, यतो भवान् मह्यं न किमपि व्ययार्थं दत्तेऽत एवाऽतीवदुःखीभूत्वाऽहं व्यचिन्तयम् कस्मिंश्चिद् दिने राज्ञे विषं दत्त्वा घातयिष्यामि। किन्त्वेतयोरुपदेशाद् मयैतदेव गृहीतम्-यद्राज्ञोऽधिकं वयस्तु गतमेव परन्त्विदानीं वार्धक्यमापन्नो हि कतिपयवर्षान्तेऽवश्यं मरिष्यत्येव, अतो जनकहत्ययाऽलम्-*'अस्माच्चैवोपदेशादहं हीरकवलयौ प्राददाम्।'* अथाऽन्ते राजकुमारिकामपि तथैवाऽप्राक्षीत्-त्वया किमर्थममूल्यो हारस्ताभ्यां प्रादायि?, साप्यवादीत्-'अहमिदानीं तारुण्यलावण्य-पूर्णाऽभवम्, भवांश्च द्रव्यव्ययभयान् मां न विवाहयति, मनोभवोऽधुना[1] मां विधूनयति। अतोऽहं कामप्राबल्यवशात् प्रधानपुत्रेण सार्धं गन्तुकामाऽभूवम्। किञ्चैतयोरेवोपदेशान् मया विचिन्तितम्-यदाधिक्येन राज्ञोऽवस्था तु गतैव, अवशिष्टाया अप्यन्तः कदाचिद् भविष्यत्येव, अतः स्वल्पदिनेभ्यो राज्ञो नाम किमर्थं कलङ्कयानीत्य-मूल्योपदेशो मया ताभ्यामेवोपात्तः, अत एव च मया बहुमूल्योऽपि हारस्ताभ्यामर्पितः। 'अयि पितृदेव! 'तयोरुपदेश एव भवज्जीवितं यशश्च जुगोप। अतो भवतापि तदर्थं कोऽपि सर्वोत्तमपारितोषिको देय एव। ततो भूपोऽपि सर्वेषां समीचीनमुत्तरमाकर्ण्य सम्यग् हृदि विचार्य च किमपि सारभूतं पारितोषिकं दत्त्वा तौ विससर्ज।

1. कामः ।

अथ मन्त्रिपुत्रेण सार्धं निजकन्यां विवाहयित्वा, राजकुमाराय राज्यं दत्त्वा, स्वयं च वैराग्यवान् भूत्वा निजावशिष्टमायुश्चाध्यात्मविचारे नियोजयामासेति शम्।

अयि विदुषां वरिष्ठाः! सर्वोऽयं मे प्रयासस्तेषामेवोपयोगी हितकृच्च स्यात्, ये गुणेष्वनुरागवन्तो गुणसम्पादनायाऽहर्निशं प्रयत्नवन्तश्च। ये च स्वस्य परेषां चाऽहितकृतो विघ्नमात्रसन्तोषवन्तः कृतघ्नाः कार्याऽकार्यविमर्शशून्या निर्गुणाश्च सन्ति, तेषां स्वभावपरिवर्त्तनाय तु शास्त्रकृतोऽपि न कमप्युपायं विदन्तीति। यथा हि –

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ।
व्याधिर्भेषजसद्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

अस्तु। अथेत्थं धनपालविदुषः सयुक्तिकमखण्डनीयं परिणामसुन्दरं सर्वोपयोगि चोत्तरं श्रावं श्रावं, सर्वे ते सभ्यविद्वांसो विद्वद्वरीयांसं तं धनपालपण्डितं धन्यवादास्पदं विदधुः। स विद्वज्जनगोष्ठिकाऽऽरामविहरणो नृपतिचक्रचूडामणिर्महाराजाधिराजो भोजभूपतिश्च सादरं ससन्मानं तं धनपालविद्वांसं महता पारितोषिकदानेन सच्चक्रे। इत्यलमतिविस्तरेण।

॥ व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्यायसंवर्द्धिता बृहद्विद्वद्गोष्ठी समाप्ता ॥

।। श्री गोडीपार्श्वनाथाय नमः ।।

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय स्वच्छाम्बरविहारिसुविहितसूरि-
कुलतिलकसर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-शासन-सम्राट्-परमयोगिराज
जङ्गमयुगप्रधानजगत्पूज्य-गुरुदेव-श्री-श्री १००८
श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वर-
चरणारविन्द-सेवा-हेवाक-व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय
श्री यतीन्द्रविजय (श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी) संदृब्धा

।। श्री हरिबलधीवर-चरित्रम् ।।

श्री हरिबलधीवर-चरित्रम्

प्रभुवरवीरजिनेन्द्रं, दयालुमभिनम्य यतीन्द्रविजयेन ।
हरिबलधीवरचरितं, क्रियते दयादर्शकं चित्रम् ॥१॥

अयि! विदाङ्कुर्वन्तुतरां नितरां, सुहृदयाः, सज्जनमहोदयाः! यदस्यामसारभूतायां जगत्यां भूरिशो धर्माः शास्त्रकृद्भिर्महर्षिभिर्भणिताः सन्त्येव सुतराम्, किन्तु तेषु 'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि' 'अहिंसा परमो धर्मः' 'सर्वेषु वै जीवदयाप्रधानम्' इत्यादि महतां महावाक्यैर्जीवदयाधर्मः कथित एव, स च कीदृशः? कर्हि कर्त्तव्यः? कथं कर्त्तव्यः?, इत्यादि जायमानायां, सुपृच्छायां, दृष्टान्तमन्तरा दार्ष्टान्तबोधस्याऽशक्यत्वादवश्यं किमपि दृष्टान्तं वक्तव्यमिति हृदि निधाय प्रकृते जीवदयाधर्मविषयिकां हरिबलधीवरकथामेव प्रब्रुवे तावत्। यामाकर्ण्यैव निर्दयोऽपि सदयो जायतेतरामेव। सा चेत्थम्-

अस्ति भूरिरजतकनकादिपद्मालयापरिपूरितं काञ्चनपुरं सुपुरम्। तत्र च सकलसपत्[1]ननृपतिसैनिकभीतिप्रदायको *वसन्तसेनो* राजा राज्यं कुर्वाणो निवसति स्म, तदीया च शच्[2]चीसुरूपा *वसन्तसेना*-नामधेया पट्टराज्ञी समजायत। अथ पुत्रादिरहितयोस्तयोर्बहुकालान्ते कदाचित् सकलमनोरथगुणसम्पन्ना *वसन्तश्री*नाम्नी पुत्र्येका प्रादुर्बभूव, यां तरुणपुरुषचित्तोन्मादकर्त्रीं निर्वर्ण्य तज्जनकेन वसन्तर्त्तु[3]मूर्त्तये तस्यै वसन्तश्रिये योग्ये वरे बहुगवेषितेऽपि योग्यः कथङ्[4]कारमपि नालम्भि।

1. शत्रुः । 2. इन्द्राणी । 3. कामदेवः । 4. कथम् ।

अथास्मिन्नेव पत्तने निजप्रकृतिभद्रः पयोजालप्रसारणदक्षः कश्चिद् *हरिबला*भिधो धीवरः प्रतिवसन्नासीत्, तस्य चानार्य-शिरोमणिः परिणामदुःखभावा *सत्या* नाम भार्या ततो *हरिबलो*-ऽहर्निशमुद्वेगत्वमापन्नः स्वप्नेऽपि शर्माऽलभमान आसीद्। यथाहि-

कुग्रामवासः कुनरेन्द्रसेवा, कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या ।
कन्याबहुत्वं च दरिद्रता च, षड् जीवलोके नरकानि सन्ति ॥१॥

अथ जातु हरिबलो नदीतीरे कञ्चन मुनिं विलोक्य 'नमस्कारो-ऽस्तु' इति व्यधात्। मुनिरूचे-भद्र! को धर्मो विज्ञायते त्वयका?, स चोवाच-यो वै मामकः कुलाचारधर्मस्तमेव विजानीमो न च धर्मान्तरं विजानीमः, अतः स एव धर्म एकाग्रचित्तेन समाराध्यते मयका। श्रुत्वैवं मुनिर्व्याजहार-यत् स धर्मस्तु कथनमात्रमेव, त्वं तमेव धर्मं मुख्यं मन्यसे, किन्तु नायं मुख्यो धर्मः। को नाम वै कुलधर्मः? इति निश्चेयं त्वया। यदीयो जनको दुर्भाग्यवान् दुराचारवान् दुर्विनीतो दासत्वेन गर्ह्यो हीनः कुलाचारसेवी च। यश्च तदीयो डिम्भः स किं विजानीयात्? सोऽपि तादृगेव कर्म कुर्यात्? किन्तु मतिमान् जनो नामुं कुलाचारधर्मं जानीयात् । किञ्च मुख्यो धर्मस्तु स एव यो जीवदयाधर्मविषयको भवेत्। योऽहर्निशं जीवरक्षकः स एव मनोऽभिलषितप्रदमन्दारद्रुमः[1]। यश्च पुमान् प्राणिनो हन्यात्, स शाश्वतदुःखभाग्भवतीति निश्चय एव। केवला जीवदया त्वनेकदुःखापसारिका, तथाऽनेकसुखप्रदायिका च। अतस्त्वं सुखावाप्तिमीहसे, तर्हि रे धीवर! जीवदयायां सोद्यमेन भवितव्यं त्वया। श्रुत्वैवं स धीवरः परां प्रीतिमावहन् मुनिं प्रोवाच-स्वामिन्! सेव्योऽयं दयाधर्मः, परं किं करवाणि, मदीयं मात्सिकं[2] कुलं, यथा रङ्कगृहे भोजनाऽन्योन्यं तथा धीवरगृहे जीवदयाऽन्योन्यमिति।

1. कल्पवृक्षः । 2. मत्स्याः पण्यं यस्य (इकण्)

तदीयां वाचमाकर्ण्यैत्थमाह मुनिः-यदि सर्वथा त्यक्तुं नार्हस्त्वं तर्हीत्थमवश्यमेव विधातव्यं त्वया, यत्पूर्वं यो मत्स्यस्तदानाये[1] समागच्छेत्, स जीवन्नेव हेयस्त्वया, यदसौ नियमः सुरीत्या स्वीकरिष्यते, तर्हि यथाऽम्भसां सेचनाद् न्यग्रोधाङ्कुरो विस्तारमापद्यते, तथा व्रतमयो वृक्षः शुद्धभावरूपजलसेचनेनानन्तातुलफलप्रदः। ईदृशीं मौनीं गिरं श्रुत्वा तन्नियमं सुयोग्यं मन्यमानो हरिबलस्तद्व्रतं सहर्षं स्वीचक्रे।

ततो निजात्मानं कृतार्थं मन्यमानो नदीगम्भीरजले नैजं जालं प्रसारयामास यदैव। तदानीमेव तन्नियमातुलफलप्रदर्शनायैको महान् मत्स्यो जाले समापतितः। अथ लोभसमूहं हात्वा जाले समागतं मत्स्यं तदानीमेव निजनियमपरिपालनाय मत्स्यगले डोरिकामेकां बद्ध्वा जले प्रचिक्षेप। क्षेपणान्ते च स एव मीनो जाले प्रसार्यमाणे पुनरपि समापतत्। दृष्ट्वैव स धीवरो हरिबलो भूयोऽपि तं जले विससर्ज। एवं यावद्वारं वारं जालोपरि जालं प्राक्षिपत्। परं तमेव मीनं विज्ञाय तत्स्थानं विहायाऽन्यत्र जालप्रसारणायोद्युक्तो बभूव। पुनरपि स एव मीनो जाले समायातः, पुनः पुनरेतादृग्दुःखमनुभवन्नपि किञ्चिन्मात्रं पश्चात्तापमनाप्नुवन् नियमं च स्वीयं दृढीकर्त्तुमापत्तावपि धैर्यमत्यजन् सन्ध्याकाले यावत्तमेवं मीनं जले सम्पातयति तावत्स मीनो मनुष्यवाचोवाच-अयि साहसिक! साहसात्त्वयि प्रहृष्टोऽहमतो मनोऽभिलषितं मां याचस्वेति। तदीयं वचः समाकर्ण्य हरिबलो विस्मयान्वितं इत्थमचकथत। यन्मत्स्यो भवंस्त्वं मह्यं किं दातुमर्हसि? स चोवाच-मा मां मत्स्यमेव विद्धि, लवणसमुद्राधिष्ठातृदेवं मां जानीहि। इदानीं तावकीनां दृढनियममर्यादां व्यलोकयम्। यतो भूयांसः सुपुमांसो व्रतनियमं स्वीकुर्वन्त्येव नहि, भूयांसो गृहीत्वाऽपि

1. तस्मिन् आनाये = जाल।

न पालयन्ति। किञ्च स्वीकृत्य ये परिपालयन्ति ते धन्याः। एतादृशो जगत्यां विरला एव। अतो हि त्वन्नियमदाढर्यं विलोक्यातीवाहं प्रहृष्टः। अतोऽभीष्टं वरं वरय? यदेव त्वं याचिष्यसे तदेवाहं दास्ये। अथ श्रुत्वैवं सहर्षो हरिबलोऽपि वरं प्राह-देव! 'यर्ह्येव मयि काचिदापत्तिः समापतेत् तदानीं ततोऽहं हाप्यः[1]।' अलमनेनैव सुवरेण, देवोऽप्यद उररीकृत्य वरं प्रदाय तिरोदधे।

ततो हरिबलो मत्स्यालाभात् स्वस्त्रिया भीतो नगराद्बहिः कस्मिंश्चिद् देवालये समागत्येत्थं व्यचिन्तयत्, यद् मयि शङ्काद्वयं समुपजायते, तयोः पूर्वं त्वहं जात्या धीवरः, अथान्यद्धीवरस्यापि सतो मम द्रागेव नियमफलावासिः तत्कथम्? यथा-चक्रवर्त्ती नृपोऽहर्मुखे पलाण्डुं वपेत् सायं चाहरेत्, तथैकजीवदयातो देवः प्रहृष्य मह्यं वचः प्रादात्। तद् यदि सर्वजीवेषु दयां कुर्याम् तर्हि कियन् मे फलं प्रादुर्भूयान्नाम। अतो धन्येषु धन्यतमः सः, यो जीवानुद्धरेत्। अहो धिङ् मां योऽहं सर्वथा जीवान् हन्मि, यदि कथङ्कारमपि मे जीविका निर्वाहो भवेन्नाम तदहं सुकृतविनाशिनीमिमां हिंसाविषलतां तदानीमेव परिजहामि। यो ह्यस्मिन्संसारे धर्मफलमद्राक्षीत्, निजप्रकृतिभद्रश्च स एव कल्याणभाक्। अथ यावद्धरिबल एवं विचिन्तयति तावत् किमाश्चर्यजनकमभूदित्याह-

अथ जातु राजपुत्री गवाक्ष उपविष्टाऽऽसीत्, एतर्ह्येव रूपेण मारोपमो[2] हरिबलस्तद्गवाक्षस्याधस्ताद् भ्राम्यन्निस्ससार। दृष्ट्वैव तं सा राजपुत्री, तस्मिन् सरागाऽजनि व्यचिन्तयच्च स्वीये हृदि-यदयं हरिबलो मामको भर्त्ता भवतु चेत्, मे मनोऽभीष्टसिद्धिः स्यादिति विचिन्त्य चेत्थं निजमनोऽभीष्टभावं सुदले विलिख्य तद्गन्तव्यवर्त्मनि तद्दलं प्राक्षिपत्। पतितं दलं विलोक्य व्यवहारिपुत्रो हरिबलो ह्युपरि व्यलोकयत्। तदानीं तयोर्दृष्टिमेलनं

1. हा+णिग् = छुडाने योग्य है। [कृत्य] प् आगम। 2. कामदेवोपमः।

जातं, पश्चात्सा राजपुत्री मन्मथवधूरूपा कामोत्पादिकौषधि-रिवाऽऽसीत्। एवंभूतां तां प्रेक्ष्य तयोर्मिथो रागप्राबल्यं समजायत, सङ्केतं च चक्रतुस्तौ - 'यत् कालीचतुर्दश्यां तिथौ द्वाववश्यं दूरदेशान्तरं गच्छेव।' राजपुत्री चोक्तवती-अहं कृष्णचतुर्दश्यां नक्तं कञ्चन व्याजं विधाय देवीदर्शनाय देवीनिकेतने समायास्ये त्वया च तत्र गत्वाऽवश्यं स्थेयम् इति सङ्केतं निश्चिक्यतुः। ततः कामरागाद्विनीतः शिष्य इव यद् राजपुत्र्याह-तन्मन्यमानो व्यवहारि-पुत्रो हरिबलो निजगृहमाव्रज्य सङ्केतदिवसं विज्ञाय समागते तद्दिने धीवरो हरिबलो देवालये समागत्य सचिन्तः सपीडः सुष्वाप। अथ *कर्मानुसारिणी बुद्धिर्भवतीति* स (व्यवहारिपुत्रः) निजचेत-सीत्थं बहु विचिन्तयामास- ''यदियं बाला मनोभवग्रहग्रस्ता[1], किञ्च नाहं कामग्रस्तः, बलवती स्त्री प्रच्छन्नकार्यकर्त्री भवति, साम्प्रतं च रात्र्यवसरः सोऽपि पापकर्मसाहाय्यकः पश्चान्मे सुखं स्यादिति केनाऽदर्शि? किं वाहमपराधकृत्स्याम्, मत्पित्रोश्च विप्रयोगः स्यात्, यदि भूपतिश्चावगच्छेत्, मामवश्यं सङ्घातयेत् इत्यादि बहु विमृश्य सत्यामपि बह्वभिलषितायां मनसि भूयसीं भीतिं मन्वानो पश्चात्स्वगृहे समाययौ। वणिग्जातौ स्वाभाविकी भीतिरेव। उक्तं च -

स्त्रीजातौ दाम्भिकता, भीलूकता[2] भूयसी वणिग्जातौ ।
रोषः क्षत्रियजातौ द्विजजातौ स्यात्पुनर्लोभः ॥१॥

अतो वै यः स भीकः स इह सौख्यभाङ् न स्यात्, परत्र च स्वात्महितकृतौ नालं भवेत्। तस्य चेदृक् क्व भाग्यम् यः पूर्णभाग्यो यस्य च तया सार्धं प्राग्जन्मसम्बन्धः स एव तां परिणयेत। अस्मिन्नेवावसरे धीवरो हरिबलोऽपि तद् देवीदेवालयमध्ये समाग-

1. मदनपीडिता । 2. भीरुता।

त्यैकान्तप्रदेशे सुखसुप्तोऽभूत्।

अथ सा राजपुत्री निजकार्यसंसाधनाय स्वपितृभ्यां कलह-मापादयन्ती पृथगेवावात्सीत्। पश्चात् सङ्केतितदिने नानाविध-रत्नाभरणवासोमुख्यवस्तुजातं सङ्गृह्याश्वमारुह्य द्वारमायाञ्चक्रे। ततः प्राग्द्वाररक्षकाय रत्नमुद्रादि समर्प्य कपाटाद्युद्घाटयाञ्चक्रे। देवीमन्दिरे च गत्वा निर्वाद्यं हर्षमुद्वहन्ती हरिबलमाह्वयाञ्चक्रे-अयि! अस्तीह कश्चित् पुण्यवान् हरिबलाभिधः। देव्या इव दिव्यालङ्कारभूषिताया घोटकाधिरूढायाः कुमारिकायाः सुधामयीं वाचमाकर्ण्य सोऽपि बहु हर्षं मन्वानः सविस्मयः सहर्षचेता मन्दिराऽधिष्ठितकन्या सन्तोषाय हुङ्कारशब्दं प्रोवाच। श्रुत्वैव सापि प्रियप्राणनाथ! झटित्येव सज्जीभूय समेतु? अद्य हि विदेशगमनाय सफलीभूतो नौ मनोऽभीष्ट इति तं संव्याजहार। अथ हरिबलो निजहृदीत्थं निरचैषीत्[1]-यन्मन्नामा कश्चिद् द्वितीयो हरिबलस्तु नास्ति यत्तदर्थं सङ्केत इति प्रतिभाति मे, किं च परिश्रममन्तरा स्त्रीप्राप्तिः[2], मां च प्रीत्याऽऽकारयति अतस्तया सह कुतो नैमि। पुण्योदया-देवैतादृशी घटना भवतीति मे निश्चयः। इत्थं बहु विमृश्य मन्दिरतो निर्गच्छन् तदाननप्रत्यक्षीभूयाग्रे चलितुमारब्धवान्।

अथ स धीवरो निजचेतसीत्थं विचिन्तयति-एतन्निखिलमेव केवलं जीवहिंसाऽकरणादेव। यथा तन्निर्वाहाय हिंसां विदधानो हि यस्तां विजहाति, स एव पश्चाद् दरिद्रोऽपि राज्यं लभते, तथाहमपि पूर्वं मीनवधाय जालोपरि जालं प्रसारयन् तमजहामत एतादृक् सुखमनुभवामीति। अथ हरिबलं गजाश्वरहितं प्रेक्ष्य सा राजपुत्री तमित्थमाह-कथमीदृशस्त्वं?, किं तावकं वासो वाहनादिकमपाहार्षीच्छुत्वैवं[3] स व्यम्राक्षीत्-इदानीं मे मौनाव-लम्बनमेव वरीयः, इति निश्चित्य हुङ्कारमात्रमेव व्याहार्षीत्। निजस-

1. निश्चितवान्। 2. न एमि। 3. अप+अ+ह+सीत्।

र्वद्रव्यविनाशी असौ, इति निश्चिकाय सा। अतस्तदर्थमनुशोचन् हुङ्कारमात्रमेवायमभिधत्ते, इति स्वीये हृदि विमृश्य तस्मै वासोलङ्कारादि परिधानार्थमर्पयामास। अथ तां सोऽभ्यधात्, यत्केनापि गणयितुमशक्य एतावान् मे पार्श्वे द्रव्यनिचयोऽस्ति। मद्विषये सर्वथा चिन्ताऽकार्या भवत्या, भाविनी खलु नौ मनोऽभीष्टसिद्धिः। यथा विमर्शी जनः स्वप्ने गतं धनं न शोचति तथा त्वं मदर्थं माऽशोचीरित्थं विचिन्त्य तेन सत्रा[1] विनोदार्थं प्रेमान्वितवचो विदधती सा यत् किमप्यभिधत्ते, तच्छ्रुत्वा विचिन्तयति सः, सर्वत्रैव मे हुङ्कारमात्रमेव फलदमिति विमृश्य भूयो भूयो हुङ्कारमात्रमेवोत्तरयामास। सापि शङ्कामदधाना स्वहृदि विचारयति-यत् किमसावज्ञः? उताहं[2]युः[3], यतो हुङ्कारमेव मुहुर्मुहुर्व्याहरति। यद्वा सरोषो मय्येव, किमर्थं मां सम्यग् न ब्रूते। किं च भूयोऽपि सा विचारयति-यतोऽयमुन्मार्गगन्ता[L]ऽतोऽस्य स्थाने कोऽप्यन्य एव नास्ति किम्? अस्य लक्षणाय (ज्ञानाय) नोपायान्तरं किञ्चिदपि, इत्थं शङ्कया व्यथितहृदया यावद् [4]धुरि संक्रामति तावद्धिमांशुद्युतिमेकं निजमनोऽनभीष्टदं कञ्चन पुमांसमद्राक्षीत्। निरीक्ष्य चैनम्, हा हेति शब्दायते स्म। वज्राघाततताडितेव बहुविधां व्यथां लभमाना सा राजपुत्रिका विचिन्तयते - हन्त! अहो धिग् विधातारं येनाहमुभयतो भ्रष्टीकृता, साम्प्रतं पङ्कपतितहस्तिनीवाहम्। यतः -

निदाघे हा! धातः प्रचुरतरतृष्णातरलितः,
सरः पूर्णं दृष्ट्वा त्वरितमुपपातः करिवरः ।
तथा पङ्के मग्नस्तटनिकटवर्त्तिन्यपि यथा,
न तीरं नो नीरं द्वयमपि विनष्टं विधिवशात् ॥

तथा मे पूर्वं निजपितृतो विप्र[5]योगो राज्यश्रीत्यागो लोकविरुद्धा-

1. सह। 2. अथवा 3. अहङ्कारी। L उद्धतगत्या गन्ता।
4. मार्गेऽग्रे गच्छति सति। 5. वियोगः।

चरणात्पूर्वोक्तपङ्कपतितहस्तीवाहमभवम्। किं बहुना मणिस्थाने मृदेव हस्ते समायाता। एतन्निखिलं स्वच्छन्दाचरणादेव समजनिष्ट। अतः स्त्री स्यात्पुरुषो वा?, यो वै स्वेच्छाचारी स चैतत् फलभाक् स्यात्। तत्रापि स्त्रियोऽतिशयेन, अतो दुर्मतेर्राशिं धिङ् माम्। अथवाऽगतिर्मे भाविनी, अहो यावज्जीवमहमतिदुःखाऽभवम्। हन्त! मृतिश्चेन्मे साधु। इत्थं भूरिदुःखवार्द्धिवीचिमग्ना[1] मृतिमीहमाना मार्गेऽचेतनीभूयापसत्[2]। स्वल्पसमये चोत्थाय सुस्थिरा कुम्भिन्यां[3] समतिष्ठत। इतो हरिबलो विचिन्तयति-यदेतया सत्रा गृहवासादिसुखाशा दुराशैव, इयं तु मां निर्वर्ण्य[4] कृशानुपतनोत्का[5] प्रतिभाति। अहो! किमत्र मया कार्यम्। देवो मद्व्रतनियमफलतो मे सहायकश्चेद्वरं स्यात्। इत्थं स्वीये हृदि बहुधा व्यचिन्तयत्। सापीत्थं विचारयति स्म-यद् गतपुंसः शुचाऽलम्, निजप्रशंसया नैजैव हानिः, अस्माद् यः शुच्यात्स मूढ एव, प्रादायि किलायं मे भर्त्ता दैवेन! अतोऽमुं विशेषतया निश्चिनुयाम्-यत्कोऽसौ, कास्य जातिः, किं चास्य स्वरूपं, केनादर्शि यदग्रेऽसौ भाग्यवान् स्यात्, यद्वाहमेव मन्दभाग्या पूर्वं किमपि न निरचैषम्। अतः पृष्ट्वामुं निश्चिनुयामेव, यावदित्थं विचारयति बाला तावत्खेऽशरीरा वागभूत्-

अयि कुमारि! समृद्धिस्पृहा चेत्त्वमेनमेवाङ्गीकुर्वीथाः। युवयोर्महानेवोदयो जातः, एतादृशीं देवगिरमाकर्ण्य निजहृदयजातागद्य-महानन्दमुपलभमाना सस्नेहा सनम्रा मधुरवाचा तमचीकथत्। पूर्वं शुष्ककण्ठा जाताऽतस्तृष्णया तं तोयमयाचत, सोऽपि द्रुतमेव गत्वा रात्रौ पयःस्थानं सङ्गवेष्याम्भः समानीय समपीपयत्। *प्रीतौ जायमानायां कष्टसाध्यो विधिः कष्टहेतुर्न प्रतिभाति*। अथ

1. समुद्रतरङ्गाः । 2. पत् नो पस आदेश (अद्यतनी)। 3. पृथ्वी। 4. दृष्ट्वा
5. अग्नि-पतनेन नष्ट उत्साहः यस्याः सा।

सा निजचेतसि विचिन्तयति-रात्रौ वेविद्यमानायां घनिष्ठेऽन्धसि अविदिताध्वनि गत्वा द्रागेव मदर्थं जलं समानयत् नहि स्वल्पोऽपि कालो व्यतीतः। ततोऽयं बलीयान् पराक्रमी साहसिकश्च। अथ सोऽपि व्यचिन्तयत्-यदवश्यं नौ कार्यं भावि, इत्येवं विचारयतो-स्तयोः कल्यकालः[1] समजनि। ततः सा कुमारी प्रभातकालं विज्ञाय हरिबलीयं सुमनोहारिरूपं ससुप्रसन्ना मुहुर्मुहुस्तदीयं सौभाग्यातिशयं चावलोक्य समभ्यधात्। यद्, अयि सुभग! अवसरोऽयं खलु नौ लग्नवेलायाः, अतो मां पत्नीत्वेनोररीकुर्याः, यतोऽहं पूर्वमव-धारितवती स चायमवसरो जात एवेति श्रुत्वैवं तदीयां वाचं स हरिबलो विचिन्तयति-'यदहोऽचिन्तनीयो नियममहिमा' इत्यादि बहुधा विमृश्य सहर्षो गान्धर्वविवाहेन हरिः श्रियमिव सकलशो-भाश्रियं *वसन्तश्रियं* परिणीतवान्। तद् दिनादेव *हरिबलीयः* पुण्यपद्मोदयो बोभवीति स्मेति। ततस्ततो विहरन्तौ कञ्चनैकं सुग्राममुपलभ्य तत्र गत्वा सलक्षणकं घोटकं चिक्राय। कतिपयांश्च दासीदासान् स्वान्तिके संस्थापयामास। यतः 'सति द्रव्यव्यये को नाम देहक्लेशादिकमुपसहते।'

ततः सदासादिकौ चलन्तौ भूरिदेशान् समुल्लङ्घयन्तौ क्रमशो लक्ष्म्या विशालं विशालपुरं समुपलभ्य शुभशकुनेन तस्मिन् सुपत्तने प्रविविशतुः। ततो गते कियति काले कस्माच्चिद् व्यवहारिपुत्रात्सप्तभूम्यावासं मूल्यतः संक्रीय तस्मिन् गृहे शुभमुहूर्ते स्थितिं चक्राते। ततो हरिबलो विचिन्तयति-'क्वाहं नीचवंश्यो धीवरः?, क्वासौ पुण्यवती राजपुत्री?, क्वेदं वित्तसामग्रीबाहुल्यं? क्व चाहं निर्धनो जनः? अस्तु सर्वमपि दैवयोगतोऽलाभि मया। अतः पद्मां प्राप्यापि किमर्थं न लक्ष्मीफलं लभेयाहम्।' इत्थं विमृश्य हीनदीनदुःखिजनेभ्यो बहुदानं प्रदत्ते स्म। अतस्तदीयं

1. प्रातः।

सौभाग्यातिशयं यशश्च सुविस्तारतामगात्। अथान्ते नगरे किंवदन्तीयं जाता-यत् कश्चनैको वैदेशिको राजपुत्रः समागात्, स चाखण्डं दानं देदीयते। महागुणवानुदारचेताश्च। यतो दानात् किं किं न बोभूयते खलु किन्तु सर्वमेव। तथाहि-

पात्रे धर्मनिबन्धनं परजने प्रोद्यद्दयाख्यापकं,
मित्रे प्रीतिविवर्द्धनं रिपुजने वैरापहारक्षमम् ।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सन्मानपूजाप्रदं,
भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो निष्फलम् ॥१॥

किंवदन्त्येत्थमाकर्ण्य तन्नगराधिपतिर्भूपतिः सबहुमानं हरिबलं सभायां समाकार्य बहुमानादिभिः सत्कृत्य निजान्तिके संस्थाप्य गोष्ठ्यादिकं विहितवान्। अथ हरिबलोऽपि तद्दिवसमारभ्य शाश्वतिकां राजसेवां कर्त्तुमारब्धवान्। 'यस्य हि पुण्योदयः स्यात् स सर्वमनोरथफलभाक् स्यात्'। अत एव स नृपतिर्हरिबलाय बहुप्रसन्नतामाप्य तदर्थं कामधुग् जातः। इत्थं जाते कियत्यपि काले स हरिबलो जातु व्यचिन्तयत्-यद्राज्ञा साकं नव्यासौ प्रीतिः, अतः कदाचिद् निमन्त्रयितव्यो नृपतिः, विचार्यैवं भूपतिं निज-गृहमानीय बहुभक्तिपूर्वकं भोजयामास। स च भूपतिर्भुञ्जानः पक्वान्नमिष्टादि समर्पयन्तीं हरिबलीयां भार्यां *वसन्तश्रियं* विलोक्यैवं कामातुरीभूय विमृशति स्म-यत्कथङ्कारमपि हरिबलं संमार्य क्वचित् क्षिपामि चेत् स्त्रीयं मदधीना स्यात्। अहो धिगेतादृशं कामातुरं जनमिति। अथ कुमार्गमापतन्तं कामातुरं राजानं तदीयः स कुमात्यो[1] भूपतिं कुमार्गादनिवारयन् राज्ञोऽभिप्रायमवगत्य सेर्ष्यः प्रैरयत्! हन्त! धिगेतादृशं मुख्यामात्यं येन राजाऽनर्थगर्त्ते पात्यते। अहो सत्यमेव -

1. कुत्सिता मति र्यस्य (मन्त्री))।

सर्वत्र सुलभा राजन्, पुमांसः प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य कुपथ्यस्य, वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१॥

अथ स राड् हरिबलमारणाय कुमतिमन्तं मुख्यामात्यमाह- यद् भोः! करणीयोऽस्ति मया सुताया उत्कृष्टविवाहमहोत्सवः, अतो वर्त्तते कश्चिदेतादृशः सत्त्ववान् पुमान्, यो लङ्कापुरीं गत्वा सकुटुम्बं राक्षसाधिपं विभीषणं समाकारयेत्। सभास्थितैस्तादृशमघटितं राजवचः समाकर्ण्य सर्वलोकोऽधोमुखीभूतः, नालं च कोऽपि राजसंमुखी भवितुम्। अथ दुष्टमतिः स राजमन्त्री राजानमित्थमभ्यधात्-स्वामिन्! सर्वभूपतिललामभूत! कीदृशो भावत्काः सेवकाः, यद् भावत्कं वचः श्रुत्वा सर्वेऽप्यसमर्था इव कृतनीचैर्मुखा बभूवुः। न कोऽपि संमुखोत्तरदायी, किं चाहं जानामि यश्चैतादृक्कार्ये सामर्थ्यवान् स च साहसिकशिरोमणिर्हरिबल एवेति। स च भावत्कं कार्यमवश्यं विधास्यतीति मे विनिश्चयः यतो भवता सम्मान्यः, मान्यो, भवांश्च तेनापि, सत्यभूतां तदीयां वाचमवधार्याभाणि राज्ञा स हरिबलः। लज्जावशीभूतः सोऽप्योमिति स्वीचकार। ''यतो हि सलज्जाय पुंसे वाक्यमेवोन्नतादुन्नतं कर्म, त्रपावशीभूतो जनोऽकार्यमपि कार्यमङ्गीकृत्य स्वीयमरणमपि स्वीकरोत्येव। ततः स धीवरो हरिबलो निजगृहमेत्य तदीयं वचो निजभार्यायै वसन्तश्रिये संश्रावयामास। श्रुत्वैव सविषादा सा राज्ञो दुरभिप्रायं विज्ञाय स्वीयं भर्त्तारं हरिबलं संबोधयामास- प्रियप्राणनाथ! राजगृहगमनाद् भवतः कीदृशोऽनर्थोऽजनिष्ट। भवदनर्थायैव सर्वमेतद्विहितं तेन। अतो बहु विचार्य भवता विधातव्यं कार्यमेतद्यतोऽविचारितं कार्यमनर्थायैव भवतीति। शास्त्रादिना श्रूयते -

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ।

एतादृक्कार्यनैपुण्येन किं? एतादृग् लज्जयापि किं? येन यया वा स्वीयैव हानिः संपद्येत। नेदानीं किमपि जातम्, अतो राज्ञे कञ्चन व्याजं[1] दत्त्वैहि[2]। एवंभूतवसन्तश्रीमुखनिस्सृतवाचमाकर्ण्य स हरिबलोऽप्याह-प्रिये! मा भैषीः। धर्मोऽयं खलु मतिमतां, यत् साहसिको जनः प्रतिज्ञां कृत्वा पुनः पश्चात् पादं मा विदध्यात्। प्राणा व्रजेयुः, किं च प्रतिज्ञाभङ्गो मा भवेत्। यथा चन्द्रो विपत्तिं प्राप्यापि मृगलाञ्छनं नैव जहाति' अतोऽमुष्मै कार्यायावश्यं गन्तव्यं मया। यद् भवितव्यं तद् भावि मह्यं, मदीया चिन्ता नैव किन्तु त्वदीयैव। 'यथा सिंहो हरिणीं[3] हरेत्तथा त्वां राजेति' हरिबलीयां वाचमाकर्ण्य सहर्षिका सा वसन्तश्रीर्निजभर्त्रे शुभमीहमाना तद्वियोगात्सबाष्पनेत्रा रोमाञ्चितगात्रा व्याहरत्-शुभो भवते भूयात् पन्थाः, कार्यं संसाध्य शीघ्रमेवागन्तव्यं, भवता नैव शोच्याहं, नीतिरसौ, 'यदुत्तमा निजजीवं पातयेत् किं च निजसदाचारशीलं सर्वत्रैव संपालयेत्' किन्त्वेतदेव भवन्तं वच्मि स्वीया रक्षितव्या अवश्यं प्राणाः। अविचारितं कर्म कृत्वा पतङ्गवन्न मर्त्तव्यम्। यतो हि -

जीवन् भद्राण्यवाप्नोति, जीवन् पुण्यं करोति च ।
मृतस्वदेहनाशस्य, धर्माद्युपरमस्तथा ॥१॥

प्राणेश्वर! भद्रपुरुषाय शिक्षेयं खलु स्त्रियाः किं च भवति, प्रेमाधिक्या न स्थिरायते मे चेतः। अतो भवकन्तं[4] भणाम्येव। इति सुधामयीं प्रेमवतीं तदीयां वाचं पायं पायं स हरिबलो दक्षिणस्यां दिशि प्रातिष्ठत[5]। केवलं सत्त्वरूपसुहृदा सह भूरिग्रामदेशविकटाटवीः समुल्लङ्घयन् स समुद्रान्तिकमायातः। गत्वा च तत्र बहुभयानकं

1. छल, बहाना। 2. आ+इ+हि। 3. मृगी। 4. क स्वार्थ। 5. प्र+स्था (आत्मने)।

वार्द्धिं दृष्ट्वैव सचिन्तचेतसा चिन्त्यते स्म। यत्कथं विलङ्घ्योऽसौ वार्धिः? कथं वा गम्या लङ्का, न चात्र वर्त्तते काचन नौः, कार्यसाधनमन्तरा कथं पश्चात्पादनिधानं, यतोऽहं धीवरस्तत्रापि इयती मे महती प्रतिष्ठा! अहो! इदानीं कार्याकार्यविमूढस्य मे को वा हितकृत् सहाय्यकः स्यात्। यदधुना मदर्थमुच्चप्रतिष्ठानदायी मद्धीवरत्वापहारी यो देवः स चैतादृक्काले मम साहाय्यकश्चेद्वरं स्यादिति समुद्राभ्याशे[1] क्षणं विमर्शं विमर्शं हृदि धैर्यं चावलम्ब-मवलम्बं हे जीव! कातरत्वे कार्यसिद्धेराशा दुराशैवेति भूयो भूयो विचारं कारं कारं मदीयं मरणं स्याज्जीवनं वा यद्भावि तद्भावि, मृतिरप्येकवारमवश्यैवेति, अवधारमवधारं सहसैव वार्द्धौ झम्पा-पातमकरोत्। अथ यावत्तेन झम्पापातो विधीयते तावत् वार्द्ध्यं-धिष्ठातृदेवः पूर्वप्रदत्तवरप्रभावतस्तदन्तिके समागत्य सप्रणामं तमूचे-यत्त्वन्नियमफलप्रभावात्तुष्टोऽहं तावकं साहाय्यं करिष्ये, इति तदीयं वचोऽभिज्ञाय सोऽप्याह-यन्मया लङ्कापुरी गन्तव्या-ऽस्तीति। सोऽपि श्रुत्वैव तदीयं वचोऽङ्गीकृत्य हरितुल्यं हरिबलं शेषनाग इव स देवस्तं स्वीयपृष्ठे समारोप्याम्भोधिमार्गे संचलन् वायुदेववदल्पकालेनैव तं लङ्कोद्याने समपातयत्।

अथ हरिबलोऽल्पकालं विद्याधरवनानि, सर्वर्तुफलानि, तत्रत्यद्रुमांश्च विलोकयन् प्रतिस्थाने परिभ्राम्यन् सुवर्णमय्यां लङ्कापूर्य्यां प्राविशत्। स च लङ्काश्रियं तत्रत्यकौतुकांश्च संप्रेक्ष्य तृप्तिं नापत्[2]। अत्रान्तरे किमपि कनकमयं सुभवनं समपश्यत्। तच्च कीदृगासीत्-क्वचिन्मेरुसदृशा घटिता स्वर्णराशिः, क्वचित् पाषाणतुल्या रजतराशिः, क्वचिद्धान्यराशिवन्मणिराशिः, क्वचि-च्चणकान्नराशिवत्प्रवालराशिः, क्वचित्स्फटिकरत्नराशिः, क्वचि-न्मरकतादिमणिराशिः, क्वचिन्नीलरत्नराशिरित्यादिविविधमणि-

1. समीपे। 2. आप (अद्यतनी)।

राशीन् व्यलोकयत्। प्रज्वालनार्थं स्थापितां काष्ठराशिमिव सुगन्धिमयीं चन्दनराशिं क्वचित्, क्वचित्सबहुमूल्यदेवदुष्प्राप्याम्बरराशिं, क्वचिच्छीतकालोचितरत्नकम्बलसदृशं बहुजात्यूर्णवस्त्रकम्बलराशिम्, क्वचिन्मृत्पात्रमिव मणिकनकभाजनानि, क्वचिद्बहुविधयोग्यासनतल्पादि दर्शं दर्शं बहुशः साश्चर्यो जातः। अथैतादृक्समृद्धियुतं गृहं निर्जनं कथमिति विचारयन् गृहान्तराले प्रविश्य सौभाग्यादिगुणयुतां सुरूपवतीं नवयौवनां मृतप्रायां भूमौ शयानां काञ्चन सुकन्यां दृष्ट्वैव सविस्मयो व्यचिन्तयत्-अहो! को जानीते दैवगतिं, क्व बहुसमृद्धिपूरितं गृहं, क्व चेयं शवतुल्या कुमारीति बहुखेदमावहंस्तत्र सुधापूर्णां तुम्बिकामेकां प्रेक्ष्य ततोऽमृतं किञ्चिन्निस्सार्य तच्छरीरे पातितवान्। ततोऽमृतस्पर्शादेव देवशयनोत्थितेव झटित्येवोदतिष्ठत्। ततोऽग्रे हरिबलं दृष्ट्वैव कृतप्रणामा सप्रेमाह-अयि सुजन! यत्त्वयाहमुपकृता, अतो निश्चिनोमि 'यदुत्तमो भवानिति, तथापि कस्त्वं, कस्तेऽत्रागमनहेतुः? क्व च निवासीति सर्वं स्वीयं वृतान्तमावेदय?' ततः स ब्रूतेयदास्ते विशालाधिपति-*मर्दनवेग*नामा राजा, तदीयोऽहं सेवको हरिबलनामा च, तत्रत्यराजस्यातिप्रियो लङ्काधिपति*र्विभीषण*स्तदर्थं निमन्त्रणदानाय संप्रेषितोऽहमत्र, किंचाहमहिंसाप्रतापतो देवेन मत्स्यरूपं धृत्वात्र पातितः। अथ स्वकीयं वृत्तमाख्याहि, श्रुत्वैव तदीयं वचो हर्षमावहन्ती कुमारिका नैजं वृत्तमाह-यद्राज्ञो विभीषणस्य पुष्पबटुकनामा मालाकारः, स च मे पिता, किन्तु परिणामहीनो दुष्कर्मकारी। *कुसुमश्री* नाम्नी चाहं तस्य तनया। विद्याधरविषयहारिकां[1] विषधरभोगिमणिमिव मां विलोक्य कदाचिन्मे पिता सामुद्रिकशास्त्रज्ञं कञ्चन दैवज्ञमाकार्य स पृष्टस्तेन। 'कीदृशं पतिं लप्स्यते मे तनया?' लप्स्यतेऽनया राज्याधिपतिभर्त्ता। इति श्रुत्वा मत्पिता

1. मनोहरा।

राज्यलुब्धोऽनभिज्ञ इव मत्पाणिग्रहणाय शिथिलमना बभूव। सत्यमेव लोभवशीभूतो जनोऽन्ध इव किं किमनर्थं न विदधाति। तथाहि -

रत्तिंधा दीहंधा अच्चंधा मायगाणगोबंधा ।
कामंधा लोहंधा इमे कमेणं विसेसंधा ॥१॥

अतस्तदीयमेतादृग्दुष्कर्माभिज्ञाय मे जननी तथाऽन्यस्वजन-परिजनो बहूद्वेगतामाप्य सर्वो जनो मम तातं पथिकः स्मशानद्रुम-मिव समजहात्। स च दुष्टकर्मकृच्छ्वपच[1] इव मां प्रतिदिनं दुःखयति, अतिदुष्कर्मकारी सोऽत्र विद्याधरगृहं निर्मायावतिष्ठते। यदा च दुष्कर्म विधातुं कुत्रापि गच्छति बहिस्तदा मां मृतप्रायां कृत्वा व्रजति, पश्चाच्चागत्य पीयूषबिन्दुभिः स चेतयति, दुःखभरं दृष्ट्वा मरणोद्यता भवामि। यतोऽनार्यकार्यान्मृतिरेव वरीयसी, इदानीं त्वत्तो मे प्रार्थनैका त्वं चावश्यं मनोऽभीष्टफलदायी कल्पवृक्ष इव सामर्थ्यवान्। अतस्त्वं त्वदनुरागिकां मां पत्नीत्वे-नाङ्गीकुरु। मम पूर्वपुण्योदयादेवेह ते समागमः। मम जीवनदान-स्यासावेव हेतुः। आस्ते चेदानीं सुलग्नवेलाऽतो विलम्बं मा कुर्याः। इत्थंभूतकन्यावचः समाकर्ण्य हरिबलो विचारयति। सर्वमदो महत्त्वं केवलं जीवदयाया एव। यतो देवाङ्गनेव सौन्दर्ये विद्या-धरीवेन्द्राणीं तिरस्कुर्वतीयं कन्या विद्याधरमपहाय मामेवा-ङ्गीकरोति। अतो मे महद्भाग्यं, मयि प्रसन्नो देवः। इत्थं बहुशो विमृश्य तदीयं वचः स्वीकृत्य पाणिग्रहणमकरोत्। ततः स्नेहं दर्शयन्ती सा कुमारी तमेवमाह-अयि प्राणेश! यदि जीवनेच्छा स्यात्तर्हि हेयमवश्यमदो गृहं, इहावासोऽनर्थकर एव, यदि पुष्पबटुकोऽभोत्स्यत्[2]तर्हि बह्वनर्थं व्यधास्यत्। इति स्वचित्ते निश्चित्यातः

1. श्वपच = चण्डाल। 2. बुध् (क्रियातिपत्ति)।

स्थानात् क्वचिदन्यत्र स्थेयं, विभीषणाय निमन्त्रणमपि रुन्धि, यतो विद्याधरेन्द्रः कुत्रापि स्वीयं स्थानं नान्यत्र कुर्यात्। तावक-मिहागमनं जातमतो निमन्त्रणमपि जातमेव। पश्चाद् विश्वासार्थं कुमारी गत्वा राज्ञश्चन्द्रहास खड्गमानीय हरिबलायार्पयत्। समर्प्य चाह - खड्गतोऽस्माद्बलवानपि रिपुः साध्यो भवत्येव, तद् बुद्ध्वा चमत्कृतो हरिबलः खड्गं कुसुमश्रिया गृहसारभूतानि सुवस्तूनि सुधातुम्बिकां च समादाय योगीन्द्र इवाद्भुतशक्तिर्लङ्कातो निर्गत्या-निमेषदृष्टिभूतवृषभमन्दिरे सन्तिष्ठमानौ शिवाविव स देवो वृषभरूपं धृत्वा द्वावपि निजस्कन्धे समारोप्याध्वनि बहुकौतुकं दर्शयन् विशालापुरीवने समुत्तारयामास। अथ यदा हरिबलो निजगृहाल्लङ्कां जगाम; तदानीं तद्गृहे किं किं जातमिति वर्ण्यते-

स कुटिलमतिर्भूपतिः सविकारो हरिबलीयां स्त्रियं ग्रहीतुमेव दास्यादिभिः सह तद्गृहे कुशलप्रश्नाय तस्याः प्रसादाय च नवानि शोभनानि वस्तूनि प्रेषयति स्म। अथ कदाचित्सा हरिबलस्त्री 'किमर्थं मे नवानि सुवस्तूनि प्रेष्यन्ते राज्ञेति दासीं पप्रच्छ। राज्ञा पूर्वमेव प्रतिबोधितास्ता दास्यो न विज्ञायते त्वया तावकीनः पती राज्ञः प्रसादभाजनं, राज्ञा त्वदर्थमेव प्रेषितानि, अतस्त्वदु-चितकार्याणि राजैव विदधाति' इत्थमुत्तरयामासुः। किं च सा वसन्तश्रीः राज्ञो दुरभिप्रायं ज्ञात्वापि राजप्रेषितसर्ववस्तुजातं स्वीकृत्य 'राज्ञो मयि महती कृपेति' दासीर्मधुरवाचोवाच। स च दुर्मतिः कामान्धो नृपतिः प्रतिदिनं नवं नवं वस्तुजातं प्रेषयतीत्थं बहुकालं व्यतीयाय। अथ कदाचित् कामवशीभूतो नृपो दासी-भिर्वसन्तश्रियं समवेदयत्। 'मया तव भर्त्ता कपटं विधाय लङ्कायां प्रैषि, अतो मां त्वं भजेः। अहो यस्य कामवासना वर्धते स कमनर्थं विधातुं न शक्नोति!' अथ दासीमुखादेतादृग्वचनानि श्रुत्वा श्रोत्रे समुत्पन्नबहुव्यथेव तद्वचोऽसहमाना कथञ्चिद् धैर्यमवलम्ब्य

कष्टवार्द्धिं तरितुं बाढं[1] नवा बाढमिति किमपि दासीर्नाह-ततस्ता दास्यो राजान्तिकं गत्वा सर्वमुदन्तमवोचन्[2]। तेनापि स्वीये हृदि विनिश्चितं, यत्तया नेति नोचे, अतो विज्ञायते साऽवश्यं मे स्वीकृताशयाऽभूदिति बहुधा विमृश्य प्रमुदितमनाः कामातुरः पुष्पधन्वनो[3] धनुरिव स रात्रौ चौर इव हरिबलगृहमाजगाम। अतिकामातुरो नृपतिर्वसन्तश्रियं दृष्ट्वा परां प्रीतिमापत्। अथ पतिप्रिया सती, हरिबलप्रिया, नैजं विषादमन्तर्गोपयन्ती, राजानमालोक्य युक्तायुक्तं वचो विदधती, ससंभ्रमाऽऽसनादिभी राजानं सम्मान्यावोचत्-यद् भवदागमनान्मे महान् हर्षोऽजनीति। श्रुत्वैतत् स नृपतिर्बहु प्रजहर्ष। पातिव्रत्यान्विता सा मनोवचनकायादिभिः स्वशीलरक्षणायासतीवाऽऽचरतीति साधारणेयं जगतो दशा। अतः साप्यसतीवाऽऽचचार। स च स्वात्मानं बहु कृतार्थं मन्यमानस्तामित्थमाह-यदयि वसन्तश्रि! त्वदाकारणाय मेऽत्रागमः। अतो मया साकं शीघ्रमेव व्रज। यथा कनकमन्तरा रत्नं न भाति तथा त्वामन्तरेण मेऽन्तःपुरं न भाति। इत्थं श्रुतनृपतिवाग्जाला जातान्तर्बहुरोषा सा युक्त्या तं नृपतिं सम्बोधितवती-राजन्! यदात्थ[4] तद्वरं हितकृत्सत्यं च। परं मद्गृहचिन्तको मद्भर्तृस्वामी भूत्वा नार्हस्येतादृशं वचो वक्तुम्। यावत् खलु सूर्योदयस्तावच्चन्द्रप्रभायाः प्रकाशं को नाम समीहेत। श्रुत्वैवं स विहस्याह त्वदर्थमेव खलु तव स्वामी मारणाय गहनसङ्कटे प्रेषितो मया। ततः स किं जीवन्नेव समायिष्यते, किं समुद्रपतितो जीवो जीवन् समायते? अथ जातु प्रतिज्ञां समुज्झित्य समायेत जीवन्नेव, तदाहं घातयिष्यामि केनापि व्याजेन तम्। अहो धिगेतादृशं कामिनरं यो गोप्यमपि निजाभिप्रायं वदत्येव। तथाहि-

1. सुन्दरं, तथास्तु। 2. वृत्तान्तः। 3. कामदेवस्य।
4. बू २.ग.पर. द्वि.पु.ए.वर्तमान।

कुवियस्स आउरस्स य, वसणासत्तस्स आयरत्तस्स ।
मत्तस्स मरंतस्स य, सब्भावा पायडा हुंति ॥१॥

अयि चन्द्रमुखि! यद्दिने भोजनार्थं त्वद्गृहे समायातस्तद्दिनात्त्वदीयं मनोहारिरूपयौवनलवणिमादि[1] दृष्ट्वैव कामाग्निपीडितोऽभवम्। सुन्दरि! मदीयगात्रं दन्दह्यते, शरीरावयवाः सव्यथा बोभूयन्ते, श्वास उष्णो निस्सरति, जिह्वा शुष्यति, कण्ठः शुष्यति। अहं च निरुत्साही जातः, मह्यं नानाविधाः क्रीडा अपि न रोचन्ते। अखिलं वसनभूषणादिकं सारभूतमसह्यं प्रतिभाति। बन्दिजनैस्सार्धं कीदृशमपि गोष्ठ्यादिकं न रोचते। मन्दबुद्धिश्चाहं जातः। यावदेकं किमपि वस्तु स्मरामि, तावद्द्वितीयं विस्मरामि। अहर्निशं कालवत्प्रतिभाति। राजनगरमधिवसामि, उत वनं व्रजामि। यर्ह्येव[2] प्रव्रजामि, तर्ह्येव त्वदाकृतिं पुरः पश्यामि। अयि वल्लभे! नक्तं तव मनोहरं नाम संस्मरन् तल्पे इतस्ततो भवन् वसन्तश्रीः का वसन्तश्रीः, अहो सैव वसन्तश्रीरित्यपूर्णनिद्रात एव समुत्थितः। इत्थं प्रतिक्षणे तावकं नाम संजपन् सोन्मादो जातः निजराज्ञीनां हास्योऽभवम्। प्रिये! स्थितेरस्यास्त्वमेव मुख्यबीजमतो मयि दया कार्या। कामज्वरार्त्तस्य मे रोगरोगिंतरोगिणो[3] भिषग् भूत्वा प्रेमौषधिं पाययित्वा जीवय माम्। तावकं शीतलाङ्गं समालिङ्ग्य सशीतलमना भविष्यामि, अयि कमललोचने! सकलसौन्दर्यसदने! अद्य नौ नवो भाग्योदयस्त्वदधीनः। प्रिये! तवैकमधुरवचोऽखिलं राज्यादिकं तावकीनमेव। मदीयमनोहरहर्म्यामूल्यवसनाऽलङ्कारबहुविधसुरत्नजटितस्वर्णहस्त्यश्वादिप्रधानराजपुरुषदासीदासभृत्यादिनिखिलवस्तुजात[4]ं त्वदायत्त[5]मेव। अद्यारभ्य तुभ्यं पट्टराज्ञीपदं समर्पयामि, यदि चैतादृशो विचारः स्यात्त्वयि। यदद्य प्रसन्नो मयि मामेवं

1. लावण्यम् । 2. यत्र, यदा। 3. रोगेण रोगितस्य रोगिणः।
4. समूह। 5. अधीन।

वक्ति, पश्चाच्च किं ब्रूयादित्यादि शङ्कान्वितहृदया चेद्विनष्टशङ्का भव। किं बहुनाऽद्यारभ्य प्रतिज्ञायते खलु मया। यद्यावदस्मिन् देहे मम जीवनं तावत्तन्निदेशतो मदनवेगितोऽसौ क्षणमात्रमपि त्वत्तः पृथग्भूय नैव वितिष्ठेत! इत्थं वाचं समर्प्य सकुमतिं भूपतिं युगपत्करं प्रसारयन्तं विलोक्य विचारसागरमग्ना हारिबली-भार्या राजवशं गताऽधः पश्यन्ती किमपि विचारयन्ती निःश्वासान् त्यजन्ती दृग्भ्यां बाष्पं पातयन्ती सा वसन्तश्रीः सकरुणं विदेशिनं निजं प्रियपतिं ध्यायन्ती विचारयति-प्राणनाथ! तव विदेशप्रेषणेऽसौ दुर्मतिर्नृपतिरेतद्दुःखे सङ्केतमन्तरा किमन्यत्स्यात्, इह चाहं वैदेशिकी को मे चात्र साहाय्यवान्, भूपतिश्चायं दुर्मतिः, पतिरहितायां निर्बलायामबलायां मयि छद्मनाऽनुचितं कार्यञ्चिकीर्षति, शीलं च मे चिखण्डयिषति मनागपि तस्य नाऽऽयाति व्रीडा। ततः साब्रवीत् अहो! धिक् ते राज्यादिकं, किं मे प्रयोजनं तेभ्यः, नेच्छामि ते पट्टराज्ञी भवितुं, किं कर्त्तव्यानि मया ते रत्नवस्त्राभूषणस्वर्णानि। क्षणभङ्गुरेऽस्मिन् देहे न मे वित्तेच्छा काचित्। अखण्डितं मे शीलं स्यादेतदेव हीच्छामि। रे पापात्मन्! न सोढुं शक्ता ते दुर्वाचं, स्वमार्गमवलम्बय? यदिह यथाऽऽयातस्तथा व्रज? यतोऽहं क्षत्रियवंशजा, खण्डयामि तेऽमुमखर्वगर्वं[1] क्षणादेव। किं च, किं कुर्याम् जीवहिंसया बिभेमि, इत्याकर्ण्य राजाऽवदत्-सर्वमदः साधु, किन्तु मादृशो नरपतिस्त्वादृशीमबलां प्राप्य राज्यादिकं किं कुर्यात्? अत एव प्रिये प्रिये! इति बहुशः समाह्वयाम्यतो न कार्यो लम्बो विलम्बः, शीघ्रमेव व्रज, गच्छामीति ओम्, नो वा किमप्युत्तरय, कीदृशी ते मतिः, न जानासि त्वं यत्त्वमिह केवला तावकीनश्च पतिः किं जीवन्निह समायास्यति? को नाम जानीयात्स महोदधौ पतन् कदा मृतः स्यात्, का नामैतादृशी ह्यनाथा स्यात् या

1. अत्यन्त।

पृथ्वीपतिं मादृशं पतिं प्राप्य सनाथा न स्यात्। न शोभते ते मृगनेत्रायाः शुभेऽस्मिन् कार्ये चारुचक्षुषोर्बाष्पधारणम्। त्वं मूर्खमेव यदलमतिशुचा व्रज व्रजेति जल्पसि? बहिरास्ते च मे स्यन्दनः। अद्यारभ्य मच्छयनागारमागत्य मनोऽभिलषितां स्वेच्छां पूरय? सुखानि भुङ्क्ष्व दुःखाद्वा प्रपञ्चान्मया तावको भर्त्ता विदेशे प्रैषि, नो चेत्प्रत्यक्ष एव तव भर्त्तुश्शिरश्छेदनं कारयेयं चेत्को नाम मामवरुन्धीत, त्वां च स्वशयनागारे संस्थापयेयम्। अतो मे वचोऽङ्गीकुर्याः। न हि कोऽपि लाभः खलु बहुवादविवादे। त्वं च मतिमती तावकं च किं ध्येयं श्रेयस्तद्विचारय। स च हरिबलः किं कुर्यात्, तदपेक्षया रूपगुणादिभिर्न्यूनोऽहं किं? मदनवेगवेगितानां कामिनीनां कामवेगशान्तावनभिज्ञोऽहं किम्? त्वद्भर्त्रपेक्षया कामशास्त्राभ्यासेऽपक्वोऽहं किम्?, अतः प्रिये! मे मन्दिरमेहि। निखिलमनोरथैः पूरिता स्याः, मच्छयनागारशोभनां शोभां विलोक्यैव देवालयं तुच्छं मंस्यसे। वसंतश्रीर्वसन्तर्त्तौ मादृशेनैव पुंसा शोभते। अहो! निन्दनीयः खलु विधिः यत्प्रतिकार्येषु तस्य मौर्ख्यमेव दरीदृश्यते, कियती चास्याऽपूर्णता। नो चेन्निर्धनायायोग्याय हरिबलाय रत्नमयीं वसन्तश्रियं समर्पयेत्। रत्नादिकं किं लोहपात्रे सुशोभते। रत्नस्थानं तु स्वर्णादिकमेव। एवं चेत्कश्चिन् मूर्खो जनो रत्नादि लोहपात्रादिषु पातयेत्, सुज्ञो जनस्ततस्तन्निस्सार्य सुस्थान एव योजयेत्।

अथ निजभर्त्रयोग्यगर्हामसहमाना सा वसन्तश्रीरूर्ध्वमुखी मुखे लोहरक्ततां प्रदर्शयन्ती कोपाद्धृदयं कम्पयन्ती स्वगात्रं चोष्णं कुर्वती समभ्यधात्-राजन्! वचनान्तरं विवक्षुश्चेद् ब्रूहि। किन्तु त्वां सत्यं ब्रवीमि-इत आरभ्य मामको भर्त्ता मत्पार्श्वेऽनिन्दनीय-स्त्वया, कीदृशोऽपि स्यात् सुरूपो वा कुरूपो वा गुणी स्यान्निर्गुणी वा, धनी वा स्यान्निर्धनी वा। क्षणभङ्गुरेऽस्मिञ्जगतीतले मदीयं

स एव सर्वस्वम्। राजाह - सर्वस्वं चेत्ते कुत्रास्ते। स तु कदैव मरणं प्राप्तवान्। यच्च जगतो बहिर्वस्तु, यच्चाऽसंभवं तत्सर्वं नैष्फल्यमेव व्रजति। 'विज्ञो जनो गतवस्तु नैव शोचति।' अतो मिथ्यावचोऽपहाय मच्छरणमेहि, कर्त्तव्यं चैतत्तावकीनम्। नो चेच्छिरो धृत्वा सहसैव मे भटास्त्वां मच्छयनागारं प्रापयिष्यन्ति। न हि कोऽप्यत्र ते साहाय्यवान्। तत्र हि मदिच्छाधीना भविष्यसि। यतस्ते भाविकालो वरीयान् स्यात्तद्विधेहि। अथ कठिनविपत्तिवार्द्धौ निमज्जन्ती, साऽनाथाऽबला, परदेशगतं, निजपतिमनुशोचन्ती, दुष्टभूपतितो मे शीलरक्षणं कथं भवेदिति बहुशो विचिन्तयन्ती, किञ्चिदूर्ध्वमुखीभूय राजानं विलोकयन्ती, मन्दं मन्दं जहास। हसन्तीं तां विलोक्यैव सोऽपि विकसितमना बभूव-अहो चिरकाला-द्वारिताया मे वाञ्छाया अद्य पूर्त्तिर्जातेत्याशयाऽधीरो भवन्नाह यत्स्त्रीजातिः स्वभावादेव चञ्चला भवतीति निगद्य भद्रे! मद्रथे समारुह्यतामिति यावत्तत्करं ग्रहीतुं समुत्तिष्ठति तावत्स्नेहवचोभिर-भिधत्ते स्म सा-राजन्! व्याकुली मा भूयाः। इदानीं व्रज, नाहमेतादृशी किलाऽधमा नारी या स्वीयं शीलं जहामि सहसैव। अद्यारभ्य मासं यावन्मद्भर्तृकुशलादिकं न लप्स्ये चेत्त्वामवश्यं प्राप्स्यामि। ततः कामातुरः सोऽपि व्यचिन्तयत्-कुत्राऽस्या भर्त्तृलब्धिः[1] स तु कदैव मृतो भवेत्? कुतः समागमनं तस्य मासैकावधिस्तु सहसैवान्तमेष्यति। मासान्ते चागमनाय वचनं प्रददात्येव। तदर्थमुद्यमादेर्वैयर्थ्यमेव[2] बाढमिति[3] समभिदधानो निजकार्यसिद्धिप्रहृष्टः सहर्षं निजगृहं समागात्।

अथ कामान्धमदनवेगवेगितनृपतिगमनान्ते निजचित्तव्या-सचिन्तातुरा सा कियन्तं कालं समापत्[4]। मासैकावधेः पूर्तिर्जातेति विचिन्त्य 'अहो! कथमहमिदमनुचितं कुर्याम्' श्वः प्रत्यूष एव स

1. प्राप्तिः। 2. व्यर्थता। 3. अत्यन्त। 4. पूर्णं कृतम्।

श्वपचो दुष्टमतिर्भूपतिः कामाग्नौ होतुं श्रेष्ठमच्छीलरत्नं समायास्यत्येव। अहो! धिङ्मां मद्रूपं मद्यौवनं च। यानि मदीयोत्तमशीलसंहाराय दुर्मति-राजानं प्रेरयन्ति। अतः शीलरत्नरक्षणार्थं यत्नो विधेयो मयकेति मे मुख्यो धर्मः। इति निश्चिन्वानापि सा व्यचिन्तयत्-यत्कथं शीलरत्नो रक्षितव्योऽबलया मया सबलात्पुंसः। स मदनवेग आगामिदिने प्रत्यूष एव सबलसैन्यमादाय मदीयाङ्गणं समागत्य मां वक्ष्यति। समेहि मे गृहं यद्यहं वक्ष्यामि नैव संगंस्ये चेत् किं भवेत्? तदानीं स दुर्मती राजा निजभटान् समाज्ञापयिष्यति यद् गृह्णीतेमां बध्नीतेमां बद्ध्वा च मच्छयनागारं प्रापयतेमाम्। अहो! तदवसरे निजप्राणपतिमन्तरा को मां संरक्षेत्। शयनागारं समानीय मां स दुर्मतिः किं कुर्यात्, हन्यादेव वा जीवत्याश्च मे शीलव्रतं मोषिष्यति। अहो! पापिन्याश्च मे किमर्थं जन्माभवत्। प्रादुर्भवन्त्याश्च मे किमर्थमेतावतीसुरूपता जाता। इदानीं पर्यन्तमपि दुःखमनुभवन्त्या मे शान्तये काचनौषधिर्न जाता, अत एवाहं सुशोचामि निराधारा सती। स्त्रिया यदि काचित्प्रजा शीलव्रतं परिखण्डयेत्तर्हि राजा शरणं भवेत्। यदि च राजैवैतादृशो भवेत्तदा कृतान्तमेव शरणं भवेत्। अतोऽहं तमेव शरणं कुतो न व्रजामि, इदानीं चात्मघातमन्तरा न काचिदन्या कृतिर्वरीयसीति।

अथेदानीमेव हरिबलोऽपि नवीनोद्वाहितां निजस्त्रियं कुसुमश्रियमुद्याने संस्थाप्य निजगृहस्वरूपावलोकनाय शनैरागत्य क्वचिद्रहस्येवावातिष्ठत। तत्र सत्या निजस्त्रियाः साहसं दृष्ट्वा सहसैवावादीत्-अहो! नैतदुचितमात्मघातादिकुर्वत्या भवत्याः। न द्वितीयमात्मघातादन्याय्यम्। इति वाचमभ्यदधद्धरिबलेन वसन्तश्रियाः समक्षे समागत्य समुपस्थितेनाऽभावि, दृष्ट्वैवामुं सगद्गद्वाचा वसन्तश्रीः प्रावोचत्-अहो कोऽयं मे स्वामिनाथः किं, प्रियप्राणनाथ! स कुशली भवकान्। अथ सोऽप्याह-प्रिये!

अस्मि तावत्कुशली, किं च पतिप्राणायै सत्यै स्त्रियै किमर्थमदो-ऽयोग्याचरणम्। इति भर्त्तृवचः समाकर्ण्य साह-स्वामिन्! अयोग्यं विद्धि योग्यं वा, यदद्य भावतं दर्शनं न स्याच्चेत्, श्वो वसन्तश्रीर्न स्यात्। हरिबलोऽगादीत्-यद्वेद्म्यहं तावकं सम्यक् सतीत्वं, दुष्टोऽसौ भूपतिस्त्वयि दुष्कर्मकर्त्तुमुद्यतः 'अधर्मं कुर्वाणोऽधर्मफलं सहसैव लप्स्यते।'

अथ निजस्वामिनं विलोक्यैव सरोमाञ्चा वसन्तश्रीस्तदीयं कुशलादिकं पृष्ट्वा राज्ञोऽखिलवृत्तान्तमचकथत्। अथ हरिबलो निजगृहे समागत्य तत्रत्यमखिलवृत्तान्तं वसन्तश्रियं समवोचत्। 'यत्र हि वास्तविकं प्रेम तत्र किं नाम गोप्यं भवति पुंसां सुविदुषाम्।' अथ कुसुमश्रीसुलग्नवृत्तान्तमाकर्ण्य तया वसन्तश्रिया निजभर्त्रा सत्राऽऽरामेऽव्राजि। तत्र बहु हर्षं मन्यमाना तया सह मुहुर्मुहुर्मिलित्वा द्वे अपि सहैव सन्तिष्ठमाने सुखमनुभवतः स्म। यथेदानीन्तनो जनो जायाद्वयं परिणीय स्वात्मानं दुःखवन्तं विदधाति न तथा हरिबलो जातः। तदीये द्वेऽपि प्रेमपूर्वकं सन्तोषान्मिलित्वा निजभर्तृसेवातत्परे जाते। क्वेदानीन्तना मूर्खाः स्त्रियः, क्व च तदानीन्तना विदुष्यः। ततो हरिबलो निजप्रिया-द्वयसहितो गृहं गच्छन् राज्ञः सूचनार्थं कञ्चन जनं प्रैषीत्। तदीयं समागमनसमाचारं श्रुत्वैव स दुर्मतिर्हताशो बोभवामास[1]। "पूर्वं हि तं समाचारमनादृतवान् पश्चाच्च स्वीयभाग्यं विगर्हयन्नद्य नष्टा मे मुखप्रसादच्छविः। अद्य हि परिपक्वा मेऽप्याशा भूमौ प्रविष्टाः। धनिनो यथा धनं धूलिलिप्तं भवेत्तथा मे सर्वाण्येव परिश्रमादीनि वैयर्थ्यमापुः[2]। प्रावृषि यथाऽभ्रागमो वायुवशात् क्षण एव वैनाश्यमाप्नोति तथाद्य मे निखिला मनोरथाः क्षण एव वैनाश्यमापुः। किं बहुनाद्य भाग्यदेवी मां मेरुं समारोप्य नीचैरेवापातयत्। अद्य मे विनष्टं सौख्यादि।"

1. भू धातु यङ्लुप् परोक्षा। 2. व्यर्थस्य भावः।

इत्थं बहुशो विचिन्त्य पश्चात् समेषामन्येषां[1] विनिश्चयार्थं स्वस्थीभूय परिजनानाह-यद् भोः! अद्य मे स्वानन्ददिनमतो राजभवनं सशृङ्गारं सत्तोरणमलङ्कुरुत, गजाश्वरथप्रभृतिबहुविधनिखिलवाहनादिकं सज्जीकृत्य संस्थापयत, राजपुरुषांश्च समाज्ञापयत। यत् समेऽपि निजदिव्यवासोभूषणानि परिधाय राजद्वारमागच्छेयुः। अद्य मयि परमप्रेमवान् हितेच्छुर्हरिबलः समर्पितं कार्यं सत्वरमेव विधाये-हायातः। अद्य मे चिरकालीनो विनष्टो वियोगः। अतः समेऽपि सुसज्जिताः शीघ्रं समायान्तु, नगरप्रवेशं च कारयन्तु तस्य वै।

अथ राजाज्ञां श्रुत्वा वाद्यादिकं समवादयत्। नगरे सर्वत्रा-नन्दादिकं समजायत। नगरप्रवेशार्थं स हरिबलो भूपतिना विशालाधिपतिना सत्रा राजभवनमागात्। राजापि तं ससन्मानं योग्यासनं समारोप्य कुशलादिकं संपृच्छ्य कथं साधितं कार्यं त्वया तत्र गत्वा? श्रुत्वा च सोऽप्याह-राजन्! लङ्काधिपतिविभीषणं समाकारयितुं गृहान्निर्गत्य कठिनातिकठिनं मार्गं समुल्लङ्घयन् वार्धितीरं गतवान्। तत्र गत्वाऽम्भोधिगाम्भीर्यं विलोक्य व्यचिन्त-यम्-कथं मया लङ्कापुरी गन्तव्या? ततो बहुविचारान्ते खादामि, खादामि, इति वचो ब्रुवन्तं समीपमायान्तं विचित्रचित्रविकरालमूर्त्तिं भयङ्कराकृतिं कञ्चन रात्रिंचरं विलोक्य तमभ्यधाम्-अहो! महाबल! मत्खादनात्त्वत्तृप्त्या महान्तं परोपकारं मन्येऽहं। यतो नास्ति मे जीवनशोकः, किञ्चेयमेव चिन्ता, यदहं कृतप्रतिज्ञापूर्त्तिमकृत्वैव मृतिं लप्स्ये। श्रुत्वैवं व्याकुलीभवन् स राक्षसः सकोपमाह-रे मानव! कैतादृशी कृता प्रतिज्ञा त्वया, यन्मरणकाले प्रतिज्ञा प्रतिज्ञेति वदसि? उत्तिष्ठ कृतप्रतिज्ञां मां द्रुतं ब्रूहि। तत्पूर्त्तये साहाय्यन्तेऽहं करिष्यामि। इति राक्षसीयमाशायुतं वचः समाकर्ण्य धैर्यं चावलम्ब्य प्रहृष्टचेतसाऽहमब्रवम्-अयि महाभाग! विशाला-

1. सर्वेषाम्।

धिपतिमदनवेगनाम्नो राज्ञोऽहं समाज्ञाङ्कितः सेवकः, स च निजसुताविवाहमहोत्सवं कर्त्तुमुद्यतो वर्त्तते। तदीयाज्ञां स्वीकृत्य लङ्काधिपतिविभीषणाय निमन्त्रणं दातुं गम्यते मया तत्र, कठिना-तिकठिनं चैतत्कार्यं निखिलसभामध्ये मयैव स्वीकृतम्। कर्म चैतद्यदि मत्तो न स्यात्तर्हि प्रतिज्ञाभङ्गी भविष्यामि। श्रुत्वैवं स राक्षसश्चक्षुषी रक्तीकुर्वन् मामाह-रे मानव! एतत्प्रतिज्ञासंसाधनाय नैवाऽस्ति कस्यापि सुलभा शक्तिः। न चैव महासागरसन्तरणाय मानवानां कर्म, तथापि तेऽहं काञ्चनैकां सुयुक्तिं वच्म्येव, यतो मामकं कार्यं सिद्ध्येत्तावकं च। आकर्ण्यैवं चाञ्जलिं बद्ध्वाहम-भणम्-भोः! द्रागेव मां तां युक्तिं वक्तुकामो भवान् भवतु। मत्स्वामिकार्यसंसाधनाय यदेव त्वं वक्ष्यसि तदेवाहं कर्त्तुमुद्यतो वर्त्ते। श्रुत्वैव स राक्षसः प्रहर्षं प्रहर्षं क्षुधापीडितो बहुविधवैचित्र्यादि प्रदर्शयन् मामवोचत्-अयि मानुष! यदि लङ्कां गन्तुमनाः, यदि विभीषणं निमन्त्रयितुमनाः, यदि च निजस्वाम्याज्ञां विधातुमना स्तर्हि वनेऽस्मिन् याऽऽस्तेऽसौ काष्ठनिचयरचिताचिता, तस्यां पतित्वा द्रुतं म्रियस्व। मृतिमन्तरा लङ्कागमनाय मार्गान्तरं नास्ति। एवंभूतां राक्षसीयां युक्तिं श्रुत्वा पूर्वमनुत्सुकमना अभवम्। पश्चात्स्वामिकार्याय कृतघ्नोऽपि सेवको निजासूनपि समर्पयेत्। इति बहुधा विचिन्त्य प्रतिज्ञापूर्तये रक्षोवचसि विश्वासं कुर्वाणो वह्नौ पतितुमभ्यधावम्। पतित्वा च तत्र भस्मीभूतोऽभवम्। ततः स राक्षसो मद्भस्मनिचयमेकीकृत्य विभीषणाय समर्पयत्। मद्वृत्तान्तमचकथत्। स च मम स्वामिनि भक्तिं विलोक्य मयि समतुषत्। मद्भस्मनिचयं सुधया निषिच्य मां सजीवमकार्षीत् मदीयाद्भुतं रूपं चावलोक्य मह्यं कन्यकामेकां समर्पयत्। कन्यया साकं बहुमूल्यबहुविधवासोभूषणहस्त्यश्वखपासुलाद्यनेकवस्तुनिचयं समर्पयत्। परन्तु तत्सर्वमपि गृहीत्वाऽत्रागमनाय काठिन्यं निश्चित्य

नाङ्गीकृतं मया तद्वस्तुजातम्। दृष्ट्वैवं तेनापि मदर्थमत्याग्रहं कृत्वा त्वमिहैवावतिष्ठस्वेति चाहमवाचिषि। भुज्यन्तां स्वचेष्टितानि ऋद्धिसमृद्ध्यादीनि वस्तूनि, रम्यतां च नवयौवनाभी रूपवतीभिः स्त्रीभिः। श्रुत्वैवं मयाऽभिहितं-न भवितव्यं मया चेत्थम्। यतोऽहं विशालाधिपतिमदनवेगाज्ञया त्वन्निमन्त्रणार्थमिहायातः। भूपतिश्च महान्तं निजसुताविवाहमहोत्सवं कर्त्तुमुद्यतो वर्त्तते, अतो मयि कृपां कृत्वागन्तव्यं त्वया तत्र। स च विभीषणः किञ्चिद्विचार्य मां व्याहार्षीत्-हरिबल! मामकीं पुत्रीं स्वीकृत्य पूर्वं त्वया गन्तव्यम् विवाहदिनद्वयशेषे चाहमागमिष्यामि। इत्थं तदीयं निश्चितं वचः श्रुत्वाहमिहायातः। प्रत्ययार्थं च निजचन्द्रहासनामकं स्वीयखड्गं मह्यं समर्पयत्, सस्त्रियं मां समुत्थाप्याचिरादेवेहानीतवान्। राजन्! तव दुष्करकार्यसंसाधनाय मया चैतादृशी व्यथा सोढा। यतोऽहं स्वामिसेवां स्वीयं मुख्यं सुकृतं वेद्मि।

अथ पुण्यप्रतापतो हारिबलीयां कृत्रिमां वाचमृतां मन्यमानो मूढो नृपती राजसभा चाश्चर्यत्वमाप्य प्रशस्य च तं समब्रुवन्। अहो! महाप्रतापशीलोऽयं हरिबलो नो चेदस्मात्कठिनकार्यात् कथङ्कारं पुनः समायातु।

इत्थं गच्छत्सु कतिचिद्दिवसेषु तदीयवाक्ये संशयमापन्नो मुख्यो राजमन्त्री व्यचिन्तयत्-यत्केनापि सत्रा छद्म कृत्वाऽऽनीतेऽनेनामू खड्गकन्यके। अथ तस्मिन् हरिबले सोऽमर्षाग्निना दन्दह्यमानो राजसभायां तदीयां बहुख्यातिं श्रावं श्रावं भृशमताप्सीच्च। तदनु राज्ञस्तस्मिन्नधिकस्नेहमाने चावलोकमवलोकं दुर्मतिना भूपमन्त्रिणा चिन्तातुरीभूयाहर्निशं विचारं कुर्वतैकस्मिन् दिने हरिबलगृहे राज्ञो निमन्त्रणार्थं निश्चिक्ये। निजप्रेयस्योः स्त्रियोः शीलस्वर्णसन्तापनाय दन्दह्यमानां नूतनां भस्त्रिकां दृष्ट्वा हरिबलो निजहृदि बहु समताप्सीत्। परन्तु तत्काले किं कुर्यात्। अथ निश्चितदिने

विशालाधिपतिर्मुख्यामात्यादिसर्वसम्बन्धिनः समाकार्य हरिबलगृहे भोजनार्थमायातः। स हरिबलोऽपि भूपतिमनःप्रसादार्थं बहुविधां सामग्रीं समकारयत्। यदैव विशालाधिपतिर्भोजनशालां समायातस्तदैव वसन्तश्रीकुसुमश्रियौ सुन्दरान् वसनालङ्कारान् परिधाय स्वर्णस्थालपत्रे पक्वान्नादि संस्थाप्य समागतवत्यौ। चम्पकवर्णचतुरचपलावलयोस्तयोर्मनोहरं गात्रं दर्शं दर्शं तयोर्मनोहरां मधुरां वाचं च श्रावं श्रावं स मदनवेगो मूढो जातः, भोजनादौ मनो न संलग्नम्। मदनवेगे मदनवेगः समुत्पपात। तत्कालमेव तदीयकामाग्निर्बहु प्रजज्वाल। कथङ्कारं मया ते प्राप्ये। अथ स राजभवने समायातः। समागतं तं वीक्ष्य दासीदासप्रभृतयः स्वागतं चक्रुः। परंतु तदा तस्मै किमपि नारोचत। यतः – 'परस्त्रीदीपशालायां विषयगन्धं मदनवेगवेगितमदनवेगमनःपेटिकया सत्रा घृष्टवान्। अथ कामाग्निः प्रादुर्बभूव। अयि पाठकाः! विचारयन्तां नितरां निजचेतस्सु यत् सदाचारवृक्षसुयशःपुष्पं कृशानुज्वालायां प्रदीप्यमानायां दाहमन्तरा कथं नाम सन्तिष्ठेत्।' अग्नितोऽस्माद् राज्ञोऽन्तःकरणरुधिरमुत्पपात। तच्च निखिलशरीरे प्रससार, शरीरं च प्रजज्वाल। स नृपती रोगस्यास्य निवारणाय स्वीयं प्रधानमन्त्रिणमाहूतवान्। राजनीतिनिपुणो हि स प्रधानमन्त्री अवसरं विज्ञाय निजप्रतिस्पर्धिनं हरिबलं निस्सारणाय यत्नं यतितवान्। स चागत्याञ्जलिं बद्ध्वा सनम्रस्तं प्रोवाच-अयि राजन्! तव कामज्वरः शान्तिमापद्येत। एतदर्थं का नामौषधिः, मद्विचारे तु हरिबलपार्श्वे ये वसन्तश्रीकुसुमश्रियौ स्तः, ते एव भवदीयौषधिर्भवितुमर्हन्त्यौ। ते वै विचित्रगुणवत्यौ, दृष्टिगोचरमात्रादेव महाविषयोऽपि कामज्वरो निवृत्तिमाप्नुयान्नाम। एवम्भूते हि ते द्वे अपि। अवश्यं रक्षितव्या सा भवतौषधिः, भवतो मनोविकारं शाम्येत्सा, हृदयारविन्दं समानन्दयेत्, जगद्वृद्धिं वितनुयात्,

ऐहिलौकिकसुखानि दद्यात्। अतो धराधिप! माङ्गल्यसम्पादयित्री-मवश्यं तामुररीकुर्याः [औषधिं]। इत्थं प्रधानामात्यवचः श्रावं श्रावं स मदनवेगो व्याकुलीभवँस्तमाह-मन्त्रिन्! हीनदैवाय मे कथं लब्धा नाम सौषधिः। दुर्लभ्येयं मया, मदपेक्षया स हरिबल एव महापुण्यशीलो नृ[1], किं च स मे हितकृत् सुहृत्, मामकं दुष्कार्यमपि कार्यं करोत्येव, एवं सत्यपि नूनमहं मन्ये यदस्य मारणात् कार्यं मे सिध्येत्। श्रुत्वैवं स दुर्मतिर्मुख्यामात्योऽभाणीत् राजन्। किमत्र वाच्यं यदेव भवान् तमाज्ञापयियिष्यति द्रुतमेव तत्कुर्यात्सः। अतो निजकुमारिकाविवाहकार्ये भवता यमः समाकार-यितव्यस्तेन। यमनिमन्त्रणाय च स हरिबल एव नियोक्तव्यो भवता, तस्मिन् कार्ये च स्वीयां मृतिं लभेत सः। पश्चाच्च भोग्ये ते हरिबलस्त्रियौ। श्रुत्वैवं मदनपीडापीडितो मूढो मदनवेगो हि गर्वितां प्रधानदुस्सम्मतिं स्वीकृत्य तदाह्वानाय निजभृत्यानाह-यद् गत्वा हरिबलमाकारयत। तेऽपि गत्वा तथैवोचुः-ततः समायाते हरिबले बहुमधुरया वाचा तं संभाष्य सत्कृतो हरिबलस्तेन। तदीयगुणांश्च वर्णयित्वाह-हरिबल! मदीयमुख्यः सुहृद्भवानेव, नो चेद्विभीषण-निमन्त्रणाय कठिनातिकठिनं कार्यं को नाम संसाधयेत्। इदानीमपि कार्यमेकं वर्त्तते मम। निश्चीयते मया तदर्थं मत्कठिनाति-कठिनकार्यसंसाधनेऽनुत्सुकमतिर्न स्याः। कर्त्तव्यानि च त्वया मद्वचांसि। इत्युक्त्वा निवेदयामास कार्याणि।

अथ हरिबलः श्रुत्वा तद्वचांसि शिरसि धृत्वाऽसन्तुष्टचेता गृहमागतवान्, निजस्त्रियौ च वृत्तान्तं तन्निवेदितवान्। ते च दुर्मते राज्ञो दुःसङ्कल्पितं कार्यं चतुरया निजमत्याऽचेतिष्टाम्[2]। धैर्यं चावलम्ब्यागादिष्टाम्[3]-स्वामिन्! निर्भीकेन निःसंशयेन भवितव्यम्, पुण्यप्रभावाच्च ते निर्विघ्नं कार्यसाफल्यं भावि, नौ शीलादि

1. नृ (प्र.ए) 2.- 3. चित् गद् धातु अद्यतनी 3. पु.द्वि.।

संपतेन्नाम!

अथ राजा तत्काल एव नगराद्बहिः काष्ठानां सञ्चयं कारयित्वा तस्य मृत्युमयीं चितां च कारयित्वा तामग्निना प्रज्वालयामास। हरिबलो ग्राम्यजनसमक्षे तस्यां पतित्वा भस्मसाद् बभूव। ते च ग्रामीणा हृदयविदारकं हाहेति शब्दं विचुक्रुशुः। समेऽपि जना राजानं मुख्यामात्यं च विगर्हयाञ्चक्रुः। अहो कियानाश्चर्यविषयः। राजाऽसौ प्रतापिनं हरिबलं छद्मनावधीत्। अत्यनुचितं व्यधात्। यादृशो वै नो नृपतिर्न तादृशोऽवन्यां कोऽप्यन्यः स्यात्। अथ ते समेऽपि राजानं मुख्यामात्यं च विगर्हयन्ति हरिबलं च भृशं प्रशंसन्ति, किं च सिंहमिव पराक्रमिष्णुं बलिनं विष्णुमिव शक्रमिव यशस्विनं प्रतापिनं महान्तं पुरुषं हरिबलं, दुर्मतिराट् प्रधानश्च ललनालम्पटौ छद्मना तं घातयतः स्मेति महद् दुष्कृतं कर्म। अतो नैतादृशौ कावप्यधर्मिणौ स्याताम्। इत्थं यथा मृतदेहाद् दुर्गन्धाधिक्यं निस्सरेत्तथाऽखिलपत्तने राज्ञोऽधर्मापकीर्त्तिदौर्गन्ध्यं वितेने। अथ स हरिबलो वह्नौ संपतन्नेव सुस्थितदैवतं सस्मार। तत्सान्निध्यात्तच्छरीरे किञ्चिन्मात्रमपि व्यथा न व्यापत्, किं च यथा स्वर्णतापनात्तस्मिन् प्रदीप्तेराधिक्यं जायते तथा हरिबलोऽपि कान्त्या प्रदिदीपे। अञ्जनसिद्धिरिव तत्क्षण एव चितातो निस्सृत्यादृशो भवन् रहसि व्यतिष्ठत। रात्रौ च निजगृहे प्रातिष्ठत। हरिबलं च दृष्ट्वैव तदीये स्त्रियौ हर्षवत्यौ बभूवतुः। विस्मयमावहन्त्यौ च धन्यम्मन्यमाने सुधातुम्बीतोऽमृतं निस्सार्य तस्मिन् प्रचिक्षेप (प्रचिक्षिपतुः)। तत्प्रभावतस्तद्देहः शक्रकान्तिरभवत्। 'पुण्योदयात् किं किं न सम्भवति, दुर्जनो जनः पुण्यवन्तं सुजनं कष्टवार्द्धौ पातयेच्चेत्तदर्थं सौख्यवार्द्धिस्संपद्येत। यथाऽगरौषधिं वह्नौ पातयति कश्चित्तदा ततः सुगन्धिरेव निस्सरति, तथैव पुण्यवते पुंसे खलताकृता विपत्तिरपि संपत्तिरूपैव भवति।'

अथ हरिबलो निजस्त्रीभ्यां सत्रा प्रेमवार्त्तां चकार। तदवसरे स दुर्मती राजाऽनङ्गज्वरपीडितोऽमन्दोन्मत्तो हरिबलगृहमाजगाम। समापतन्तं राजानं विज्ञाय हरिबलमवोचतां ते, स्वामिन्! भवान् गृहे रहसि स्थित्वा नौ चातुर्यं साहसं च विलोकयतु, किं करोति स दुष्टो नृपः। श्रुत्वैवं सोऽपि तथैव विहितवान्। यदैव समायातस्तदैव द्वे अपि राज्ञे आदरपूर्वकं सन्मानं कृत्वा विष्टरादिकं[1] च समर्प्य व्याहार्षिष्टाम्[2]-राजन्! अस्मिन्नवसरे भवदागमने को हेतुः? इत्थं स्त्रीवचः समाकर्ण्य मूढमतिः स नृपतिर्विहसन् भृशमुल्लसमुद्वहन् ते चाह-अयि कामिन्यौ! किमतेन्न जानीथो युवां, वां समाह्वानायैव मे समागमः। अतो द्रुतमेव व्रजतम्, इत्थं राज्ञ[3]कीयं वचः समाकर्ण्य द्वे अप्यावभाषाते-राजन्! न शोभतेऽदो वचो वक्तुं, त्वं हिं सेवकानां ततुल्यः। अनर्थकृते पुरुषाय दण्डं दातुमर्हो भवान्। यदि च त्वमेवानर्थं कुर्यास्तर्हि त्वां को नाम निवारयेत्। देवस्त्रीवत् सुरूपवतीमपि परस्त्रियं दूरतः परिहरेत्। तत्रापि भृत्यस्त्रियं पुत्रीमेव पुत्रवधूमिव विशेषतया परिहरेत्। यो वै राजा स चाऽन्यायकुर्वतीं प्रजां दृष्ट्वा तस्यामुचितदण्डं दत्त्वा ततो निवर्त्तयेत् तां, यदि राजैव स्वयमन्यायं कुर्यात् तन्निवारयितुं को वाऽलं भवेत्, यो वै रात्रौ चौर्यनिवारकः स एव यदि चौरकर्म कुर्यात्, सत्यपि जले वह्न्युत्थापनके, सत्यपि भानौ तमोव्यासौ कमुपायं कुर्वीत। अतः किमिदं जातं त्वयि, यथावामीहसेऽस्मात्प्रयासात् नौ प्राणा विनश्ये-युश्चेत्तावतापि स्वीयशीलं न विनाशयावः। यतः -

वरं शृङ्गोत्तुङ्गे गुरुशिखरिणः[4] क्वापि विषमे,
पतित्वायं कायः कठिनदृषदन्तर्विदलितः ।
वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्णदशने,
वरं वह्नौ पातस्तदपि न वरं शीलविलयः ॥१॥

1. आसन। 2. वि+आ+हृ=अद्यतनी ३पु.द्वि.। 3. राज्ञः सम्बन्धि। 4. उच्चपर्वतस्य।

अतः - अयि राजन्! महदनुचितं कार्यमेतद्। यः परस्त्रीभोगं कामयेत, ततो न विरमेत्।

'सुकृते सत्यपि कर्मणि दुर्गतिरेवान्तरा श्रियं हरति, तैलेह्युद्-भुक्तेऽपि हि दीपशिखां हरति वातालिः।' अतोऽन्यायमार्गमपहाय न्यायमार्गो हि स्वीकार्यो भवता, न्यायमार्गो हि सर्वसंपदां हेतुः' तथा चोक्तं नीतिशास्त्रे -

द्रुमेषु सलिलं सर्पिर्नरेषु मदने मनः ।
विद्यास्वभ्यसनं न्यायः, श्रियामायुः प्रकीर्त्तितम् ॥१॥
श्रुतेन बुद्धिः सुकृतेन विज्ञता,
मदेन नारी सलिलेन निमग्ना।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना,
नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥२॥

इत्थं सुरीत्या हरिबलस्त्रियौ नूत्नयापि[1] युक्त्या प्रबोधितवत्यौ किन्तु यथाऽतिसारे सदौषधिर्मिथ्यात्वमापद्येत, तथा तस्मिंस्तयोः प्रबोधोऽपि वैफल्यमाप। अथ कन्दर्पदर्पपीडापीडितः स दुर्मति राजाह-अहो कामिन्यौ! अहं धराधिपतिर्भवन्नपि युवां बह्वर्थये, तथापि युवां न मन्येथे। किं च किञ्चिद्विचारयतं यद्यौष्माको भर्त्ता जीवन्नेव समायादित्याशा वां दुराशैव। वां[2] प्रासये एव मया पूर्वमेव स भस्मसात्कारितः। अतो द्रुतमेव युवां मां भर्तृभावेन प्राप्नुतम्। यतोऽहमेवेदानीं वां दुःखसुखहेतुः। युवां च मे वश्येऽवश्यंभाव्ये। यदि मत्कथनं न स्वीकुर्[3]वातां भवत्यौ, तदाऽहं बलादपि युवां गृह्णीयाम्। यतोऽहं युवयोरासक्तः, अतो स्वेच्छयैव मद्गृहागमने शोभनं भवत्योर्मम च। इत्थं राज्ञवचः समाकर्ण्य हरिबलस्त्रियौ बहुरोषमावहन्त्यौ तं भणितवत्यौ-रे दुर्मते! धिक् त्वां यद्वायस

1. नवीनया। 2. युवयोः। 3. कृ ३.पु.द्वि.-आत्मने-आज्ञार्थ।

इवाभ्यां निषिद्धोऽपि छद्मप्रौढो ह्यावामेवं वदसि। पापात्मन्! दूरमपसर नो चेत्पापफलं शीघ्रमेव लप्स्यसे। इत्येवं तयोः कटुवचः समाकर्ण्य यावत्स राजा तयोर्बलात्कारं कर्त्तुमुत्सहते तावत्कुसुमश्रीः सहसैव निजविद्याबलेन राजानं चौरवद्बबन्ध। बद्ध्वा च यथा तस्य सकलापि दंष्ट्रा सन्त्रुट्य पतेत्तथा भूमौ तं पातयामास। तेन तदानीं राज्ञो दन्तमेकमपसत्। एकं तु निजबन्धनं, द्वितीयं दन्तपतनं, ताभ्यां च महापीडा प्रादुर्बभूव। तया च तदानीं महतीदुर्दशामाप। इत्थं स दुष्टो राजा मूढ इव शनैःशनैराचक्रन्द। राज्ञो मुखाज्जल-पतनमाक्रन्दनं दन्तपतनं द्युतिविनाशनमित्यादिदशामापन्नस्त-रुणोऽपि वृद्ध इव ददृशे। इत्थं यथा कञ्चनलाभमिच्छन्निजधनादि विनाश्य दुःखी भवेत्तथैव राजा बभूव। अथ दीनवन्मुखं कुर्वन्तं मुहुर्मुहुराक्रन्दन्तं राजानं विलोक्य दयासमुद्रयोस्तयोर्मध्ये कुसुम-श्रीस्तमाह - रे दुर्मते! त्वं हि बहुपापरतस्तथापि त्वयि बहुदयां कृत्वा दुःखादमुष्मात्त्वां विमुञ्चामि। परन्तु परत्रानेन कर्मणा घोरनरके पतित्वा दुःखान्तं मोक्ष्यस एव। भूयोऽपि नैतादृशं कार्यं कदापि कुर्याः। इत्येवं तं बहु प्रबोध्य निजविद्याबलेन कुसुमश्रीर्बन्धनात्तं विमुमोच। स राजापि स्वाङ्गं स्वस्थीकृत्य सावधानमना भूत्वा भूमिमधिष्ठितोऽवादीत्-हरिबलस्त्रीप्रसादतः किं न लभ्यते सर्वमेव, किं दुष्प्राप्यं? न किमपीति बहुशो वदन् भृशं शोचन् निजचक्षुषी वाससा समाछाद्य कथमपि ततश्चचाल। मार्गे च बहु पश्चात्तापं विदधद् बहुधा विचारयन् गुप्तरीत्या निजगृहमाजगाम। आगत्य च गृहे बहुविधसुखप्रदायिकां रात्रिं कथमपि व्यतीत्य प्रत्यूषे निजदन्तपतनाल्लज्जापन्नो बहुव्याजान् विधाय निजमुखं चाऽऽच्छाद्य राजसभामागत्योपस्थितवान्। निजवृत्तान्तं च सर्वं मन्त्रिणमूचिवान्। सोऽपि नृपतितः सर्वमुदन्तं जज्ञिवान्। तदानीं यथा तत्त्वं विज्ञाय संसारस्वरूपं विचारयति। तथा सोऽमात्योऽपि कदाचिद्भयं

कदाचित्कौतुकं कदाचित्करुणेति त्रिभिरेव युक्तो युगपद् बभूवान्। अथ हरिबलोऽपि तदानीं निजस्त्रीकृतातिविविधचरित्रमद्राक्षीत्। ततो गृहाद् गते राजनि निजप्रियाववादीत्-युवयोरघटितकार्यकर्त्तृ राज्ञ एतदेवोचितमासीत्। मूर्खजनाय दण्डमन्तराऽन्यत् किं स्यात्? यथा हीनः सारथी रथं कुमार्गे चानयति। तथैव कपटी अमात्योऽपि तस्मै राज्ञे दुर्मतिं प्रदाय कुमार्गे पातयत्येव खलु। तथाहि-

नृपतिर्नरश्च नारी, तुरङ्गस्तन्त्री च शास्त्रमथशस्त्रम् ।
चारुत्वाऽचारुत्वे, स्यातामेषामन्यसङ्गात् ॥१॥
वङ्कीनरिंदचित्तं, वक्खाणं पाणियं च महिलाओ ।
तच्छयवंचंति सया, वच्छयथुत्तेहिं निज्झंति ॥२॥

एते समेऽपि 'नीचजनसङ्गत्या नीचैस्त्वं लभन्ते। सुजनसङ्गत्या च सौजन्यं लभन्ते।' अत एव दुष्टोऽयममात्यो राजानं कुमार्गे पातितवान्। अतः पूर्वं प्रधानाऽमात्यार्थमेव कश्चनोपायो विधातव्यो मया, किं च यावद् दुष्टोऽयं जीवति, तावत्स्वीयं दुर्भावं नैव हास्यति। अतोऽयमेवान्यायविधायकोऽमात्यः कथङ्कारं मारणीयः। यतो दुर्जनाय दमः सुजनाय च प्रतिपालनमित्यादि शास्त्रेषु नीतिरुक्ता। अतोऽमात्यविनाशाय कश्चिदुपायो विधातव्यः। यदसौ मन्त्री मया सह बहुछद्म विदधाति। अतो मयाप्येतेन सह छद्म विधेयमेव। उक्तं च -

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा, न संवृताङ्गाङ्गिशिता इवेषवः ॥१॥

अथेत्थं विमृश्य स हरिबलो निजाभीष्टदेवं सस्मार। तत्स्मरणादेव स देवः शीघ्रमेवोपस्थाय हरिबलीयशरीरमद्भुताकारं दिव्यस्वरूपं च विधाय तस्यैवान्यभयङ्करयमदूतं निर्मितवान्। तं च सहैव गृहीत्वा प्रत्यूष एव हरिबलो राजसभायां गत्वा राजानं

प्रणिपत्योपस्थितवान्। तत इन्द्रोपमं हरिबलं स्वर्गसमागतं विलोक्य चमत्कृतो राजा राजभृत्याश्च बहुविस्मयं लेभिरे। राजा च हृदि व्यचिन्तयत्-अहो! धिग् पापान्वितमन्त्रिवचांसि। यद् यदर्थं मयाऽसौ हरिबलः साक्षाद्वह्नौ भस्मीकृतः, स चायमागतः कुतः? राजा हरिबलं परीपृच्छ्यते-यत्त्वं यमगृहात्कथमिहायातः? त्वया सत्रा च कोऽयं पुमान्? स आह-राजन्! यदाहं चितामधिष्ठाय भस्मीभूतस्तदैव यमद्वारमगच्छम्, गते च मयि तत्र यमभटा मदीयवृत्तान्तं यममाहुः। निजकिङ्करास्यान्मदीयवृत्तं निशम्य जातदयो मयि सन्तुष्टीभूय मां सजीवितं व्यधात्। अथ यमप्रसादान्मदीयदेहशोभादि समैधिष्ट। 'एकतः कष्टं द्वितीयतः सत्यम्, इति द्वये सम्पन्ने सति किं दुर्लभं स्यान्न किमपीति। कष्टात्सत्याच्च तुष्टीभूतो देवः सत्पुरुषाय किं किं न ददाति?' अथ धर्मराजो मया वक्तुमशक्यानि तथा मनसाप्यगोचराणि बहुविधर्द्धिसमृद्धिवस्तूनि समदर्शयत्। अहं च किं पश्यामि किन्न पश्यामीति चिन्तायुतोऽभवम्, यावद्द्वितीयं पश्यामि तावत्प्राथमिकं विस्मरामि, यावत्तृतीयं पश्यामि तावद् द्वितीयं विस्मराम्येतादृशोऽभवम्। राजन्! तत्र शक्रनगरीविजेत्री संयमनी नाम यमनगरी महीयसी वर्तते, तस्यां धर्मराजो यमो राज्यं करोति। तत्र च पुण्यवन्तो जना निवसन्ति। तत्रैव तेजसी नाम्नी शुभकारिणी सभा। तस्यां च सभायां ताम्रचूडो नाम दण्डधरः। स च लेखनाय चतुर्हस्तपरिमितमेकं पुस्तकं स्थापयति। शक्रादयो देवाः सुसेवया तं सुसेवन्ते। ब्रह्मेशविष्णवो यमदेवतुष्टये शर्मणे च कष्टं सहन्ते। परमयोगीन्द्रास्तदनुमत्या योगाभ्यासं भजन्ते! ये चेमे त्रयो लोकास्ते तं सुसेवन्ते। गाढतमो विनाशको हि तदुत्पादयिता सूर्यो नाम तदीयतातः। यद् वै जीवेऽस्मिन् *संज्ञा*वन्मुख्यं, तदेव *संज्ञावती* नाम्नी तदीया जननी। *शनैश्चरो* नाम भ्राता, यो जगत्यां वज्रवद्दुःसहस्तथा

श्यामवर्णः। सकललोकपावयित्री *यमुना* नाम तदीया भगिनी। सकलद्वेषकर्त्री धूम्रमुखी *धूमोर्णा* नाम तदीया पट्टराज्ञी। मृतपुरुषोत्थापयितृधीरपुरुषाणां योग्यं तदीयं वाहनम्। त्रिजगदादरप्रदाता *वैद्युतो* नाम याष्टिको दूतः। *चण्डमहाचण्ड* नामानौ द्वौ दासौ। *चित्रगुप्तो* नाम तदीयो लेखकः यो जगत्त्रयजननमरणादिसुकर्मकुकर्मादि विलिखति। इत्येतादृशो यमस्तुष्टीभूतः कल्पवृक्ष इव भाति। रुष्टेऽपि यमे यम एव भवति सः।

इत्थं यमीयां समृद्धिं विलोक्याहं स्वात्मानं कृतार्थं मेने। तथा लोकोऽयं वदति यज्जन्म समुपलभ्य बहु जीवेद्बहु च पश्येत्। अथेत्थं गते कियति काले धर्मराजाय भवत्प्रदत्तं निमन्त्रणं मया तस्मै निवेदितम्। तदानीं स मयि सन्तुष्य मामवोचत्-यद्राज्ञो वै मत्कृते महानादरः। अतोऽहमवश्यं समायिष्ये, किं च तद्विषये किमपि तमहं वक्ष्यामि-यदि तावको राजा मम सुहृत्, मयि प्रेमवान् स्नेहादिकं करोति, तर्हि वारमेकं सकुटुम्बः सामात्यः ससेनो मदन्तिके समायातु तदाहं तमनुभजे, इत्यहं विमृशामि। इत्थं स मां बहुशोऽभ्यधात्-हरिबल! त्वं तत्र गत्वाऽवश्यं तं मदन्तिके कदाचित्प्रेषय, इत्येवं मां बहुशोऽभिधाय मह्यं दिव्यालङ्कारवासोभूषणानि प्रदाय दिव्यरूपधरा देवाङ्गनाः परिणेतुं समर्पयत्। किं चाहं ता नोररीकृतवान्। ततः प्रान्ते मामाह-एता हि काञ्चनकान्तीस्त्ववश्यं स्वीकुरु? येनाहं कृतार्थो भवामि। तदाहं तमब्रुवम् नाहमेकामपीच्छामि, मम स्वामिविवाहसम्बन्धिकार्यमत एवेहाहमागच्छं त्वदाकरणाय। देयाश्चेमा भवता मत्स्वामिने राज्ञे मन्त्रिणे चैतेनैव मे सन्तोषः। यतो हीमा बालास्तयोरेवार्हाः। यतो बन्धने वधे युद्धे दुर्गग्रहणे मृहोत्सवयोश्च यत्र यत्रैव भृत्यः कष्टायते! तत्कष्टस्य फलप्राप्ती राज्ञे भवति। श्रुत्वैवं सोऽप्याह-अस्तु, त्वं व्रज, किं च राजादयोऽत्रावश्यं प्रेष्याः। इत्थं मामभिधाय

सादरं व्यसर्जयत्। अत एव त्वदाह्वानाय मदर्थं मार्गावलोकनाय तव बहुमानाय च निजो यष्टिकाधारको *वैद्युतो* नाम भृत्यः प्रैषि मया सार्द्धम्, अत इदानीं तेन सह सहर्षो व्रज, तत्र गमनं सुयोग्यमेव। अथ स याष्टिको हरिबलकथनानुसारं सभास्थितान् सर्वानेवमेवाह इत्थं तद्वचांसि सत्यानि मन्यमानाः सदस्या नराः सत्यमेवैतदित्याहुः-कार्यं चैतन्न दुष्कार्यं, सर्वमेव सत्यं खलु। महाकैतवी सोऽमात्योऽपि देववाक्यं सत्यमेवामंस्त।

'यतश्छद्मकारिणामन्तं ब्रह्मापि नैव जानाति।'

अथाऽमात्यादयोऽपि यमराजगृहं गन्तुमनसो बभूवुः। यस्य यमराजस्य स्मरणादेव भीतिमन्तो भवन्ति सुजनास्तस्मिन्नेव यमे ते समेऽपि सोत्साहचेतसो जज्ञिरे। तदानीं तत्कौतुकावलोकनाय समेऽप्युत्साहवन्तो जाताः। 'यतो वै लुब्धो जनः किं न कुर्यात्?' सर्वेष्वपि तेष्वेकोऽवादीत्-यत्पूर्वमाहं सङ्गच्छेय, द्वितीयो नैव पुराहमेव गच्छामि, एवमभिदधत्सु तेषु सर्व एव गन्तुमुत्सुका बभूवुः। राज्ञश्च पूर्वं या वै दन्तपतनपीडा सेदानीं ''धर्मराजान्तिकेऽहं निखिलाः समृद्धीः प्राप्स्यामितीच्छया'' सर्वापि वैनाश्यं लेभे। धर्मराजगृहगमनाय चातीव सोत्साहमना बभूव। तदपेक्षया च पूर्वममात्यः सज्जितो जातः, तथा तस्यापेक्षया पूर्वं सदस्या नागरीकाश्च सज्जिता बभूवुः। किं च समेषामपि देवप्रभावतः क्रमशो बुद्धिर्वैनाश्यमव्रजत्। कियन्तो देवबालाः परिणेतुं, कियन्तो दिव्यद्रव्याभरणानि विलोकितुं, कियन्तश्च कौतुकान्यवलोकितुमेव नृपतिना सत्रा नगराद्बहिर्निर्जग्मुः। अहो! कीदृशं लोभराज्यादिकम्। इत्येवं विचारनिश्चितेषु तेषु राजानुमत्या नगराद्बहिर्बहुभीत्युत्पादिकां महतीं चितां विरचितामग्निना योजयामासुः। समृद्ध्यादिप्राप्तिस्तु कुत्रैव किं च भस्मीभवनमेव निश्चितम्। तथापि ते सावधानचेत-सोत्सुकमनसो जज्ञिरे। अहो! अक्षरशः सत्यमेव यत्कीदृक्षं नाम

संसारस्वरूपम्। तथाहि -

जा दव्वे होइ मई, अहवा तरुणीसु रूवमईसु ।
ता जइ जिणवर धम्मे, करयलमज्झं ठिया सिद्धि ॥१॥

अथ सर्वेऽपि ते पीतमद्या इव संसारसुखाभिलाषुका लोभवशं गता नववचांसि कुर्वन्तो जगर्जुः, कियन्तो नर्त्तनं, कियन्तो गानं, कियन्तश्च हास्यं कर्त्तुमारेभिरे। वह्नौ पतनायोत्सुका बभूवुः। इत्येवं दृष्ट्वा दयार्द्रचेताः स हरिबलस्तदानीं व्यचिन्तयत्-यदपराधं चामुं कृत्वा निरयेकां[1] गतिं लप्स्येऽतोऽधुना को विधेयो ममोपायः। यस्मात्सर्वे नरा निवर्त्तेरन्। पतेच्च केवलं वह्नौ मुख्योऽमात्यः। इत्येवं विचारयति हरिबले झटित्येव यमयाष्टिको दूतो हरिबलादीनाह-भोः! यावन्तो वै यूयं वह्निपतनायोत्सुका वर्त्तध्वे, ते समेऽपि यूयं किञ्चिदवतिष्ठध्वम्। मद्वचांसि च प्रतिशृणुध्वम्-यद् यूयं फलाभिलाषुकास्तर्हि व्याकुलचेतसो मा भवत। यतो मे स्वामी यमो विषमः, अतो, यो राजातिमानितो भवेत्स एव पूर्वं मया सार्धं वह्नौ पतेत्। ततो राजा, ततः प्रजादीत्थं दैविकं वचः शृण्वन् स मुख्योऽमात्यो मनस्येवं विचिन्तयति स्म-यदहं पूर्वं गच्छामि तर्हि स्वमनोऽभीष्टफलं प्राप्नुयाम्, इत्येवं विचार्य सोऽमात्यो राजानमाह-स्वामिन्! यदि भवतामाज्ञा स्यात्तर्हि पूर्वतोऽहं गच्छेयं, राजाप्याह-यथेच्छं व्रज, इत्थं राजाज्ञया यथा कश्चित्स्वर्गसुखभोगाय गच्छेत्तथा स्वात्मानं कृतकृत्यं मन्यमानो मनसि हर्षं दधत् सोऽमात्यो यमयाष्टिकेन सह प्रज्वलितकृशानौ झम्पापातमकरोदेव भस्मीभूतः। इत्थं पापबुद्धिरमात्यो निजमनोरथाय यमराजगृहं सकष्टं जगाम। अथ गते तस्मिन् स राजा सरागः शलभ इव पावकपतनायोद्युतो बभूव। तदनीमेव जातकरुणो हरिबलो राजकरं गृहीत्वा निषिद्धवान्, निषिद्धश्च तमाह-हरिबल!

1. *नरकस्य सम्बन्धिनी।*

सुकार्ये कथमन्तरायभूतो भवान् भवति। राज्ञो वचश्च श्रुत्वा सोऽप्याह-राजन्! यदहं त्वां ब्रवीमि तत्सावधानमनाः शृणुयाः। यो ह्यविचारितं कार्यं विदधाति, स ऐहिलौकिकपारलौकिकदुःखान्येव सर्वथा सहते। यश्च विचारवान् निपुणो जातः स बहु विचार्य कार्यं विदधातु। राजन्! यमप्रासौ मद्वचांसि सत्यानि मा विद्धि। मृतो जनः कदाचिद्दृष्टो भवता। म्रियमाणो जनः केन वारयितुं शक्यः, एतत्सर्वमेव मया छद्माऽऽविष्कृतम्। यतः कुमतियुतेनाऽमात्येन हि प्रपञ्चरचनां विधाय मुहुर्मुहुः कष्टनद्यां क्षिप्तोऽहं तेन, तेनैव भवानपि दुःखे पातितः, भवद्दन्तस्तेनैव पातितः। यतस्त्वयि महती वेदनाऽजायत। इत्यादि महान्त्येव दुःखानि प्रदत्तानि तेन, भवादृशे सुज्ञवरे कुबुद्धिरदायि। त्वादृशः सत्पुरुषः परद्रोहपरस्त्री-लम्पटो विहितः। यतो वै दुष्टमन्त्रिणा राड् दुःखमेवानुभवति। अतो वै छद्मरचनां विधाय दुर्मती राजमन्त्री पावके भस्मीकृतो मया। यतो नीतिरियं-*'एधमानं व्याधिं वैरिणं च शीघ्रमेव विनाशयेत्'* तत्रापि त्वं मे स्वामी, अतो वह्निपतनाद् भवन्तं कुतो न निषेधामि। कथितमपि शास्त्रेषु यत्स्वामिनो द्रोहान्महत्पापम्। अन्येन केनचित्सामान्येनापि सह द्रोहान्महत्पापं भवति। तत्र सुहृदा स्वामिना गुरुणा च सह द्रोहान्महत्तरमेव पापं भावि, इत्थं हरिबलास्यनिःसृतं वचः शृण्वन् स नरवरोऽतिसशङ्को व्यचिन्तयत्-बहु विचिन्त्य च निजमनस्येव व्यम्राक्षीत्-अहो! मदीयं सकलमेव दुर्विचारितं जानात्यसौ। इत्यादि बहु विमृश्य तदानीं महत्या त्रपयाऽधोमुखीभूय बहुकालं शून्यतां दधदिवा-वातिष्ठत। यथा कश्चिद् मूर्च्छितो जनः स्यात्तादृशो बभूव। अथैतादृशं नृपतिं विलोक्य मधुरया वाचा च बहु प्रबोध्य तदीयं दुःखमपा-हार्षीत्। स राजापि हरिबलीयमाननं देवोपमं तदीयाद्भुतचरित्राणि च दर्शं दर्शं सविस्मयो निजमूर्धानं विकम्पयन् विचिन्तयति स्म-

अहो! सापराधमपि मां बृहच्छक्तियुतोऽसौ दयया जहौ। अतोऽसौ महान् सामर्थ्यवान् मदीयराज्यमपि नोररीचकार। सर्वथाऽसमर्थोऽहं चैतस्य लक्ष्म्यौ ग्रहीतुमुद्यतोऽभवम्। अतोऽधमाधमोऽहं परमोपकारिणोऽस्मात्कथमहं मुक्तो भवामि। इत्येवं हरिबलस्य प्रशंसां कुर्वन् स्वात्मानं विगर्हयन् भवोद्वेगमावहन् चिराद् बहुकष्टेन निजभवनमगमत्, धर्मराजगृहगमननैष्फल्यान्वितो जातः। यमगृह-गमनाय समुपस्थितो लोकश्च कौतुकान्वितं हरिबलचरित्रं वर्णयन् निजगृहं जगाम। तदानीं तत्राकस्मिकनिमित्तकारणेन स भूपति-र्वैराग्यचेता बभूव। अथ स राजा गते कियति काले वैराग्यरागरञ्जितो हरिबलाय निजां दुहितरं पत्नीत्वेन समर्प्य स्वकीयराज्यं च तस्मा एव दत्त्वा पूर्वसञ्चितपापविनाशाय शुभे मुहूर्त्ते सद्गुरुपार्श्वे दीक्षां गृहीत्वान्तेऽनुत्तमां गतिमाप।

अथ तत्र काञ्चनपुराधीश्वरोऽपि निजगृहाद्विनष्टां स्वीयात्मजां विज्ञाय दुःखीभवन् प्रतिदिशं समाचारघोषणां कृतवान्। ततः शनैः शनैः पथिकजनमुखाद्धरिबलीयं वृत्तमश्रौषीत्। अथाति-हर्षान्वितो नृपतिर्हरिबलं निजजामातरं विज्ञाय कार्यविज्ञातॄन् मुख्यामात्यादिमहतो नॄन् प्रेष्य बहुमानं निजतनयमिव हरिबल-माचीकरत्। हरिबलोऽपि पृथिव्यां पुरुहूत इव निखिलर्द्धिसमृद्धियुतः ससैन्यः सस्त्रीकोऽखिललोकेभ्यः कौतुकहर्षादि ददानः काञ्चनपुरं समागात्। तदानीं राजा राज्ञी च दुहितरं स्वामित्वमभिदधतुः। अयि प्रियवत्से! त्वया स्वेच्छया वरो वृतस्तच्चाघटितं कर्म, किं च भाग्यं ते महत्तरं, यत्त्वं लोकपूजितं भर्त्तारमलभथाः। इत्यादि जननी निजात्मजां प्रशशंस। भूपतिश्च हरिबलाय राज्यं समर्प्य द्वावपि भगवद्भजनादि कृत्वान्ते सद्गतिं लेभाते।

अथ वैरिकटको वैरिबलो दर्पसर्पनिवारणविनतासुतो[1] भाग्यो-

1. इन्द्रः 2. गरुड़।

दयविपुलराज्यपरिपालकोऽप्यतिप्रियप्रजाप्रेमवान् राज्ञी त्रयीयुतो हरिबलोऽन्यनृपतितनया अपि परिणिनाय। यद्यपीश्वरो जनायाऽतुलं फलं ददाति, तथापि तत्फलं तज्जन्मन्येव न लभ्यते पुंसां, किन्तु जन्मान्तरे लभ्यत एव, तथैव हरिबलो जीवहिंसापरित्यागादतुलं फलमलभत। तथाहि सुधासुतासूत्रचामररत्नछत्रप्रभृतिवट-द्रुमफलवत्प्रबलः शोभते स्म। ततो हरिबलो निजनियमादिप-रिपालयन् कदाचिद् व्यचिन्तयत्- अहो क्व मे धीवरकुले [1]जनिरधमत्वं दरिद्रत्वं च क्व चेयं राज्यसमृद्धिरेतत्सर्वमपि सर्वसम्पत्सुखादिप्राप्तिः, केवलं जीवदयात एव मेऽजनि। इत्थं [2]शश्वन्नियमानुमोदं कुर्वन् नियमान्न विसस्मार। अथेत्थं गते कियति काले जातु हरिबलो व्यचिन्तयत्-यद् यो गुरुर्मां देशनामयं पीयूषमपाययत्। यत्कृपातश्चाहमिदानीं समृद्धियुत इन्द्रोपमो वर्त्ते, स एव गुरुरिदानीं समायातु चेत् किमपि तं पृच्छामि। कृतकृत्यो भवामि। इत्येवं यावद्विचारयति तावदेव हरिबलध्यानाकर्षितः समायातो गुरुस्तं समाह्वयत्। सोऽपि समागतं गुरुमवगम्य जातचित्तातिहर्षो गुरुसमीपे गत्वा गुरुपादौ ववन्द। वन्दित्वा च तन्मुखारविन्दगलितदेशनाफलानि समसिस्वदत्। देशनां निशम्य प्रमुदितमनाः सप्रश्रयोऽवादीत्-अहो! सुकृतपोषिन्! भवत्प्रसादा-देवाहमद्भुतलक्ष्मीभोक्ताऽभवम्। पूज्यवर! अहं तु पापात्मा सदा गर्ह्यश्चातो मयि दयां कुर्वन्तु दयावन्तो भवन्तः। विदधतुतरां मां मोक्षाधिकारिणं यद्धितं च तदुपदिशतु निजचेतसि स्थापयतु, मयि तुष्यतु। इत्यादि गदित्वा गुरुं प्रणनाम। पश्चाच्च सुकृते लग्नमनसं हरिबलं दृष्ट्वा गुरुर्बभाषे-राजन्! त्वमेव धन्यतमो यस्येतादृशी द्रढीयसी धर्मरतिः सुमतिः। संसारे भिन्नरुचिमन्तो जनास्तथाहि -

1. जन्म। 2. निरन्तर।

केचिद्भोजनभङ्गिनिर्भरधियः केचित्पुरन्ध्रीपराः[1],
केचिन्माल्यविलेपनैकरसिकाः केचिच्च गीतोत्सुकाः ।
केचिद्द्यूतकथामृगव्यमदिरानृत्यादिबद्धादराः[2],
केचिद्राजिगजोक्षयानरसिका धन्यास्तु धर्मे रताः ॥१॥

इत्थं द्वैविध्यमापन्नः स धर्मस्तत्रैको हि साधुधर्मो द्वितीयो गार्हस्थ्यधर्मश्च। तत्रापि निश्चलधर्ममूलं जीवदयैव। यश्चान्यो धर्मः सोऽपि तस्या एव विस्तारः। एवं च यो जीवदयाधर्मपरिपालनदक्षः स सर्वविरतिसाधुत्वपरिपालने रतिमीहते। किं च चारित्र्यमन्तरा दयापालनं सुरीत्या न संभवति। यश्च वै साधुधर्मपालनेऽशक्तः स पुमान् गार्हस्थ्यधर्मपरिपालनाय प्रावीण्यं लभते। सर्वधर्मापेक्षया केवलमेष एव समाराध्यो जीवदयाधर्मः। प्रमादमपहाय दयैव समाराधनीया। इत्यादि देशनां श्रुत्वा गुर्वन्तिके ससम्यक्त्वमणुव्रत-मग्रहीत्। अन्यान्यपि व्रतानि यथाशक्ति गृहीत्वा निजगृहमाजगाम. यथा निर्धनो जनो मन्दारद्रुमं लब्ध्वा हर्षवान् बोभवीति, तथा हरिबलोऽपि गार्हस्थ्यधर्मं लब्ध्वा हर्षवान् बोभवाम्बभूव[3]। सर्वस्व-विनाशकानि नरकप्रदानि च ससव्यसनानि निजदेशाद्बहिः कृतवान्, निजामृततुम्बाच्च बहून् रोगिणो नीरोगान् विहितवान्, इत्यादि बहुविधपुण्यानि विधाय न्यायनैपुण्यधर्मैकच्छत्रराज्यं हरिबलो-ऽपालयत्।

अथ व्यतीते कियति समये हरिबलो निजगुरुं पुनः सस्मार। गुरुरपि सुसमयं विज्ञाय काञ्चनपुरोद्याने समाजगाम। हरिबलोऽपि सपरिवारो वन्दनाय प्रतस्थे। वन्दित्वा चोचितस्थाने समुपविश्य देशनां शुश्राव। गुरुरप्युपदिशति-राजन्! त्वं जीवदयाप्रभावादेव सकलसमृद्धिकोभूतः, केवलं जीवोपकारादियत्फलं जातं। यच्च

1. पट्टराज्ञी। 2. शिकार। 3. भू यङ्लुप् परोक्ष।

त्वं जीवानुपकुर्यास्तर्हि मौक्तिकसुखं लभेथाः। सर्वजीवदयां कः परिपालयेत्, यश्चारित्रं पालयितुं शक्नुयात्। अतस्त्वयेदानीं यतिधर्मो ग्राह्यः येन मोहादिदुःखं विनाश्यात्मीयराज्यं लभस्व। गुरुवचः समाकर्ण्य परमवैराग्यवान् हरिबलो गृहमागत्य स्वराज्यं ज्येष्ठा-पत्याय दत्त्वा सत्रिस्त्रीको दीक्षया दीक्षितो बभूव। दीक्षितोऽहर्निशं दुष्करं तपः कृत्वा कर्माणि क्षिप्त्वा शाश्वतसुखमयं मोक्षं प्राप।

अतोऽयि भव्याः! जीवदयाविषये हरिबलचरित्रं लक्ष्यीकृत्य विशेषतो जीवदयापरिपालनोद्यतमानसा भवेयुरिति।

परम-पूज्य-व्याख्यान-वाचस्पति-आचार्यदेवेश
श्रीमद्-विजय-यतीन्द्रसूरीश्वरेण संदृब्धम्

॥ चरित्रसप्तकम् ॥

श्री रत्नसारचरित्रम्

श्री अघटकुमारचरित्रम्

श्री जगडूशाहचरित्रम्

श्री कयवन्नाचरित्रम्

श्री चम्पकमालाचरित्रम्

श्री बृहद्विद्वद्गोष्ठी

श्री हरिबलधीवरचरित्रम्

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222